आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि धनराज

मोक्ष-प्रकाश
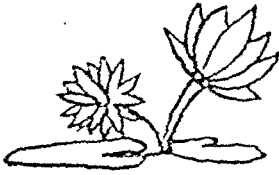
मूल्य • पांच रुपये पचास पैसे
प्रथम संस्करण • १९७१
प्रकाशक • कमलेश चतुर्वेदी
प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ,
चूरू (राजस्थान)
मुद्रक • भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

MOKSH-PRAKASH by Mun Dhanraj Rs. 5.50

भूमिका

मुमुक्षा (मुक्त होने की इच्छा) व्यक्ति की नैसर्गिक मनोवृत्ति है। वन्धन किसी भी व्यक्ति को इष्ट नहीं है। एक सुग्गा सोने के पिंजड़े में उतना प्रसन्न नहीं रहता, जितना मुक्त आकाश में स्वच्छंद विहार करता हुआ रहता है। हाथी सोने की सांकल को पसन्द नहीं करता, वह निरन्तर जंगल में स्वतन्त्र विहार की इच्छा करता है। जिसमें चेतनाका थोड़ा भी विकास है, वह हर प्राणी स्वतन्त्रता को सर्वोपरि महत्त्व देता है।

मोक्ष का अर्थ है—व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता की अनुभूति में जो आनन्द है, उसकी चरम परिणति ही मोक्ष है।

प्रस्तुत पुस्तक में मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जैन-दर्शन में आत्मा और मोक्ष पर विशद विवेचन मिलता है। यदि जैन आगम-सूत्रों में से मोक्ष को निकाल दिया जाए तो उनका केन्द्र ही विनष्ट हो जाए।

प्रस्तुत पुस्तक में वारह पुञ्ज हैं। इनमें विद्वान् लेखक ने मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों का सुन्दर संकलन किया है। आस्रव मोक्ष का बाधक तत्त्व है। संवर और निर्जरा उसके साधक तत्त्व हैं। आस्रव के द्वारा जीव वद्ध और संवर निर्जरा के द्वारा मुक्त होता है।

आत्मस्वरूप की दृष्टि से सव जीव समान होते हैं। किन्तु उनका स्वरूप कर्म से आवृत, मूर्च्छित और प्रतिहत होता है इसलिए वह समान रूप से प्रकट नहीं होता। जिनके कर्म-पुद्गल का संचय अधिक होता है,

उनके चैतन्योदय अल्प होता है और जिनमें कर्म-पुद्गल का संचय कम होता है, उनके चैतन्योदय अधिक होता है।

आत्मा के तारतम्य और पारस्परिक भिन्नता को जानने के लिए कर्म-विषयक अध्ययन बहुत आवश्यक है। लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ कर्म-शास्त्रीय विषय से ही किया है। कर्म के विषय में लोगों की बहुत कम जानकारी है। इसलिए वे अनेक विषयों में उलझ जाते हैं। कर्मशास्त्र का विषय बहुत गहरा है। उसका गम्भीर अध्ययन आवश्यक होते हुए भी सर्व-सुलभ प्रतीत नहीं होता। किन्तु उसकी प्रारम्भिक जानकारी सबके लिए आवश्यक है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्व साधारण के उपयोगी कर्म-सिद्धान्तों की जानकारी है।

आचार्यप्रवर श्री तुलसी द्वारा रचित 'जैनसिद्धान्तदीपिका' की खण्डशः व्याख्या करना लेखक का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे प्रस्तुत ग्रन्थ से पूर्व ज्ञानप्रकाश, लोकप्रकाश आदि कई ग्रन्थ लिख चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी शृंखला की एक कड़ी है। इस ग्रन्थ के लेखन में लेखक ने पर्याप्त परिश्रम किया है और वे अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं।

लेखक का नाम मुनिश्री धनराजजी है। वे तेरापंथ धर्म-संघ के सुपरिचित बहुश्रुत मुनि हैं। वे परिश्रम, दृढ़-अध्यवसाय, तत्त्वरुचि और सरलता-प्रेमी हैं। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत ही सीधी-सरल भाषा में लिखा है। यह किशोर बालकों और सरल हिन्दी जानने वाले प्रौढ़ों के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ मोक्ष के बारे में जिज्ञासा रखने वाले अन्य पाठकों के लिए भी उपयोगी है।

२१ अक्तूबर, १९७१ — मुनि नथमल

लाडनूं

आदि कथन

विक्रम सम्वत् २००९ की सर्दियों में महोत्सव से पूर्व आचार्यश्री तुलसी श्री डूंगरगढ़ विराज रहे थे। वहां रात के समय साधु-श्रावकों केसमूह में तात्त्विक चर्चा चलती थी। एक दिन जैनसिद्धान्तदीपिका के हिन्दी अनुवाद की बात चली। सहज भाव से मैंने कहा—यह केवल अक्षरानुवाद हुआ है, यदि इसे कुछ विस्तृत करके सरल भाषा में तत्त्व का विवेचन किया जाता तो यह सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होता। आचार्यश्री ने मुसकराकर फरमाया कि यह कार्य आप कर सकते हैं क्योंकि आपकी भाषा विशेष सरल है। वातावरण कुछ विनोदमय था, अतः मैंने भी उसी रूप में निवेदन कर दिया कि मैं क्या करूं, अपने इन विद्वान् साधुओं (नथमलजी, बुद्धमल्लजी आदि) से करवाइए।

वि० सं० २०१६ में हम (मैं और मुनिश्री डूंगरमलजी) दो सिंघाड़े लुधियाना (पंजाब) में ठहरे हुए थे। वहां तात्त्विक जैन साहित्य लिखने के सम्बन्ध में एक दिन चर्चा चली एवं मुझे श्री डूंगरगढ़वाली बात याद आ गई। मैंने जैनसिद्धान्तदीपिका की हिन्दी टीका लिखने का प्रस्ताव रखा। मुनिश्री डूंगरमलजी ने समर्थन किया। लेकिन लुधियाना में सहायक सामग्री (आगम एवं ग्रन्थ) उपलब्ध न हुई, फिर यह भी विचार हुआ कि सिद्धान्तदीपिका की टीका न लिखकर उसमें वर्णित विभिन्न विषयों को भिन्न-भिन्न पुस्तकों के रूप में लिखकर तत्तद् विषयों का प्रतिपादन किया

जाय तो ठीक। काफी चिन्तन के वाद उक्त विचार स्थिर हुआ एवं मैंने सर्वप्रथम लोकप्रकाश लिखा। फिर क्रमशः मनोविग्रह के दो मार्ग, ज्ञानप्रकाश, चरित्रप्रकाश और श्रावकधर्मप्रकाश का निर्माण किया। उक्त पुस्तकों में लोक-सृष्टि, स्वाध्याय-ध्यान, ज्ञान, साधुधर्म तथा श्रावकधर्म का सांगोपांग विवेचन हुआ। मेरी कल्पना के अनुसार अभी दर्शनप्रकाश एवं मोक्षप्रकाश दो पुस्तकों की रचना अवशिष्ट थी।

मोक्षप्रकाश का निर्माण क्यों ?

आज विश्व में दो प्रकार के प्राणी हैं—आस्तिक और नास्तिक।

जो पुण्य-पाप एवं आत्मा-परमात्मा को मानते हैं, वे (चाहे जैन हैं, वैष्णव हैं, शैव हैं, वौद्ध हैं, पारसी हैं, ईसाई हैं या मुसलमान हैं) सव आस्तिक हैं, और जो इनको नहीं मानते वे नास्तिक हैं। नास्तिकों का कहना है कि **जहां तक जीना हो, सुख से जीओ ! ऋण करके भी घृत पीते रहो। क्योंकि भस्मीभूत यह शरीर दुवारा तो मिलता नहीं।**[1] उनकी मान्यता है कि शरीर से भिन्न जीव नाम का कोई द्रव्य नहीं है, न पुण्य-पाप रूप कर्म हैं, न उनके फलस्वरूप स्वर्ग और नरक हैं, और न ही उनके सर्वथा नाशरूप मुक्ति नाम का कोई पदार्थ है। जव ये सव चीजें हैं ही नहीं, तव फिर धर्म-अधर्म के अस्तित्व का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ?[2] अस्तु, नास्तिकों को चाहे पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, वन्ध-मोक्ष के ज्ञान की आवश्यकता न हो लेकिन आस्तिक दर्शनों के लिए इन सवको समझकर कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करना परम आवश्यक है, क्योंकि उनका अन्तिम ध्येय केवल एक मोक्ष होता है। देखिए—

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता **कणादऋषि** अपनी प्रमेय-चर्चा करने से पहले उस विद्या को **मोक्षसाधिका** मानकर ही प्रवृत्त होते हैं।[3] न्याय के सूत्रधार

---

१. वृहस्पति (नास्तिक मत के संस्थापक)

२. षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ८० के आधार से।

३. कणादसूत्र २।१।४

गोतमऋषि प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मानकर ही उसका वर्णन करते हैं।[1] **सांख्यनिरूपक** भी **मोक्ष के उपाय भूत ज्ञान** की पूर्ति के लिए ही अपनी **विश्वोत्पत्ति विद्या** का वर्णन करते हैं।[2] **ब्रह्ममीमांसक** के ब्रह्म और जगत् के विषय का निरूपण मोक्ष के लिए ही है। **योगदर्शन** में योगक्रिया एवं प्रासंगिक दूसरी वावतों में भी केवल मोक्ष का ही उद्देश्य है। **भक्तिमार्गियों** के शास्त्रों में भी जीव, जगत् और ईश्वर का जो वर्णन है, वह भक्ति द्वारा आखिर **मोक्ष प्राप्त करने के लिए** ही है। **बौद्धदर्शन** के क्षणिकवाद का चार आर्यसत्यों में समाहित हो सकने वाले आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक विषय के निरूपण का ध्येय भी **मोक्ष** ही है, तथा **जैनदर्शन** के शास्त्र भी मोक्षमार्ग का अवलम्वन लेकर ही रचे गए हैं, जिनमें उत्तराध्ययन का अट्ठाईसवां अध्ययन तो खास करके मोक्षमार्ग का ही आभारी है।

यद्यपि सभी आस्तिक किसी न किसी रूप में मोक्ष की रटना लगा रहे हैं, किन्तु मोक्ष क्या है, किसको मिलता है, कैसे मिलता है एवं इसके निमित्त क्या करना चाहिए; इत्यादि वातों को समझने वाले व्यक्ति विरले ही हैं। जव तक इन वातों का सही ज्ञान न होगा, जीव मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कैसे करेगा? अतः सर्वप्रथम मोक्षविषयक जानकारी वहुत जरूरी है। मोक्षतत्त्व पर प्रकाश डालनेवाले अनेक आगम एवं ग्रन्थ उपलब्ध हैं लेकिन विशालकाय एवं सूक्ष्मविवेचनयुक्त होने के कारण आज के युग में उनका तत्त्व समझकर लाभ उठाना सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन है। इस वात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से मुझे अपनी सीधी-सादी भाषा में मोक्षसम्वन्वी विषयों पर यत्किंचित् प्रकाश डालना आवश्यक लगा एवं मैं सहायक सामग्री के अन्वेषण में अग्रसर हुआ।

इधर आचार्यश्री दक्षिण-यात्रा में प्रवृत्त होने के कारण मेरा विहार

---

१. न्यायसूत्र २।२।१

२. ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका, २

तीन वर्षों से हरियाणा प्रान्त में होता रहा। पहला चातुर्मास टोहाना एवं दूसरा चातुर्मास हांसी हुआ, तीसरा चातुर्मास सिरसा होने जा रहा है। हांसी चातुर्मास के बाद ऊमरा, जमालपुर, बवानीखेड़ा, तोशाम आदि क्षेत्रों में विचरते हुए कारणवश भिवानी जाना हुआ। यद्यपि थोड़े दिनों के लिए गए थे, लेकिन शारीरिक अस्वस्थता के कारण वहां बिना चौमासे ही चौमासा हो गया अर्थात् पूरे चार मास तक ठहरना पड़ा। स्थानीय पुस्तकालय में आगम और आगमानुगामिग्रन्थों का उपयोगी-संग्रह देखकर मैंने **मोक्ष-प्रकाश** लिखना शुरू किया एवं दृढ़ संकल्प के कारण आशातीत सफलता मिली यानी स्वल्प समय में ही उक्त ग्रन्थ सम्पन्न हो गया।

मोक्षप्रकाश का क्रम

मोक्ष-प्रकाश में बारह पुन्ज, अर्थात् अध्याय हैं। मोक्ष कर्मों का होता है अतः पहले छह पुन्जों में मुख्यतया कर्मों का वर्णन है। सर्वप्रथम कर्म क्या है, कर्मवाद क्या कहता है, कर्म जीव के साथ कब जुड़े थे, वे सुख-दुःख कैसे देते हैं, आदि-आदि जिज्ञासाएं की गई हैं। उसके बाद कर्मों की बन्ध आदि दस अवस्थाएं, आठ मूलप्रकृतियां, १४८ उत्तरप्रकृतियां, उनका सरल अर्थ, स्थिति, बन्ध-कारण एवं अनुभागों का विवेचन है। अन्त में पुण्य-पाप का विस्तार और ध्रुवबन्धिनी-जीवविपाकिनी आदि कर्म-प्रकृतियों का दिग्दर्शन है।

सातवें पुन्ज में कर्मग्रहण के हेतुभूत आस्रव का विवेचन है। उसमें आस्रव का स्वरूप कर्मआस्रव की भिन्नता, आस्रव के ४-५-२० तथा ४२ भेद समझाकर अन्त में आस्रव से सम्बन्धित अनेक प्रश्न पूछे गए हैं।

आठवें पुन्ज में आस्रव विरोधी-संवर तत्त्व का विश्लेषण है। उसमें संवर के ५-२० तथा ५७ भेद करके ध्यानपूर्वक पढ़कर मनन करने योग्य सम्यक्त्व का सांगोपांग वर्णन किया गया है तथा अन्त में पुद्‌गलपरावर्तन, पल्योपम-सागरोपम, संख्यात-असंख्यात एवं अनन्त का चमत्कारी हिसाब बतलाया गया है।

नौवें, दसवें, ग्यारहवें पुञ्जों में, निर्जरातत्त्व का विवरण है। उसमें निर्जरा की परिभाषा, अकाम-सकाम रूप-भेद तथा बारह प्रकार के तप का विचित्र एवं विस्तृत ज्ञान निहित है।

बारहवें पुञ्ज में मोक्ष का वर्णन है। उसमें मुक्त आत्मा का स्वरूप, सिद्धों के १५ भेद, सिद्धशिला का स्वरूप, सिद्धों के ८ तथा ३१ गुण मोक्ष-प्राप्ति में स्वभावादि आवश्यक, चौदह गुणस्थानों का विस्तार तथा आठ एवं तीन आत्माओं का विवेचन है। यथासम्भव सतर्क रहने पर भी **गच्छतः स्खलनं क्वापि** की उक्ति के अनुसार छद्मस्थतावश क्वचित् वीतरागवाणी के विरुद्ध लिख दिया गया हो तो उन्हीं वीतराग भगवान् की साक्षी से **मिच्छामिदुक्कडं** बोलता हुआ मैं स्वाध्याय-प्रेमी पाठकों से निवेदन करता हूं कि इस **मोक्षप्रकाश** ग्रन्थ का ध्यानपूर्वक पठन-मनन करते हुए वे कर्म-विज्ञान के विशेषज्ञ बनें एवं वीतरागोक्त विधि-अनुसार कर्मों का क्षय करके शाश्वत मोक्षसुखों का अनुभव करें। बस, इसी मंगल-कामना के साथ—

सं० २०२६ आषाढ़ द्वितीय शुक्ला १०
बृहस्पतिवार
सिरसा (हरियाणा)

धनमुनि (प्रथम)

प्रश्न-क्रम

पहला पुञ्ज

दूसरा पुञ्ज

तीसरा पुञ्ज

चौथा पुञ्ज

पांचवां पुञ्ज

छठा पुञ्ज

सातवां पुञ्ज

आठवां पुञ्ज

नौवां पुञ्ज

दसवां पुञ्ज

ग्यारहवां पुञ्ज

बारहवां पुञ्ज

मोक्ष-प्रकाश

पहला पुञ्ज

प्रश्न १—यदि सब जीव स्वभाव से समान हैं तो फिर एक राजा और एक रंक क्यों? एक मूर्ख और एक विद्वान क्यों? एक जागृत और एक निद्रालु क्यों? एक रोगी और एक नीरोग क्यों? एक तीव्रकषायी और एक मन्दकषायी क्यों? एक हास्य, भय, शोक एवं विषय-वासना में अनुरक्त और एक इन सबसे विरक्त क्यों? एक यशस्वी और एक अपयश का पात्र क्यों? एक मनुष्य और गधा-घोड़ा क्यों? एक महाजन और एक हरिजन क्यों?

अगर जीव नित्य है तो मरता क्यों है? अगर जीव का स्वरूप शुद्धज्ञान है तो वह अज्ञान के घेरे में क्यों भटक रहा है? अगर वह अमूर्त है तो इस मूर्त पिंजरे (शरीर) में क्यों फंसा पड़ा है?

उत्तर—विश्व में एक ऐसी विचित्र शक्ति है, जो शुद्ध और स्वतन्त्र आत्मा को विवश बनाकर नाना प्रकार से नचा रही है एवं चारगति—चौरासीलाख जीवयोनि में भटका कर हैरान कर रही है। वह शक्ति वेदान्तदर्शन में माया या अविद्या, सांख्यदर्शन में प्रकृति और वैशेषिक-दर्शन में अदृष्ट नाम से स्वीकार की गई है। जैनदर्शन उसे कर्म कहता है। प्रत्येक दर्शन में उस शक्ति का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का है लेकिन जैन-दर्शन में कर्मों का जैसा सांगोपांग एवं तर्कसंगत विवेचन है, वैसा दूसरी जगह प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसके अध्ययन से जड़-चेतन जगत के विविध परिवर्तन-सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्नों का उत्तर हमें यहां सहज में मिल जाता है। भाग्य और पुरुषार्थ का यहां सुन्दर समन्वय है तथा विकास के लिए इसमें विशाल क्षेत्र है। कर्मवाद जीवन में आशा एवं स्फूर्ति का संचार करता है और उन्नतिपथ पर चढ़ने के लिए अनुपम उत्साह भरता है। कर्मवाद पर पूर्ण विश्वास होने के बाद सुख-दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते।

कर्म क्या है? आत्मा के साथ वह कैसे बंधता है और उसके कारण कौन-कौन से हैं? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगे रहते हैं? आत्मा से सम्बद्ध होकर भी कर्म कितने काल तक फल नहीं देते? विपाक का नियत समय बदल सकता है या नहीं? यदि बदल सकता है तो उसके लिए कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं? आत्मा कर्म का कर्त्ता और भोक्ता किस तरह है? संक्लेश-परिणाम से आकृष्ट होकर कर्मरज आत्मा के साथ कैसे लग जाती है और आत्मा वीर्य-शक्ति से किस प्रकार उसे हटा देता है? विकासोन्मुख आत्मा जब परमात्मभाव प्रकट करने के लिए उत्सुक होता है, तब उसके और कर्म के बीच कैसा अन्तर्द्वन्द्व होता है? समर्थ आत्मा कर्मों को शक्तिशून्य करके किस प्रकार अपना प्रगति-मार्ग निष्कण्टक बनाता है और आगे बढ़ते हुए कर्मों के पहाड़ों को किस तरह चूर-चूर कर देता है? पूर्णविकास के समीप पहुंचे हुए आत्मा को भी शान्त हुए कर्म पुनः किस प्रकार दबा लेते हैं? कर्मविषयक ऐसे सभी प्रश्नों के सन्तोषप्रद उत्तर जैनसिद्धान्त देता है। यही उसकी एक बड़ी विशेषता है।

कर्मवाद बताता है कि आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमानेवाला कर्म ही है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का यही एक प्रधान कारण है। हमारी वर्तमान अवस्था किसी बाह्य-शक्ति से मिली हुई नहीं है। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म में किए हुए हमारे कर्मों का ही फल है।

कर्मवाद का मन्तव्य है कि आत्मा किसी रहस्यपूर्ण-शक्तिशाली व्यक्ति (ईश्वर) की शक्ति और इच्छा के अधीन नहीं है। संसार की सभी आत्माएं एक जैसी हैं और सभी में एक जैसी शक्तियां हैं। चेतन-जगत में जो भेदभाव दिखाई देता है, वह शक्तियों के न्यूनाधिक विकास के कारण से है। कर्मवाद के अनुसार विकास की चरमसीमा को प्राप्त-व्यक्ति **परमात्मा** है। हमारी शक्तियां कर्मों से आवृत हैं—अविकसित हैं किन्तु आत्मवल द्वारा कर्मों के आवरण को दूर कर इन शक्तियों का विकास किया जा सकता है एवं परमात्मा वना जा सकता है। जीवन की विघ्न-वाधाओं से घवराकर कई लोग धर्म-कर्म को भूल बैठते हैं, वाह्य कारणों को मुख्य मानकर उनसे लड़ने-झगड़ने लगते हैं—उन्हें कर्मसिद्धान्त समझाता है कि जैसे वृक्ष का मूल कारण वीज है एवं पृथ्वी-पानी-वायु आदि उसके निमित्त मात्र हैं, उसी प्रकार दुःख का वीज स्वकृत-कर्म है, वाह्य सामग्री तो केवल निमित्त कारण है अतः अपने दुःख के लिए दूसरों को दोषी नहीं ठहराना चाहिए।

प्रश्न २—पूर्वकृत कर्मानुसार जीव सुख-दुःख पाता है, सौ प्रयत्न करने पर भी कृतकर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता। क्या कर्मवाद का यह मन्तव्य आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता?

उत्तर—यह सत्य है कि अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है, वह वापस नहीं लौटाया जा सकता। पर जिस प्रकार सामने से वेगपूर्वक आता हुआ दूसरा पत्थर पहलेवाले से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उसकी दिशा वदल देता है, ठीक उसी प्रकार किए हुए शुभाशुभ कर्म आत्मपरिणामों द्वारा न्यून या अधिक शक्तिवाले हो जाते हैं, दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और कभी-कभी निष्फल भी हो जाते हैं।

जैनसिद्धान्त में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन है—उनमें एक निकाचित-अवस्था ही ऐसी है, जिसमें कर्मानुसार अवश्य फल भोगना

पड़ता है। शेष अवस्थाएं आत्मपरिणामानुसार परिवर्तनशील हैं। जैन-कर्मवाद का मन्तव्य है कि प्रयत्न-विशेष से आत्मा कर्म की प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को वदल देता है। एक कर्मप्रकृति दूसरी सजातीय-कर्मप्रकृति के रूप में वदल जाती है, लम्वी स्थितिवाले कर्म छोटी स्थिति में और तीव्र रसवाले कर्म मन्दरस में परिणत हो जाते हैं। कई कर्मों का वेदन विपाक से न होकर केवल प्रदेशों से ही हो जाता है। कर्म सम्वन्धी उक्त वातें आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करतीं वल्कि पुरुपार्थ के लिए प्रेरित करती हैं। पुरुषार्थ करने पर भी सफलता प्राप्त न हो, वहां कर्म की प्रवलता समझकर धैर्य रखना चाहिए।[1]

प्रश्न ३——कर्म जीव के साथ कव जुड़े थे ?

उत्तर—कर्म और जीव दोनों अनादि हैं। संसार में जिस किसी भी समय जीव थे, उस समय कर्म अवश्य थे क्योंकि कर्मों के विना जीव संसार में नहीं ठहर सकते।

जीवों से पहले कर्मों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि कर्मों को जीव ही करते हैं एवं जीवों की अच्छी-वुरी भावना द्वारा खींचे जाने पर ही पुद्गलों की कर्म संज्ञा होती है, उससे पहले वे पुद्गल ही कहलाते हैं।

जीव और कर्म की उत्पत्ति एक साथ भी नहीं कही जा सकती क्योंकि इनको उत्पन्न करनेवाला ईश्वरादि कोई नहीं है। जो कहा जाता है कि इस चराचर जगत को ईश्वर ने पैदा किया, यह केवल अज्ञानपूर्ण कल्पना है। जैनसिद्धान्त के अनुसार संसार अनादि-अनन्त है, सदा था और सदा रहेगा।

जीवों को कर्मरहित भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि जीव कर्मरहित

---

१. ये दोनों प्रश्न विशेपावश्यक-भाष्य, अग्निभूतिगणधरवाद गा० १६०६—४४, तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य, अध्याय ८, कर्मग्रन्थ भा० १, भगवती ८।९।३५१, भगवती १।४, उत्तरा ३३, प्रज्ञापना २३ तथा द्रव्यलोक प्रकाश १० के आधार से लिखे गए हैं।

हों तो त्याग-तपस्या आदि करने की कौन चेष्टा करे—कर्मों से मुक्ति पाने के लिए ही तो व्रत-प्रत्याख्यान आदि किए जाते हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यह मान लेना चाहिए कि अपश्चानुपूर्वी (पीछे भी नहीं—पहले भी नहीं)—अनादिकाल से जीव-कर्म का सम्बन्ध चला आ रहा है अर्थात् तिल और तेल, दूध और घी तथा धातु और मिट्टी के सम्बन्धों की तरह जीव-कर्म का सम्बन्ध भी सदा काल से विद्यमान है। जैसे—घानी (कोल्हू), मथानी और अग्नि आदि के प्रयोग से तेल-खल, घृत-छाछ और धातु-मिट्टी अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार त्याग-तपस्यादि धार्मिक क्रियाओं द्वारा जीव और कर्म भी अलग हो जाते हैं यानी कर्मों से मुक्त होकर जीव मोक्ष चले जाते हैं एवं कर्म पुद्गल रूप में यहीं रह जाते हैं।[1]

प्रश्न ४—कर्म क्या चीज़ है ?

उत्तर—पुद्गल-द्रव्य की अनेक जातियां-समूह हैं, जिन्हें जैनशास्त्रों की भाषा में वर्गणा कहते हैं, उनमें एक कार्मणवर्गणा भी है। बस, वही कर्मद्रव्य है। कार्मणवर्गणा समूचे लोक में सूक्ष्मरज के रूप में व्याप्त है। वे ही सूक्ष्म रजकण मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय एवं योग के द्वारा आकृष्ट होकर जब जीव के साथ जुड़ जाते हैं, तब कर्म कहलाने लगते हैं। अधिक सरल भाषा में कहें तो इस प्रकार कह दें कि[2] आत्मा की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होनेवाले पुद्गल कर्म हैं। कर्मपुद्गल इतने सूक्ष्म हैं कि इन्हें चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा कोई नहीं देख सकता, मात्र केवलज्ञानी या विशेषअवधिज्ञानी मुनि ही अपने ज्ञान-बल से देख सकते हैं[3]। पुद्गलरूप होने से कर्म जड़—अजीव होते हैं।

प्रश्न ५—वर्गणा को जरा विस्तार से समझाइए !

---

१. भिक्षुस्वामी-कृत तेरहद्वार द्वार २ के आधार से।

२. जैनसिद्धान्तदीपिका ४।१

३. कर्मग्रन्थ भा० १ गाथा १ की व्याख्या

उत्तर—समानजाति वाले पुद्गल-परमाणुओं के समूह को **वर्गणा** कहते हैं। पुद्गल का स्वरूप समझाने के लिए अनन्तानन्त परमाणुओं को भगवान ने आठ विभागों में बांट दिया है। बस, वे ही आठ विभाग आठ वर्गणाएं कहलाती हैं। यथा—(१) औदारिकवर्गणा, (२) वैक्रिय-वर्गणा, (३) आहारकवर्गणा, (४) तैजसवर्गणा, (५) भाषावर्गणा, (६) श्वासोच्छ्वासवर्गणा, (७) मनोवर्गणा, (८) कार्मणवर्गणा।

१. जो पुद्गल-परमाणु औदारिकशरीर के रूप में परिणत होते हैं अर्थात् जिनसे औदारिकशरीर बनता है, उन पुद्गलों के समूहों को **औदा-रिकवर्गणा** कहते हैं।

२. वैक्रियशरीर के रूप में परिणत होने योग्य परमाणु-पुद्गलों के समूह को **वैक्रियवर्गणा** कहते हैं।

३. आहारकशरीर के रूप में परिणत होने योग्य परमाणु-पुद्गलों का समूह **आहारकवर्गणा** है।

४. तैजसशरीर के रूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों का समूह **तैजसवर्गणा** है।

५. भाषा अर्थात् शब्द के रूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों का समूह **भाषावर्गणा** है।

६. श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों का समूह **श्वासोच्छ्वासवर्गणा** है।

७. मन के रूप में परिणत होने योग्य परमाणु-पुद्गलों का समूह **मनोवर्गणा** है।

८. कर्म के रूप में परिणत होने योग्य परमाणु पुद्गलों का समूह **कार्मणवर्गणा** है।

इन वर्गणाओं में औदारिक की अपेक्षा वैक्रियक तथा वैक्रियक की अपेक्षा आहारक—इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्म और बहुप्रदेशी है अर्थात् औदारिकवर्गणा के पुद्गल सर्वाधिक-स्थूल एवं अल्पप्रदेशी हैं यावत् कार्मणवर्गणा के पुद्गल सर्वाधिक-सूक्ष्म एवं बहुप्रदेशी हैं।

पुद्गलों के आठ विभाग क्यों किए गए ?—इसे समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया गया है। जैसे—**कुचिकर्ण** सेठ के पास बहुत अधिक मात्रा में गौएं थीं। उसने हज़ार-दो हज़ार यावत् दस-दस हज़ार गौओं के यूथ बनाकर ग्वालों को सौंप दीं। गौएँ चरती-चरती आपस में मिल जातीं एवं ग्वाले न पहचान सकने के कारण परस्पर लड़ने-झगड़ने लगते। इस कलह को दूर करने के लिए सेठ ने सफेद, काली, लाल, कबरी आदि अलग-अलग रंग की गौओं के अलग-अलग यूथ बना दिए एवं ग्वालों का कलह मिट गया। क्योंकि भिन्न-भिन्न रंग के यूथ होने के कारण ग्वालों को गौओं की पहचान करने में सुविधा हो गई। इसी प्रकार सेठ के तुल्य तीर्थंकर भगवान ने ग्वालरूप अपने शिष्यों को पुद्गल-परमाणुओं का स्वरूप अच्छी तरह समझाने के लिए उन्हें आठ वर्गणाओं में विभाजित किया है।[1]

प्रश्न ६—कार्मणवर्गणा के पुद्गल चतुःस्पर्शी होते हैं या अष्टस्पर्शी ?

उत्तर—जैनशास्त्रों में आठ स्पर्श माने गए हैं—१. कर्कश, २. मृदु, ३. लघु, ४. गुरु, ५. स्निग्ध, ६. रूक्ष, ७. उष्ण, ८. शीत। जिन पुद्गल-स्कन्धों में ये आठों स्पर्श होते हैं वे **अष्टस्पर्शी** कहलाते हैं। कर्म के पुद्गल अतिसूक्ष्म होने से उनमें अन्तिम चार ही स्पर्श होते हैं अतः वे **चतुःस्पर्शी** माने जाते हैं। कर्मपुद्गलों की तरह मन, भाषा और श्वासोच्छ्वास के पुद्गल भी चतुःस्पर्शी होते हैं (स्निग्धादि ४ स्पर्शमूल हैं एवं कर्कशादि ४ स्पर्श इनके संयोग से बनते हैं)।

प्रश्न ७—कर्मपुद्गलरूप होने से मूर्त्तिमान्-रूपी हैं, तो फिर अरूपी-आत्मा के साथ कैसे बंधते हैं ?

उत्तर—संसारी आत्मा के प्रत्येक आत्मप्रदेशों पर अनादिकाल से अनन्तानन्त-कर्मवर्गणा के पुद्गल कार्मणशरीर के रूप में सदा चिपके रहते हैं। वास्तव में कर्मपुद्गलों के अस्तित्व में ही नये कर्मों का ग्रहण

---

१. विशेषावश्यक-भाष्य गाथा ६३१-६३७ एवं निर्युक्त गाथा ३८-३९

होता है। सिद्ध भगवान के कार्मणशरीर नहीं है अतः इनके कर्मों का बन्धन भी नहीं होता।

प्रश्न ८—यदि कर्म जड़ है तो फिर वे जीव को सुख-दुःख रूप फल कैसे देते हैं ?

उत्तर—जैसे जड़ शराव व्यक्ति को मदोन्मत्त बनाती है, घी-दूध पुष्ट बनाते हैं, ज़हर मार डालता है, अमृत बेहोश को होश में ला देता है, उसी प्रकार जड़ कर्म भी राग-द्वेषात्मक भाव द्वारा आत्मा के साथ जुड़ कर उसे सुखी-दुःखी बनाकर संसार में भटका देते हैं।

प्रश्न ९—क्षण भर के लिए मान लिया जाए कि कृतकर्म शुभाशुभ फल देते हैं किन्तु यहां प्रश्न होता है कि जीव तो चेतन है अतः वह कर्मों का सुखरूप फल तो सहर्ष ले लेगा, लेकिन जान-बूझकर दुःखरूप अशुभफल कैसे लेगा ?

उत्तर—देने-लेने की कुछ बात नहीं है। शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार जीवों की बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिस से वे अच्छा या बुरा काम कर बैठते हैं—फलस्वरूप दुःखी या सुखी अपने-आप बन जाते हैं। जैसे—ज्ञानावरणीयकर्म का उदय होता है, छात्र खेल-कूद व गप्पों में वक्त खो देता है, पाठ याद नहीं होता एवं वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है। दर्शनावरणीयकर्म का उदय होता है, मनुष्य दही, रावड़ी आदि अधिक मात्रा में खा लेता है और नींद तंग करने लगती है। असातावेदनीय कर्म का उदय होता है, सर्दी में सोया जाता है एवं व्यक्ति ज्वर से पीड़ित हो जाता है। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उदय होता है, मनुष्य पाखण्डियों का संपर्क करने लगता है एवं बहकावे में आकर तात्त्विक विषय में शङ्काशील बन जाता है। नरकायुकर्म का उदय होता है, जीव महारम्भ-महापरिग्रह में आसक्त हो जाता है एवं मर कर नरक में चला जाता है। अयशः-कीर्ति-नामकर्म का उदय होता है, व्यक्ति बिना सोचे-विचारे काम कर लेता है, जिससे बदनामी हो जाती है। नीचगोत्रकर्म का उदय होता है, जीव

उच्चकुल का होकर भी मैतार्य या करकण्डू की तरह हीन-कुल में चला जाता है एवं कुलहीन कहलाने लगता है तथा लाभान्तराय कर्म का उदय होता है, मनुष्य माल लेने-बेचने में गलती कर बैठता है और लाभ के बदले नुकसान हो जाता है। (शुभकर्म के उदाहरण भी इसी प्रकार अपनी बुद्धि से बना लेने चाहिए।)

प्रश्न १०—हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि माला-चन्दन-स्त्री आदि सुख के कारण हैं और विष-कण्टक आदि दुःख के कारण हैं। फिर यह क्यों माना जाय कि सुख-दुःख के कारण पूर्वकृत-कर्म हैं ?

उत्तर—समान-सामग्री प्राप्त एवं समान उद्यम करनेवाले पुरुष को भी सुख-दुःख की प्राप्ति में अन्तर दिखाई देता है। जैसे—समान पूंजी लगाकर दो व्यक्ति व्यापार करते हैं। एक लाभ कमाता है और दूसरा नुकसान उठाता है। बराबर परिश्रम करने वाले दो विद्यार्थी एक साथ पढ़ते हैं। एक उत्तीर्ण एवं दूसरा अनुत्तीर्ण होता है। एक ही माता के उदर से एक साथ जन्म पाए हुए, एक ही परिस्थिति में पले हुए दो बालकों में, एक राजा—दूसरा रङ्क, एक सुरूप—दूसरा कुरूप, एक बलवान—दूसरा निर्बल, एक विद्वान—दूसरा मूर्ख देखा जाता है—यह अन्तर क्यों ? इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने पर मालूम होता है कि बाह्य-सामग्री समान होने पर भी अन्तर कारण में भिन्नता है। बस, वह अन्तर कारण कर्म ही है। जिस प्राणी ने जैसा शुभ-अशुभ कर्म का संचय किया है, उसी प्रकार वह यहां सुख-दुःख का भागी बनता है।

प्रश्न ११—कर्म आत्मा को पराधीन क्यों बनाते हैं ?

उत्तर—आत्मा चेतन है और कर्म जड़ हैं, विरोधी होने के कारण—ये आत्मा को विकारी बनाकर पराधीन कर देते हैं। आत्मा परपदार्थों का उपभोग करता हुआ राग-द्वेष के कारण किसी को सुखरूप और किसी को दुःखरूप मानता है। बस, यह राग-द्वेष की वृत्ति ही वास्तव में कर्म-

बन्ध का कारण है। कर्म दो प्रकार के हैं[1]—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म कर्मवर्गणाओं का सूक्ष्म विकार है और भावकर्म राग-द्वेषात्मक परिणाम है। द्रव्यकर्म से भावकर्म की और भावकर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। तत्त्व यह है कि पूर्वबद्ध-द्रव्यकर्म जब अपना फल दिखाते हैं, तब आत्मा के भावकर्म अर्थात् राग-द्वेषात्मक परिणाम उत्पन्न होते हैं और उन परिणामों से पुनः द्रव्यकर्म बंध जाते हैं। बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की तरह इनका उत्पत्ति-क्रम अनादिकाल से चल रहा है।

प्रश्न, १२—आत्मा स्वतन्त्र है या कर्मों के अधीन ?

उत्तर—कर्म बांधने में आत्मा स्वतन्त्र है और उनका फल भोगने में परतन्त्र है। जैसे—व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ तो स्वतन्त्रता से जाता है लेकिन प्रमादवश गिर जाए तो गिरते समय परतन्त्र हो जाता है[2]। इसी प्रकार वह विष खाते एवं मद्य पीते समय स्वतन्त्र है किन्तु मूर्च्छित एवं पागल हो जाने पर परतन्त्रता का अनुभव करता है। कर्मफल भोगने में जीव की परतन्त्रता भी किसी एक अपेक्षा से है। काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर जीव कर्मों को पछाड़ भी देता है और कभी-कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब भी जाता है[3]। अतः यह मानना चाहिए कि कहीं जीव कर्मों के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन हैं।

वास्तव में कर्म दो प्रकार के हैं[4]—सोपक्रम और निरुपक्रम। जो प्रयत्न द्वारा शान्त हो जाए वह सोपक्रमकर्म है और जो प्रयत्न करने पर भी नहीं टलता, बन्ध के अनुसार ही फल देता है, वह निरूपक्रमकर्म है। इन्हें दूसरे शब्दों में दलिककर्म एवं निकाचितकर्म भी कह सकते हैं। हां तो! निकाचितकर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन है और दलिककर्म की अपेक्षा दोनों बातें हैं—प्रयत्न करने पर कर्म जीव के अधीन हो जाते हैं

---

१. कर्मग्रन्थ भा० १ गाथा १ तथा भूमिका

२. विशेषावश्यक-भाष्य वृत्ति १।३

३. गणधरवाद २।२५

४. विपाक ३ सूत्र २० टीका

अन्यथा वह कर्म के अधीन हो जाता है।

प्रश्न १३—कर्मों की कितनी अवस्थाएं हैं ?

उत्तर—दस अवस्थाएं मानी गई हैं[1]—१. बन्ध, २. उद्वर्तना, ३. अपवर्तना, ४. सत्ता, ५. उदय, ६. उदीरणा, ७. संक्रमण, ८. उपशम, ९. निधत्ति १०. निकाचना।

१. **बन्ध**—मिथ्यात्व आदि आस्रवों के निमित्त से जीव के असंख्य प्रदेशों में हलचल (कंपन) पैदा होती है। फलस्वरूप जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश हैं, उस क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त—कर्मयोग्य अर्थात् कर्मरूप में परिणत होनेवाले पुद्गल आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ बंध जाते हैं—चिपक जाते हैं। बस, कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ इस प्रकार बंध जाना **बन्ध** कहलाता है।[2]

कर्मबन्ध की प्रक्रिया सरलता से समझ में आ जाए—इसलिए जरा मिथ्यात्वादि-आस्रवों का सामान्य स्वरूप समझ लीजिए[3]—१. तात्त्विक विषयों में विपरीत मान्यता का होना या तत्त्वज्ञान के प्रति अरुचि का होना **मिथ्यात्व** है। २. त्याग न करने की भावना और सांसारिक सुखों की अभिलाषा का होना अविरति है। ३. आत्मिक कल्याण की तरफ आन्तरिक उत्साह का न होना **प्रमाद** है। ४. आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभ आदि की विद्यमानता **कषाय** है। ५. मन-वचन-काया की प्रवृत्ति-क्रिया का होना **योग** है।

योग से आकृष्ट होकर कार्मणवर्गणा के पुद्गल आते हैं और मिथ्यात्व आदि चार आस्रवों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंधते हैं।

प्रश्न १४—कर्मबन्ध कितने प्रकार का है ?

उत्तर—चार प्रकार का है[4]—१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध,

---

१. जैनसिद्धान्तदीपिका ४।४, स्था० ८।५१६ एवं भगवती १।१।१२ के आधार पर।

२. कर्मग्रंथ भाग १ गाथा १ तथा भूमिका

३. विशेष विवेचन पुञ्ज ७ में देखें।

४. स्था. ४।३।२९६ तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा २ तथा जीव-अजीव बोल १० वां।

३. अनुभागवन्ध, ४. प्रदेशवन्ध।

१. प्रकृतिवन्ध—आत्मा के द्वारा ग्रहण किए गए कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न स्वभाव का निश्चय होना प्रकृतिवन्ध है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव और वन्ध अर्थात् उसका निश्चय। जब जीव कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है, तब उनका स्वभाव जीव की उस समय में विद्यमान शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के अनुसार वन जाता है। जैसे—शान्त और प्रसन्न मन से किया हुआ भोजन अमृत वनता है तथा क्रुद्ध एवं संतप्त हृदय से किया हुआ भोजन विष रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार शुभप्रवृत्ति के समय ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल शुभ और अशुभप्रवृत्ति के समय ग्रहण किए हुए कर्मपुद्गल अशुभ-स्वभाववाले हो जाते हैं।

२. स्थितिवन्ध—जीव के द्वारा जो शुभाशुभ—कर्मपुद्गल ग्रहण किए गए हैं, वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को कायम रखते हुए आत्मप्रदेशों के साथ वंधे रहेंगे और फिर शुभाशुभरूप से उदय में आएंगे अर्थात् सुख-दुःखरूप फल के निमित्त वनेंगे। इस प्रकार कर्मों की कालमर्यादा का निश्चित होना स्थितिवन्ध है।

३. अनुभागवन्ध—कई कर्म तीव्ररस से वंधते हैं और कई मन्दरस से। शुभाशुभ कार्य करते समय जीव की तीव्र या मन्द, जैसी भी प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुसार तीव्र या मन्दरसवाले कर्मों का वन्ध होता है। तीव्ररस-वाले कर्म तीव्रगति से सुख-दुःख देते हैं और मन्दरसवाले मन्दगति से। हां तो! कर्मपुद्गलों में तीव्ररस-मन्दरस आदि का निश्चय होना अनुभागवन्ध है। इसको अनुभाववन्ध या रसवन्ध भी कहते हैं।

४. प्रदेशवन्ध—भिन्न-भिन्न कर्मदलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक परिमाण होना प्रदेशवन्ध है अर्थात् जीव द्वारा ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभावों में परिणत होने वाले कर्मदलों का समूह स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिमाणों में वंट जाता है—यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशवन्ध है।

इसके विषय में श्री देवानन्दसूरि ने कहा है कि[1] जीव अपने असंख्यात प्रदेशों द्वारा, अभव्यों से अनन्तगुण-प्रदेशदल से बने और सिद्धों की संख्या के अनन्तवें भाग जितने (स्वप्रदेश में ही रहे हुए) कर्म-वर्गणा के स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। ग्रहण करके उनमें से थोड़े दलिक आयुकर्म में, उससे विशेषाधिक और परस्परतुल्य-दलिक नाम एवं गोत्रकर्म में, उससे विशेषाधिक और परस्पर तुल्यदलिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म में, उससे विशेषाधिक मोहनीय कर्म में और उससे विशेषाधिक वेदनीय-कर्म में बांटकर क्षीर-नीर की तरह अथवा लोह-अग्नि की तरह उन कर्मवर्गणा के स्कन्धों के साथ मिल जाता है। कर्मदलिकों की इन आठ भागों की कल्पना अष्टविध, कर्मबन्धक की अपेक्षा से की गई है। सात, छह और एकविध बन्धक के विषय में उतने-उतने ही भाग की कल्पना कर लेनी चाहिए। यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि प्रत्येक कर्म के दलिकों का विभाग उसकी स्थिति-मर्यादा के अनुपात से होता है अर्थात् अधिक स्थितिवाले कर्म का दल अधिक और कम स्थितिवाले कर्म का दल कम होता है। परन्तु वेदनीय कर्म के विषय में ऐसा नहीं है। उसकी स्थिति कम होने पर भी उसके हिस्से का भाग सबसे अधिक होता है। इसका कारण इस प्रकार बतलाया गया है कि यदि वेदनीय के हिस्से में कम भाग आये तो लोक में सुख-दुःख का पता ही न चले लेकिन सुख-दुःख प्रकट मालूम पड़ते हैं, इसलिए वेदनीय के हिस्से में कर्मदल सबसे अधिक आता है।

चारों बन्धों का स्वरूप विशेष स्पष्टता से समझने के लिए लड्डू का दृष्टान्त भी ध्यान देने योग्य है।[2] जैसे—वायुनाशक (सोंठ-मिर्च-पीपल आदि) औषधियों से बना हुआ लड्डू वायु का नाश करता है, पित्तनाशक (चन्दन-कपूर-खसखस आदि) औषधियों से बना हुआ लड्डू पित्त का नाश करता है और कफनाशक (हल्दी, मुलहठी आदि) औषधियों से बना हुआ लड्डू कफ-सम्बन्धी रोगों का नाश करता है। घी, आटा, चीनी समान

१. नवतत्त्व साहित्यसंग्रहः देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ४ के आधार से।
२. कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा २ तथा स्था० ४।३।२९६ के आधार से।

मात्रा में होने पर भी जैसे औषधियों की भिन्नता से लड्डुओं की प्रकृतियां भिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार कर्मवर्गणा के पुद्गल समान होने पर भी कर्मवन्ध के समय होने वाली जीव की प्रवृत्तियां की भिन्नता के अनुसार कर्मों की प्रकृति भी भिन्न रूपवाली वन जाती है, जिससे कई कर्म ज्ञानगुण के आच्छादक हो जाते हैं और कई कर्म दर्शनगुण के आच्छादक। कई कर्म आत्मा के आनन्दगुण का घात करते हैं और कई आत्मा की अनन्तशक्ति का। इस तरह कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभावों का निश्चय हो जाना **प्रकृतिवन्ध** है।

जैसे—औषधिमिश्रित कई लड्डू एक पक्ष, कई एक मास एवं कई डेढ़-दो मास तक रोगों का नाश करने रूप अपने स्वभाव को धारण करते हैं, फिर उसे छोड़ देते हैं अर्थात् वे विगड़ जाते हैं। उनमें रोग को नष्ट करने की शक्ति नहीं रहती (काष्ठादि-औषधियां एवं इंजेक्शन आदि में भी यही वात है)। लड्डुओं की काल-मर्यादावत् कर्मदलों की अवधि भी निश्चित होती है—यही **स्थितिवन्ध** है। स्थिति पूर्ण होने के वाद कर्म-पुद्गल उदय में आकर अपना फल दिखलाने लगते हैं।

जैसे—औषधिमिश्रित कई लड्डू अत्यधिक कड़ुवे या मीठे होते हैं और कई थोड़े कड़ुवे या थोड़े मीठे। उसी प्रकार कई कर्मदल तीव्र शुभ-अशुभ रसवाले होते हैं और कई मन्द शुभाशुभ रसवाले। वस, शुभाशुभ रसों में तीव्रता-मन्दता का निश्चय ही **अनुभागवन्ध** है। कर्म तीव्रगति से शुभाशुभ फल देंगे या मन्दगति से—यह इसी के द्वारा निश्चित होता है।

जैसे—कई लड्डू दो-चार-पांच तोले के होते हैं और कई दस-वीस या पचीस तोले के; इसी प्रकार प्रदेशवन्ध के अनुसार भिन्न-भिन्न कर्म-दलों के न्यूनाधिक परिमाण का निश्चय होता है।

वन्ध के जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश—चार भेद कहे हैं, उनमें प्रकृति एवं प्रदेश—ये दो तो योग-निमित्तक हैं अर्थात् योग के निमित्त से वंधते हैं तथा स्थिति और अनुभाग कषाय-निमित्तक हैं। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग—ये पांचों आस्रव कर्मवन्ध के

कारण माने गये हैं। लेकिन संक्षेप में कहा जाय तो योग और कषाय—ये दो ही मुख्य हैं। शेप तीनों का इन्हीं में समावेश हो जाता है। एक आचार्य कहते हैं कि जैसे—दीवार पर लगे हुए गोंद पर हवा से प्रेरित मिट्टी के रजकण अपने-आप आकर चिपक जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा-रूपी दीवार पर कपाय रूपी गोंद लगा हुआ है। योग की प्रवृत्तिरूप हवा से आकृष्ट कर्म रूपी मिट्टी के रजकण आकर आत्मा पर विद्यमान गोंद के साथ चिपक जाते हैं। कर्मों का न्यूनाधिक मात्रा में आना योग की मन्दता-तीव्रता पर निर्भर है, और कर्मों का आत्मा के साथ कम-ज्यादा समय तक लगे रहना कपाय की मन्दता-तीव्रता पर आधारित है।

तत्त्वार्थसूत्रकार **वाचक उमास्वति** ने योग को भी गौणता देकर केवल कपाय को ही कर्मवन्ध का मुख्य कारण माना है।[1] उनका मन्तव्य है कि राग-द्वेपात्मक कपाय की स्निग्धता से ही वास्तव में कर्मों का वन्ध होता है।

जैसे—तेल लगाकर धूलि में लेटने से धूलि शरीर से चिपक जाती है, उसी प्रकार राग-द्वेपमय परिणामों से परिणत जीव भी आत्मप्रदेशों से घिरे हुए क्षेत्र में व्याप्त कर्मपुद्गलों का ग्रहण करता है।

प्रश्न १५—जो कर्मों की दस अवस्थाएं कही थीं, उनमें पहली कर्मवन्ध की प्रक्रिया तो समझ में आ गई, अव उद्वर्तना-अपवर्तना आदि नौ अवस्थाओं का अर्थ समझाइए!

उत्तर—उद्वर्तनादि का अर्थ इस प्रकार है[2]—

(२-३) **उद्वर्तना-अपवर्तना**—स्थिति और अनुभाग के वढ़ने को उद्वर्तना एवं घटने को अपवर्तना कहते हैं। कर्मों का वन्ध होने के वाद—ये दोनों क्रियाएं होती हैं। अशुभकर्म वांधने के वाद जीव की भावना यदि और अधिक कलुपित हो जाती है, तो पहले वंधे हुए अशुभकर्मों की स्थिति वढ़ जाती है एवं फल देने की शक्ति तीव्र हो जाती है—इस क्रिया का नाम

---

१. तत्त्वार्थ ८।२

२. जैनसिद्धान्तदीपिका ४।४।

उद्वर्तना है।

अशुभकर्म बांधने के बाद जीव यदि उसका पश्चात्ताप या दूसरी शुभ-क्रियाएं कर लेता है, तो पहले बंधे हुए अशुभकर्मों की स्थिति घट जाती है और फल देने की शक्ति मन्द हो जाती है—इस क्रिया का नाम अपवर्तना है। इन्हीं दोनों क्रियाओं के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई कर्म देर से तथा किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द।

(४) सत्ता—बंधे हुए कर्म तुरन्त फल नहीं देते, कुछ समय तक उनका विपाक (पाचन) होता है। हां! तो, कर्म जब तक फल न देकर आत्मा के साथ केवल अस्तित्व रूप में रहते हैं, उस अवस्था को सत्ता कहते हैं।

(५) उदय—विपाक (फलदान) का समय आने पर जब कर्म शुभ या अशुभ रूप में फल दिखलाते हैं, उसे उदय कहते हैं। उदयकाल को कर्म-निषेककाल भी कहा जाता है। उदय दो प्रकार का होता है—विपाकोदय और प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है, वह विपाकोदय है, इसे फलोदय भी कहते हैं तथा जो कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिए नष्ट हो जाता है, मात्र आत्मप्रदेशों में वेद लिया जाता है, वह प्रदेशोदय कहलाता है।

(६) उदीरणा—अबाधाकाल[1] पूर्ण होने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आनेवाले हैं, उन्हें विशेष प्रयत्न से खींचकर उदय में आए हुए

१. अबाधाकाल—बंधे हुए कर्मों से जितने समय तक आत्मा को बाधा नहीं होती अर्थात् शुभाशुभ फल का वेदन नहीं होता, उतना समय अबाधाकाल कहलाता है। अबाधाकाल कर्मों की स्थिति के अनुसार कम-ज्यादा होता है। जैसे—अधिक नशीली शराब अधिक समय में सड़कर बनती है और कम नशेवाली कम समय में सड़कर, उसी प्रकार अधिक स्थिति वाले कर्मों का अबाधाकाल अधिक और कम स्थिति वाले कर्मों का अबाधाकाल कम होता है। जैन-शास्त्रों के अनुसार एक कोटाकोटि सागर की स्थितिवाले कर्म का अबाधाकाल सौ वर्ष एवं सत्तर कोटाकोटि सागर की स्थिति वाले कर्म का अबाधाकाल सात हज़ार वर्ष माना गया है। अबाधाकाल पूरा होते ही कर्म अपना शुभाशुभ फल देने लगते हैं।

कर्मदलिकों के साथ भोग लेना **उदीरणा** है। इससे लंबे समय के बाद उदय में आनेवाले कर्म तत्काल उदय में लाकर भोग लिए जाते हैं। जैसे—कच्चे फलों को घास आदि में दबाकर वृक्ष की अपेक्षा शीघ्र पका लिया जाता है, उसी प्रकार अपवर्तना क्रिया द्वारा स्थिति को घटाकर कभी-कभी पहले ही कर्मफल भोग लिया जाता है। (विशिष्ट त्याग, तपस्या एवं ध्यान आदि करते समय, उपसर्ग-रोग-शोक-भय आदि के उपस्थित होने पर तथा अकाल मृत्यु के समय कर्मों की उदीरणा होती है।)

(७) **संक्रमण**—जिस प्रयत्न विशेष से कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त करता है—उस प्रयत्न-विशेष का नाम संक्रमण है।[१]

संक्रमण चार प्रकार का है[२]—(१) प्रकृति-संक्रमण (२) स्थिति-संक्रमण (३) अनुभाग-संक्रमण और (४) प्रदेश-संक्रमण।

(१) कर्मों की सजातीय अर्थात् उत्तर प्रकृतियों में परिवर्तन होना **प्रकृति-संक्रमण** है। (२) उद्वर्तना-अपवर्तना क्रियाओं द्वारा कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों में स्थिति-सम्बन्धी परिवर्तन होना अर्थात् स्थितियों का घट-बढ़ जाना **स्थिति-संक्रमण** है। (३-४) इसी प्रकार कर्मों की फल देने की तीव्र-मन्द शक्ति में परिवर्तन होना **अनुभाग-संक्रमण** है और आत्मप्रदेशों के साथ बंधे हुए कर्मपुद्गलों का अन्य प्रकृति-स्वभाव का हो जाना **प्रदेश-संक्रमण** है।

ऊपर जो प्रकृति संक्रमण कहा है, वह केवल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों में ही होता है लेकिन मूल प्रकृतियों में नहीं होता। ज्ञानावरणीयादि आठों कर्म जिस रूप में बंधते हैं ठीक उसी रूप में फल देते हैं। जैसे—ज्ञानावरणीयकर्म ज्ञान का आच्छादन करता है किन्तु दर्शन का आच्छादन नहीं कर सकता, उसी प्रकार वेदनीयादि कर्म भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही सुख-दुःखादि रूप फल देते हैं।

---

१. कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा १ की व्याख्या।

२. स्था. ४।३।२९६।

उत्तर प्रकृतियों का संक्रमण यथा—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण के रूप में और श्रुतज्ञानावरण मतिज्ञानावरण के रूप में, सातावेदनीय-असातावेदनीय के रूप में और असातावेदनीय-सातावेदनीय के रूप में, शुभनाम अशुभनाम के रूप में और अशुभनाम शुभनाम के रूप में, उच्चगोत्र नीचगोत्र के रूप में और नीचगोत्र उच्चगोत्र के रूप में, दानान्तराय-लाभान्तराय आदि के रूप में और लाभान्तराय आदि दानान्तराय के रूप में संक्रान्त-परिवर्तित होकर फल दिखलाने लगता है अर्थात् बांधते समय जो कर्म मतिज्ञानावरण एवं सातवेदनीय आदि के रूप में होता है, फल देने के समय वह श्रुतज्ञानावरण व असातावेदनीय आदि का रूप ले लेता है, इसीलिए आगम में कहा है कि[1] एक कर्म शुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में फल देता है तथा एक कर्म अशुभ रूप में बंधता है और शुभ रूप में फल देता है।

उत्तरप्रकृतियों के संक्रमण में यह एक विशेष बात है कि दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रमण नहीं होता। इसी प्रकार आयुष्य कर्म की प्रकृतियां भी परस्पर संक्रान्त नहीं होतीं अर्थात् नरकआयु तिर्यञ्चादि आयु के रूप में और तिर्यञ्चादि की आयु नरकायु के रूप में नहीं बदलती[2]। उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और संक्रमण ये चारों अनुदित (उदय में नहीं आए हुए) कर्मपुद्गलों के ही होते हैं, उदयावालिका में प्रविष्ट (उदय-अवस्था को प्राप्त हुए) कर्मपुद्गलों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता।

८. उपशम (उपशमना)—कर्मों की सर्वथा अनुदय-अवस्था को **उपशम** कहते हैं[3]। इसमें प्रदेशोदय-विपाकोदय यों दोनों प्रकार का उदय नहीं रहता। उपशम अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण हो सकते हैं लेकिन उदय, उदीरणा, निधत्ति एवं निकाचना—ये चार करण नहीं

१. स्था. ४।४।३१२।

२. तत्त्वार्थ, ८।२२ भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि-टीका।

३. कर्मप्रकृति, गाथा २।

होते। उपशम केवल मोहनीयकर्म का होता है, दूसरों का नहीं।[1]

९. **निधत्ति**—तपाकर निकाली हुई सुइयों के सम्बन्ध के समान पूर्वबद्ध कर्मों का परस्पर मिल जाना निधत्ति है। इसमें उद्वर्तना-अपवर्तना दो करण हो सकते हैं। शेष उदीरणा-संकमण आदि करण नहीं हो सकते।

१०. **निकाचना**—तपाकर निकाली हुई लोहे की सुइयाँ घन (हथौड़े) से कूटने पर जैसे एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ जब प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाता है, उस प्रगाढ़ सम्बन्ध की अवस्था का नाम **निकाचना या निकाचितबन्ध** है। निकाचितवन्ध होने के बाद कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इसमें उद्वर्तना-अपवर्तना-उदीरणा आदि कोई भी करण नहीं हो सकते।

उदय और सत्ता—इन दो को छोड़कर कर्मों की बन्ध आदि आठ अवस्थाएं आठ करण कहलाती हैं।[2] करण का अर्थ वीर्य (प्रयत्न) विशेष है। हां! तो, जीव इन क्रियाओं को करते समय विशेष प्रयत्न करता है।

---

१. अनुयोग द्वार—सू० १२६।

२. कर्मप्रकृति, गाथा २।

दूसरा पुञ्ज

प्रश्न १—कर्मों के मूल भेद कितने हैं ?

उत्तर—आठ हैं[1]—(१) ज्ञानावरणीयकर्म, (२) दर्शनावरणीय-कर्म, (३) वेदनीयकर्म, (४) मोहनीयकर्म, (५) आयुष्यकर्म, (६) नामकर्म, (७) गोत्रकर्म, (८) अन्तरायकर्म। इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शना-वरणीय, मोहनीय, अन्तराय—ये चार घातिककर्म कहलाते हैं एवं आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि मुख्य गुणों का घात करते हैं—इनका सर्वथा नाश किए विना जीव कभी सर्वज्ञ-भगवान नहीं वन सकता[2]। शेष (वेद-नीय, नाम, गोत्र और आयुष्य) चार अघातिककर्म हैं—ये जीव के स्वाभाविक गुणों का नाश नहीं करते—इनका प्रभाव केवल शरीर-इन्द्रिय आयु आदि पर पड़ता है। जव तक जीव शरीर धारण करता है, तव तक ये उसके साथ ही रहते हैं।

प्रश्न २—ज्ञानावरणीयकर्म का विवेचन कीजिए[3] !

उत्तर—वस्तु को विशेष रूप से जानना ज्ञान है। जो आत्मा के ज्ञान-गुण को आच्छादित करता है, उसका नाम **ज्ञानावरणीयकर्म** है। ज्ञाना-वरणीय अर्थात् ज्ञान को आच्छादित करनेवाला कर्म। आंखों पर लगी हुई कपड़े की पट्टी जैसे देखने में वाधा डालती है, उसी प्रकार ज्ञाना-वरणीयकर्म आत्मा के पदार्थज्ञान करने में वाधा डालता है।

---

१. उत्तरा, ३३।२-३।

२. हरिभद्रीयाष्टक श्लोक ३०।

३. कर्मप्रकृति गाथा, १ टीका।

यद्यपि यह कर्म ज्ञान को आच्छादित करता है लेकिन आत्मा को सर्वथा ज्ञानशून्य नहीं वनाता। जैसे—सघन वादलों से ढके जाने पर भी दिन-रात का भेद जाना जा सके—इतना सूर्य का प्रकाश तो अवश्य विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रगाढ़ ज्ञानावरणीयकर्म का उदय होने पर भी आत्मा जड़ पदार्थों से पृथक् किया जा सके—उतना ज्ञान तो उसका अवश्य अनाच्छादित रहता है। नन्दी सूत्र ४२ में कहा है कि जीव में अक्षर का अनन्तवां भाग अर्थात् मति-श्रुत-अज्ञान की सर्वजघन्य मात्रा सदा खुली रहती है।

प्रश्न ३—ज्ञानावरणीयकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर—पांच भेद हैं[1]—(१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनः पर्यवज्ञानावरणीय, (५) केवलज्ञानावरणीय।

अपेक्षा-भेद से मतिज्ञान के २८, ३३६ तथा ३४० भेद होते हैं[2]। उन सव को आच्छादित करनेवाला कर्म **मतिज्ञानावरणीय** कहलाता है। वुद्धि-विचारशक्ति एवं स्मरणशक्ति आदि में आज जो न्यूनाधिकता नज़र आ रही है, वह सव इसी कर्म का प्रभाव है। मतिज्ञानावरणीयकर्म का उदय जितना प्रवल होता है, वुद्धि आदि गुण उतने ही मन्द हो जाते हैं तथा इस कर्म का क्षयोपशम जितना अधिक होता है, वुद्धि आदि गुण उतने ही तेज होते हैं।

२. चौदह (अक्षरश्रुत आदि[3]) अथवा वीस (पर्यायश्रुत आदि[4]) भेद

---

१. स्था० ५।३।४६४ तथा कर्मग्रन्थ, भाग १ गाथा ६।

२. देखो ज्ञानप्रकाश, पुञ्ज १ प्रश्न १६।

३. देखो ज्ञानप्रकाश, पुञ्ज २, प्रश्न ३।

४. (१) पर्यायश्रुत, (२) पर्यायसमासश्रुत, (३) अक्षरश्रुत, (४) अक्षरसमासश्रुत, (५) पदश्रुत, (६) पदसमासश्रुत, (७) संघातश्रुत, (८) संघातसमासश्रुत, (९) प्रतिपत्तिश्रुत, (१०) प्रतिपत्तिसमासश्रुत, (११) अनुयोगश्रुत, (१२) अनुयोगसमासश्रुत, (१३) प्राभृत-प्राभृतश्रुत, (१४) प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत,

वाले श्रुतज्ञान को आच्छादित करनेवाले कर्म को **श्रुतज्ञानावरणीय** कहते हैं। श्रुतज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही प्राणी कम या ज्यादा ज्ञान पढ़ सकता है। अधिक परिश्रम करने पर भी यदि ज्ञान नहीं आता तो श्रुतज्ञानावरणीयकर्म का उदय समझना चाहिए।

३. भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय तथा अनुगामी-अननुगामी आदि सभी प्रकार के अवधिज्ञान को आवृत करनेवाला कर्म **अवधिज्ञानावरणीय** कहलाता है। इस कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ही प्राणी को अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

४. ऋजुमति और विपुलमति—इन दोनों प्रकार के मनःपर्यवज्ञान को रोकनेवाला कर्म **मनःपर्यवज्ञानावरणीय** कहा जाता है। अवधि और मनः पर्यवज्ञान का विस्तृत वर्णन ज्ञानप्रकाश (पुञ्ज ३) में पढ़िए।

५. केवलज्ञान को रोकनेवाला कर्म **केवलज्ञानावरणीय** माना जाता है। केवलज्ञान का विस्तृत वर्णन ज्ञानप्रकाश (पुञ्ज ४) में पढ़िए।

मतिज्ञानावरणीयादि चार कर्म तो देशघाती हैं अर्थात् मतिज्ञान आदि जो ज्ञान के देश-अंश रूप हैं, उनका घात करनेवाले हैं और केवलज्ञानावरणीय सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान का घातक होने से सर्वघाती कहलाता है।[1]

प्रश्न ४—ज्ञानावरणीयकर्म का अनुभाव (फल-भोग) कितने प्रकार का है?

उत्तर—दस प्रकार का है अर्थात् ज्ञानावरणीयकर्म दस प्रकार से भोगा जाता है[2]। जैसे—

१. श्रोत्रावरण—सुनने में कमी होना या बिलकुल बहरा होना।

---

(१५) प्राभृतश्रुत, (१६) प्राभृतसमासश्रुत, (१७) वस्तुश्रुत, (१८) वस्तु-समासश्रुत, (१९) पूर्वश्रुत, (२०) पूर्वसमासश्रुत (इनका अर्थ कर्मग्रन्थ, भाग १ गाथा, ७ से समझने योग्य है।)

१. पंचसंग्रह-सटीक, द्वार ५।

२. प्रज्ञापना २३।१।२९२।

२. श्रोत्रविज्ञानावरण—सुनने में उपयोग न लगना यानी सुनकर समझ न सकना।

३. नेत्रावरण—दीखने में कमी होना या बिलकुल अन्धा हो जाना।

४. नेत्रविज्ञानावरण—देखकर समझ न सकना।

५. घ्राणावरण—सूंघने की शक्ति में कमी होना या बिलकुल न सूंघ सकना।

६. घ्राणविज्ञानावरण—सूंघकर समझ न सकना।

७. रसनावरण—रस (स्वाद) लेने की शक्ति में कमी होना।

८. रसनाविज्ञानावरण—स्वाद में समझ न सकना।

९. स्पर्शनावरण—स्पर्श न कर सकना।

१०. स्पर्शनविज्ञानावरण—स्पर्श को समझ न सकना।

पांचों इन्द्रियों से सम्बन्धित ज्ञानशक्ति में अर्थात् सुनने-देखने आदि में जो कमी होती है, वह इस ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से होती है। लेकिन कान-आंख आदि की अच्छी-बुरी बनावट से इस कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों की बाह्यरचना द्रव्य-इन्द्रियां हैं एवं उनका सम्बन्ध नामकर्म से है। यहां तो मात्र (लब्धि-उपयोग रूप) भाव-इन्द्रियां विवक्षित हैं।[1]

प्रश्न ५—कर्मों का अनुभाव स्वतः होता है या पर की अपेक्षा से भी ?

उत्तर—दोनों प्रकार से होता है। गति, स्थिति और भव (जन्म-विशेष) को पाकर जो कर्मों का फल भोगा जाता है, वह स्वतः अनुभाव है तथा पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा से जो फल-भोग होता है, उसे परतः अनुभाव कहते हैं।

गति, स्थिति और भव का अनुभाव इस प्रकार समझाया गया है। कोई कर्म गतिविशेष को पाकर ही अपना तीव्र फल देता है। जैसे—असाता-

---

१. इन्द्रियों का वर्णन ज्ञानप्रकाश, पुंज १, प्रश्न ४ में पढ़िये।

वेदनीय नरकगति में तीव्र फल देता है। नरकगति में जैसी असाता होती है, वैसी अन्य गतियों में नहीं होती। कोई कर्म स्थिति अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति पाकर ही तीव्रफल देता है, जैसे—मिथ्यात्वमोहनीय। मिथ्यात्व जितना अधिक स्थितिवाला होता है, उतना ही तीव्र होता है। कोई कर्म भव विशेष में अपना असर दिखाता है; जैसे—निद्रादर्शनावरणीय कर्म मनुष्य और तिर्यञ्च के भव में ही अपना प्रभाव दिखाता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च ही निद्रा लेते हैं, देवता-नारकी नींद नहीं लिया करते।

गति, स्थिति और भव को पाकर कर्मफल भोगने में कर्म-प्रकृतियां ही निमित्त हैं। इसलिए यह स्वतः निरपेक्ष-अनुभाव है।

पुद्गल और पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जिस कर्म का उदय होता है, वह सापेक्ष-परतः उदय है। कई कर्म पुद्गल का निमित्त पाकर फल देते हैं, जैसे—किसी के लकड़ी या पत्थर फेंकने से चोट पहुंची, उससे दुःख का अनुभव हुआ या क्रोध आया—यहां पुद्गल के निमित्त से असातावेदनीय और मोहनीयकर्म का उदय समझना चाहिए। खाये हुए आहार के न पचने से अजीर्ण हो गया—यहां आहार रूप पुद्गलों के परिणाम से असातावेदनीय का उदय जानना चाहिए। इसी प्रकार मदिरापान से ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है। स्वाभाविक-पुद्गल परिणाम (सर्दी-गर्मी-घाम आदि) से भी असातावेदनीय का उदय होता है।

ज्ञानावरणीयकर्म को जो दस प्रकार का अनुभाव कहा है, वह भी स्वतः-परतः अर्थात् निरपेक्ष और सापेक्ष दो प्रकार से होता है।

पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा प्राप्त अनुभाव सापेक्ष है। कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुंचाने के लिए एक या अनेक पुद्गल, जैसे पत्थर, ढेला या शस्त्र फेंकता है, उनकी चोट से उसके उपयोग रूप ज्ञान-परिणति का घात होता है। यहां पुद्गल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिए। एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणमन सम्यक् प्रकार न होने से वह दुःख का अनुभव करता है और दुःख की अधिकता से ज्ञानशक्ति पर बुरा असर होता है। यहां पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा

ज्ञानावरणीय का उदय है। शीत-उष्ण-घाम आदि स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम से जीव की इन्द्रियों का घात होता है और जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता। कर्म के उदय से, बाह्य निमित्त की अपेक्षा किए बिना ही, जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता, जानने की इच्छा रखते हुए भी नहीं जान पाता, एक बार जानकर भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता। यहां तक कि वह आच्छादित-ज्ञानशक्ति वाला हो जाता है, यह ज्ञानावरणीय का स्वतः निरपेक्ष अनुभाव है[1]।

प्रश्न ६—ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध कैसे होता है?

उत्तर—छः कारणों से जीव ज्ञानावरणीयकर्म बांधता है[2]—

१. ज्ञान या ज्ञानी की प्रतिकूलता से अथवा दूसरा मेरे बराबर न हो जाये—इस दृष्टि से ज्ञानदान न करने रूप मत्सर भाव से।

२. ज्ञान व ज्ञानी का निह्नव-अपलपन (निन्दा) करने से। अथवा तत्त्व का स्वरूप मालूम होने पर भी उसको छिपाने से (निह्नव का अर्थ छिपाना भी होता है)।

३. ज्ञानाभ्यास में अन्तराय डालने से।

४. ज्ञान या ज्ञानी के प्रति द्वेष रखने से अथवा ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों के प्रति मन में जलन रखने से।

५. ज्ञान या ज्ञानी की आशातना करने से अथवा ज्ञान देनेवाले को रोकने से।

६. ज्ञान एवं ज्ञानियों का विसंवाद करने से अर्थात् उनमें दोष दिखाने का प्रयत्न करने से या उनके साथ विवाद करने से।

प्रश्न ७—ज्ञानावरणीयकर्म की स्थिति कितनी है?

उत्तर—जघन्य (कम से कम) अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ३० कोटा-

---

१. प्रज्ञापना २३।१।२९२ से २९४, तत्त्वार्थ अ. ८ तथा कर्मग्रन्थ, भाग १, गाथा ९ और ५४।

२. भगवती ८।९।३५१ तथा तत्त्वार्थ ६।११।

कोटि-सागरोपम है (तीस करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर तीस कोटाकोटिसागर होते हैं[1]।) इस कर्म का अबाधाकाल उत्कृष्ट तीन हज़ार वर्ष है[2]।

प्रश्न ८—दर्शनावरणीयकर्म का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आत्मा के सामान्यज्ञान को **दर्शन** कहते हैं। आत्मा की दर्शनशक्ति को ढकनेवाला कर्म **दर्शनावरणीय** कहलाता है। दर्शनावरणीय-कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार यह कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शनशक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

प्रश्न ९—दर्शनावरणीयकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर—नौ भेद (प्रकृतियां) हैं[3]—पांच प्रकार की निद्राएं और चार प्रकार का दर्शनावरण। पांच निद्राएं, यथा—१. निद्रा, २. निद्रा-निद्रा, ३. प्रचला, ४, प्रचला-प्रचला, ५. स्त्यानर्धि या स्त्यानगृद्धि (थीणद्धी या थीणगिद्धी)

१. जिसमें सोया हुआ प्राणी सुख से, धीमी आवाज़ से बुलाते ही जाग जाता है, वह **निद्रा** है।

२. जिस नींद में सोया हुआ प्राणी कठिनाई से अर्थात् जोर-जोर से आवाज़ देने पर या उसके हाथ आदि हिलाने पर जागता है, वह **निद्रा-निद्रा** है।

३. बैठे या खड़े व्यक्ति को जो नींद आती रहती है, वह **प्रचला** है। बैठे-बैठे तो अनेक व्यक्ति व्याख्यानादि सुनते समय झपकियां खाते नज़र आते ही हैं लेकिन ऐसे व्यक्ति भी देखने में आए हैं, जो कहीं दो-चार मिनट खड़े रहते ही नींद लेने लगते हैं।

४. चलते-चलते जो नींद आती है, वह **प्रचला-प्रचला** है। अनेक ऊंट-

---

१. प्रज्ञापना २३।२

२. सागरोपमकाल का हिसाब देखो पुञ्ज ८ प्रश्न १५।

३. प्रज्ञापना २३।२, स्था, ९ कर्मग्रन्थ, भाग १, गाथा १।

वाले ऊंट की पूंछ पकड़कर नींद लेते हुए कई-कई कोस चले जाते हैं।

उदयपुर में **बहोतलालजी कावड़िया** एक वार रात को हमारा व्याख्यान सुन रहे थे। पगड़ी और चादर उतार रखी थीं। नींद आ गई, व्याख्यान पूरा होते ही लोगों के साथ नींद में चल पड़े। सड़क पर विजली के खम्भे से उनका सिर टकराया और जागकर आगे चलते हुए व्यक्ति के थप्पड़ मारकर कहने लगे कि तूने मेरा सिर फोड़ दिया। उसने हँसते हुए कहा—सेठजी! आप नींद में थे और खम्भे से सिर फूटा है। देखिए—आपकी पगड़ी-चादर और जूतियां कहां हैं? (यह वि० सं० २००० चातुर्मास की घटना है।)

बालोतरानिवासी एक विद्यार्थी परीक्षा के दिनों में एक दिन नींद में उठा और अपनी कितावें लेकर पढ़ने के लिए विना वक्त मास्टर के घर चला गया। देखने वाले मास्टर आदि विस्मित हुए। (यह घटना वि० सं० २०२० की है।)

५. जिस निद्रा में जीव दिन अथवा रात में सोचा हुआ काम निद्रा अवस्था में कर डालता है, उसका नाम **स्त्यानर्धि** है।

वज्रऋपभनाराचसंहननवाले जीव को जब स्त्यानर्धि नींद आती है, तव उसमें वासुदेव का आधा वल अर्थात् दस लाख अष्टापद का वल आ जाता है। ऐसी निद्रावाला (यदि पहले आयुष्य न बंधा हो तो) निश्चित रूप से नरक में जाता है।

परम्परा से ऐसा सुनने में आया है कि इस निद्रावाला नींद में हाथी के दांत उखाड़कर ले आता है एवं आकर सो जाता है, उसको पता तक नहीं लगता।

इसके सिवा व्यक्तियों द्वारा निद्रावस्था में किए हुए चमत्कारों की अद्भुत घटनाएं भी पढ़ने योग्य हैं।[1]

१. दो शिकारी एक नदी के किनारे सो रहे थे। उनमें से **'बाघ आया, बाघ आया'** कहता हुआ एक उठा एवं वाघ समझकर साथी पर छुरा चला

---

१. नवनीत।

दिया।

एक स्त्री ने नींद में अपने तीन बच्चों को मैले-कुचैले देखा। ले जाकर पानी के हौज़ में उन्हें नहलाने लगी। फिर बच्चों को वहीं छोड़कर स्वयं आकर सो गई। प्रातः हौज में तीनों की लाशें मिलीं। तीनों बच्चे सात वर्ष की उम्र से कम थे।

३. एक व्यक्ति ने नींद में चीता समझकर अपनी वृद्ध-माता को मार दिया। जागकर मां-मां पुकारा तो मां मरी हुई मिली।

४. एक विद्यार्थी ने मास्टर से कई जटिल सवालों के उत्तर पूछे। मास्टर कई दिन सोचता रहा। एक दिन रात को नींद में उठकर उत्तर लिख डाले। प्रातः देखा तो विस्मय का पार न रहा क्योंकि उत्तर बिलकुल सही थे।

यद्यपि चरकसंहिता २१।३६ (आयुर्वेद) में कहा है कि सुखपूर्वक निद्रा आने से आरोग्य, शरीर की पुष्टि, बल-वीर्य की वृद्धि, ज्ञानेन्द्रियों की उचित रूप में प्रवृत्ति तथा नियत-आयु की प्राप्ति होती है और नींद न आने से शरीर में रोग, बलहानि, नपुंसकता, ज्ञानेन्द्रियों की उचित रूप में अप्रवृत्ति तथा मरण की संभावना भी हो जाती है अतः मनुष्य को स्वास्थ्य-रक्षा के लिए नींद लेना आवश्यक है। आरोग्य आदि की दृष्टि से आवश्यक होने पर भी निद्रा पर कुछ नियन्त्रण तो होना ही चाहिए। भगवान ने कहा है **निद्दं च न बहु मन्नेज्जा**[1]—निद्रा को बहुमान न देना चाहिए। शुक्लयजुर्वेद ३।१० में कहा है—**भूत्यैजागरणं, अभूत्यै स्वप्नम्**—जागना उन्नति का कारण है और सोना अवनति का। अस्तु पांचों प्रकार की निद्राएं पाप के उदय से आती हैं अतः यथासंभव इन्हें जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। देखिए—भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था (१२॥ वर्ष) में केवल दो घड़ी (४८ मिनट) नींद ली थी तथा प्रतिमाधारी मुनि रात को सिर्फ एक पहर सोया करते थे।

प्रश्न १०—पांचों निद्राओं का विवेचन तो हो गया, अब

---

१. दशवै. ८।४२।

दर्शनावरण समझाइए !

उत्तर—दर्शनावरण के चार भेद हैं—१, चक्षुदर्शनावरण, २. अचक्षुदर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण।

१. चक्षु के द्वारा होनेवाले दर्शन (सामान्यज्ञान) को आवृत करनेवाला (ढकनेवाला) कर्म **चक्षुदर्शनावरण** है।

२. चक्षु के सिवा शेष इन्द्रियां (कान-नाक-जीभ-त्वचा) और मन से होनेवाले दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म **अचक्षुदर्शनावरण** है।

३. अवधिदर्शन अथवा रूपी द्रव्यों के साक्षात् दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म **अवधिदर्शनावरण** है।

४. केवलदर्शन अर्थात् सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात्दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म **केवलदर्शनावरण** है। चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण तो मूल से ही दर्शन-लब्धि का घात करते हैं और पांच निद्राएं प्राप्तदर्शनशक्ति का घात करती हैं।

दर्शनावरणीयकर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट ३० कोटाकोटिसागर है। इसका अवाधाकाल उत्कृष्ट तीन हज़ार वर्ष है[1]।

प्रश्न ११—दर्शनावरणीय कर्म कैसे बंधता है ?

उत्तर—छः कारण माने गए हैं[2]। यथा—

१. दर्शन या दर्शनवान की प्रतिकूलता से अथवा दर्शन दान न करने रूप मत्सरभाव से।

२. दर्शन या दर्शनवान का निह्नव—अपलपन (निन्दा) करने से। अथवा दर्शन का स्वरूप मालूम होने पर भी उसको छिपाने से।

३. दर्शनाभ्यास में अन्तराय डालने से।

४. दर्शन या दर्शनवान के प्रति द्वेष रखने से अथवा दर्शन, दर्शनवान या दर्शन के साधनों के प्रति मन में जलन रखने से।

५. दर्शन या दर्शनवान की आशातना करने से अथवा दर्शनवान

१. प्रज्ञापना २३।२

२. भगवती ८।९।३५१।

करने वाले को रोकने से।

६. दर्शन एवं दर्शनवान का विसंवाद करने से अर्थात् उसमें दोष दिखाने का प्रयत्न करने से या उनके साथ विवाद करने से।

प्रश्न १२—दर्शनावरणीयकर्म का अनुभाव (फल-भोग) कितने प्रकार से होता है ?

उत्तर—दर्शनावरणीयकर्म के ऊपर जो निद्रा आदि नौ भेद कहे हैं, वे ही उसके अनुभाव के नौ प्रकार हैं अर्थात् निद्रा आदि के द्वारा ही उक्त कर्म भोगा जाता है।[1]

दर्शनावरणीय कर्म का उक्त अनुभाव परतः और स्वतः दो प्रकार का होता है। मृदुशय्यादि एक या अनेक पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव को निद्रा आती है। भैंस के दही आदि के भोजन भी निद्रा का कारण है। तथा स्वाभाविक-पुद्गलपरिणाम, जैसे—वर्षाकाल में आकाश का बादलों से घिर जाना, वर्षा की झड़ी लगना आदि भी निद्रा के सहायक हैं। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गल परिणाम का निमित्त पाकर जीव के निद्रा का उदय होता है और उसके दर्शनोपयोग का घात होता है, यह परतः अनुभाव हुआ। स्वतः अनुभाव इस प्रकार है—दर्शनावरणीय पुद्गलों के उदय से दर्शनशक्ति का उपघात होता है और जीव दर्शन-योग्य वस्तु को देख नहीं पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी नहीं देख सकता, एक बार देखकर वापिस भूल जाता है; यहां तक कि उसकी दर्शनशक्ति आच्छादित-सी हो जाती है।

प्रश्न १३—तीसरा वेदनीयकर्म समझाइए।

उत्तर—अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों को उत्पन्न सुख-दुःख रूप से जिसका वेदन (अनुभव) किया जाए, वह वेदनीयकर्म है। यद्यपि वेदन तो सभी कर्मों का होता है लेकिन सुख-दुःख का वेदन केवल इसी से होता है—अतः इस कर्म का नाम वेदनीय रखा गया है।

---

१. प्रज्ञापना २३।१।

वेदनीयकर्म के दो भेद हैं[1]—सातावेदनीय और असातावेदनीय। जिसके उदय से प्राणी अनुकूल विषयों को प्राप्त हो और शारीरिक-मानसिक सुख का अनुभव करे, वह **सातावेदनीयकर्म** है और जिससे जीव अनुकूल विषयों को अप्राप्त एवं प्रतिकूल विषयों को प्राप्त होकर दुःख का अनुभव करे, वह **असातावेदनीयकर्म** है। यह कर्म मधुलिप्त-तलवार की धार को चाटने जैसा है। तलवार की धार पर लगे हुए शहद के स्वाद तुल्य सातावेदनीय है और धार से जीभ के कट जाने जैसा असातावेदनीय है।

प्रश्न १४—सातावेदनीयकर्म कैसे बंधता है?

उत्तर—भगवान ने कहा है कि[2]—

१. प्राणों की अनुकम्पा करने से (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीव **प्राण** कहलाते हैं।)

२. भूतों की अनुकम्पा करने से (वनस्पतिकाय के जीव **भूत** कहलाते हैं।)

३. जीवों की अनुकम्पा करने से (पञ्चेन्द्रिय जीवों को **जीव** कहते हैं।)

४. सत्त्वों की अनुकम्पा करने से (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजसकाय, वायुकाय—ये चारों प्रकार के स्थावर जीव **सत्त्व** कहे जाते हैं।)

५. उक्त सभी प्रकार के जीवों को दुःख न देने से।

६. शोक नहीं उपजाने से।

७. नहीं झुराने (रुलाने) से।

८. वेदना न देने से या उन्हें रुलाकर टप-टप आंसू न गिरवाने से।

९. न पीटने से—लकड़ी आदि द्वारा न मारने से।

१०. किसी प्रकार का परिताप न पहुंचाने से।

इन दस कारणों से जीव सातावेदनीयकर्म बांधता है।

---

१. प्रज्ञापना २३।२ तथा कर्मग्रन्थ भा० १, गा० १२।

२. भगवती ७।६।२८६ तथा ८।९।३५१।

इसके विपरीत यदि प्राण-भूत-जीव सत्त्वों पर अनुकम्पा न रखे, इन्हें दुःख पहुंचाए, इन्हें इस प्रकार शोक कराए कि ये दीनता दिखाने लगें, इनका शरीर कमजोर हो जाए एवं इनकी आंखों से आंसू और मुँह से लार गिरने लगे तथा इन्हें लकड़ी आदि से मारे और नाना प्रकार की परितापना पहुंचाए तो जीव के असातावेदनीयकर्म का वन्ध होता है।

प्रश्न १५—वेदनीयकर्म का अनुभाव (फल-भोग) कितने प्रकार का है?

उत्तर—सातावेदनीय का अनुभाव आठ प्रकार का है[1]—

(१) मनोज्ञशब्द, (२) मनोज्ञरूप, (३) मनोज्ञगन्ध, (४) मनोज्ञ-रस, (५) मनोज्ञस्पर्श, (६) मनः सुखता (स्वस्थ मन), (७) सुखी वचन (कानों को मधुर लगने वाली और मन को आह्लादित करने वाली वाणी), (८) सुखी काया (नीरोग शरीर)।

इन आठ प्रकारों से सातावेदनीयकर्म भोगा जाता है अर्थात् इस कर्म के उदय से मनोज्ञ वीणा आदि के शब्द, स्त्री आदि के रूप, कपूर आदि की गन्ध, इक्षु आदि के रस, हंसतूलि आदि के स्पर्श प्राप्त होते हैं, तथा मन की प्रसन्नता, मधुरवाणी और शरीर की नीरोगता मिलती है।

सातावेदनीय का अनुभाव परतः और स्वतः दोनों प्रकार का होता है। परतः—माला, चन्दन आदि पुद्गलों का भोग-उपभोग करके जीव सुख का अनुभव करता है। देश-काल-वय-अवस्था के अनुरूप आहार के परिणमन रूप पुद्गलों के परिणाम से भी जीव साता का अनुभव करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक-पुद्गलपरिणाम, जैसे—वेदना के प्रतिकार रूप सर्दी-गर्मी आदि का निमित्त पाकर जीव सुख का अनुभव करता है। पुद्गल आदि के निमित्त से होने के कारण यह सुख का अनुभाव परतः सापेक्ष है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के विना भी सातावेदनीयकर्म के उदय

---

१. प्रज्ञापना २३।१।२९२-२९४, तथा कर्मग्रन्थ, भाग १, गाथा १३।

से जीव जो सुख का अनुभव करता है, वह स्वतः-निरपेक्ष-अनुभाव है। तीर्थंकरों के जन्मादि के समय होनेवाला नारकी का सुख ऐसा ही समझना चाहिए।

असातावेदनीयकर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है—(१) अमनोज्ञशब्द, (२) अमनोज्ञरूप, (३) अमनोज्ञगन्ध, (४) अमनोज्ञरस, (५) अमनोज्ञस्पर्श, (६) दुःखीमन, (७) दुःखकारी वचन, (८) रोगी शरीर।

इस कर्म के उदय से जीव के अमनोज्ञशब्द आदि का संयोग मिलता है। यह भी परतः-स्वतः दोनों प्रकार से भोगा जाता है। विष, शास्त्र, कण्टकादि के निमित्त से जीव दुःख भोगता है। अपथ्य आहार रूप-पुद्गलपरिणाम भी दुःखकारी होता है। अकाल में अनिष्ट शीत-उष्ण आदि रूप स्वाभाविक-पुद्गलपरिणाम का भोग करते हुए जीव के मन में असमाधि होती है और उससे वह असाता को वेदता है। यह परतः अनु-भाव हुआ। असातावेदनीयकर्म के उदय से वाह्य निमित्तों के न होते हुए भी जीव के असाता का भोग होता है, यह स्वतः अनुभाव जानना चाहिए।

प्रश्न १६—वेदनीय कर्म की स्थिति बतलाइए !

उत्तर—असातावेदनीयकर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट ३० कोटाकोटि-सागर है। इसका अवाधाकाल उत्कृष्ट ३००० वर्ष है[1]। सातावेदनीयकर्म दो प्रकार का है—ईर्यापथिक और साम्परायिक।

ईर्यापथिक—उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली—इन तीन (११-१२-१३) गुणस्थानों में रहता हुआ अप्रमत्तसाधु केवल शुभयोग के निमित्त से जो सातावेदनीय कर्म वांधता है, उसको **ईर्यापथिक सातावेद-नीयकर्म** कहते हैं। इसकी जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति दो समय की है अर्थात् पहले समय कर्मपुद्गल आते हैं, दूसरे समय आत्मप्रदेशों का स्पर्श करते हैं और तीसरे समय झड़ जाते हैं।

---

१. प्रज्ञापना २३।२

साम्परायिक—कषाय की विद्यमानता में अर्थात् दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक जीव जो सातावेदनीयकर्म बांधता है उसका नाम **साम्परायिक सातावेदनीयकर्म** है। उक्त कर्म की स्थिति जघन्य १२ मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट १५ कोटाकोटि-सागर है एवं उत्कृष्ट अबाधाकाल १५०० वर्ष है।[1]

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

तीसरा पुञ्ज

प्रश्न १—चौथा मोहनीयकर्म समझाइए !

उत्तर—जो कर्म आत्मा के हित-अहित को पहचानने की और तद-नुसार आचरण करने की बुद्धि को मोहित (नष्ट) करता है, उसका नाम **मोहनीयकर्म** अथवा **मोहकर्म** है। मोहनीयकर्म मदिरा के समान है। जैसे—मदिरा (शराब) पीकर मनुष्य भले-बुरे का विवेक खो बैठता है, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से जीव सत्-असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है। अतः इसको नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस प्रकार सेनापति के मरते ही सारी सेना भाग जाती है, उसी प्रकार इस एक मोहकर्म के नष्ट होने पर सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं[1]। इसी के उदय से जीव बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है[2]।

प्रश्न २—मोहनीयकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर—दो भेद हैं—(१) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय[3]। जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में समझना दर्शन है अर्थात् तत्त्वार्थ—श्रद्धान (सम्यक्त्व) को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है—इस गुण को मोहित करनेवाला कर्म **दर्शनमोहनीय** है।

जिसके द्वारा आत्मा पूर्वसंचित-कर्मराशि को खपाकर अपने असली सच्चिदानन्दस्वरूप को अर्थात् मुक्त-अवस्था को प्राप्त करता है, उस

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध ५।

२. आचाराङ्ग ५।३।

३. स्था. २।४।१०५, कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा १३ तथा उत्तरा, ३३/८।

उत्कृष्ट आचरण का नाम **चारित्र** है। चारित्र आत्मा का प्रमुखगुण है। इस गुण को नष्ट करने वाला कर्म **चारित्रमोहनीय** है। मोहनीयकर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट ७० कोटाकोटि सागर है तथा अवाधाकाल उत्कृष्ट ७००० वर्ष है।[1]

प्रश्न ३—दर्शन मोहनीयकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर—तीन भेद हैं[2]—सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय और मिश्रवेदनीय अथवा सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय।

१. जो क्षायिक एवं औपशमिकसम्यक्त्व को मोहित करता है—रोकता है तथा जिसमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का वेदन-अनुभव विद्यमान रहता है उसको **सम्यक्त्वमोहनीय या सम्यक्त्ववेदनीय** कहते हैं। उक्त कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर से कुछ अधिक है।

२. जो कर्म सम्यक्त्व मात्र को मोहित करता है एवं जिसमें प्रति समय मिथ्यात्व का वेदन रहता है, उसे **मिथ्यात्वमोहनीय या मिथ्यात्ववेदनीय** कहते हैं। उक्त कर्म के उदय से जीव सच्चे देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा नहीं करता अथवा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म में विश्वास करता है। इसकी उत्कृष्ट-स्थिति ७० कोटाकोटि सागर है। इस कर्म के तीव्र उदय से जीव धर्म की वात सुन भी नहीं सकता।

३. जो कर्म तत्त्वार्थ-श्रद्धा में डगमग स्थिति रखता है उसे **मिश्र-मोहनीय या मिश्रवेदनीय** कहते हैं। उक्त कर्म की स्थिति जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त है। उसके बाद या तो जीव पहले गुणस्थान में आकर मिथ्या-दृष्टि वन जाता है या चौथे गुणस्थान में जाकर सम्यग्दृष्टि वन जाता है लेकिन शंकाशील अवस्था में अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं रहता।

प्रश्न ४—चारित्रमोहनीय के कितने भेद हैं ?

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

२. उत्तरा. ३३।९ तथा प्रज्ञापना २३।२।

उत्तर—दो भेद हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय अथवा कषायमोहनीय एवं नोकषायमोहनीय[1]। जिस कर्म के उदय से प्रति समय कषाय का वेदन होता है एवं कषाय द्वारा जीव मोहित-विवेक शून्य हो जाता है, उस कर्म को **कषायवेदनीय या कषायमोहनीय** कहते हैं। कष अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार की जिससे आय-प्राप्ति होती है, वह **कषाय** है अथवा जो कई प्रकार के सुख-दुःख के फल योग्य—कर्मक्षेत्र का कर्षण करता है, और आत्मा के शुद्ध स्वरूप को मलिन करता है, उसका नाम कषाय है[2]। कषाय जाज्वल्यमान अग्नि के समान है[3] एवं जन्म-मरण रूप वृक्ष के मूल को सींचने वाला है[4]। इसके मूल भेद चार हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ। प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन—ऐसे चार-चार भेद होने से कषाय वेदनीय के १६ भेद हो जाते हैं[5]।

प्रश्न ५—अनन्तानुबन्धि आदि कषायों का क्या रहस्य है?

उत्तर—**अनन्तानुबन्धिकषाय**—जिस कषाय के प्रभाव से जीव उत्कृष्ट अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है, उसे **अनन्तानुबन्धि-कषाय** कहते हैं। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है एवं जीवन-पर्यन्त बना रहता है।

अप्रत्याख्यानकषाय—जिस कषाय के उदय से जीव देशविरति-रूप थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान-त्याग नहीं कर सकता, उसे **अप्रत्याख्यानकषाय** कहते हैं। यह कषायश्रावक धर्म (अणुव्रतादिरूप) की प्राप्ति नहीं होने देता एवं एक वर्ष तक बना रहता है।

(यहां ध्यान देने की बात यह है कि चाहे आपस में कितना ही वैर-

---

१. कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा १७ तथा उत्तरा. ३३।१०।

. प्रज्ञापना पद १४ टीका।

३. उत्तरा. २३।५३।

४. दशवै. ८।४०।

५. उत्तरा. ३३।११।

विरोध एवं मनमुटाव हो गया हो, संवत्सरी-महापर्व के अवसर पर खमत-खामना कर ही लेना चाहिए। क्योंकि नहीं करने से सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।)

प्रत्याख्यानावरणकषाय—जिसके उदय से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान अर्थात् साधुधर्म (महाव्रतरूप) की प्राप्ति नहीं होती, वह **प्रत्याख्याना-वरणकषाय** है। इसकी स्थिति चार मास की है।

संज्वलनकषाय—जो कषाय परीषह तथा उपसर्ग के आ जाने पर साधुओं को भी कुछ-कुछ जलाने लगता है अर्थात् उन पर भी अपना कुछ प्रभाव डाल देता है, उसे **संज्वलनकषाय** कहते हैं। यह साधुपने में तो बाधा नहीं डालता किन्तु यथाख्यातचारित्र (दसवें से आगे के गुणस्थानों) को नहीं आने देता। इसकी स्थिति अर्धमास की है[1]।

प्रश्न ६—क्रोध का क्या अर्थ है ?

उत्तर—क्रोधवेदनीयकर्म के उदय से होनेवाला, कृत्य-अकृत्य के विवेक को नष्ट करनेवाला प्रज्वलनस्वरूप आत्मा का परिणाम **क्रोध** है। क्रोधी जीव किसी की बात नहीं सह सकता। वह बिना विचारे अपने-पराए अनिष्ट के लिए अन्दर एवं बाहर जलता ही रहता है। क्रोध से आत्मा नीचे गिरती है[2], क्रोध प्रीति का नाश करनेवाला है[3], क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन है[4] एवं क्रोध तीक्ष्ण तलवार के समान है[5]। इसको उपशान्तभाव से नष्ट करना चाहिए[6]।

---

१. प्रज्ञापना १४।१८८ एवं २३।२९३ टीका तथा स्था० ४।१।२४९ टीका।
२. उत्तरा. ९।५४।
३. दशवै. ८।३८।
४. माघ कवि।
५. वाल्मीकि-रामायण।
६. दशवै. ८।३९।

क्रोध के चार भेद हैं[1]—(१) अनन्तानुबन्धिक्रोध (२) अप्रत्याख्यान-क्रोध (३) प्रत्याख्यानावरणक्रोध (४) संज्वलनक्रोध।

१. पर्वत के फटने पर जो दरार हो जाती है उसका मिलना बहुत कठिन है। उसी प्रकार जो क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता, उसे **अनन्तानुबन्धिक्रोध** कहते हैं।

२. सूखे तालाव आदि में जो दरार हो जाती है, वह वृष्टि होने से पुन: मिल जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है, उसे **अप्रत्याख्यानक्रोध** कहते हैं।

३. वालू-रेत में खींची हुई लकीर जैसे हवा से थोड़ी देर में वापस भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध साधारण उपायों से शान्त हो जाता है, उसे **प्रत्याख्यानावरणक्रोध** कहते हैं।

४. पानी में खींची हुई लकीर जैसे खींचने के साथ ही मिट जाती है, उसी प्रकार किसी विशेष कारण से आया हुआ क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है, उसे **संज्वलनक्रोध** कहते हैं।

प्रश्न ७—मान का अर्थ एवं भेद समझाइए !

उत्तर—मानवेदनीयकर्म के उदय से जाति आदि के विषय में अहंकार-बुद्धिरूप आत्मा के परिणाम का नाम **मान** है। मान के वश आत्मा में छोटे-बड़े के प्रति उचित नम्र-भाव नहीं रहता। अभिमानी जीव अपने आपको वड़ा और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है किन्तु उनके गुणों को सहन नहीं कर सकता। भगवान ने कहा है कि मान विनय को नष्ट करनेवाला है[2]। अभिमान करता हुआ मनुष्य महा-मोह से विवेकशून्य हो जाता है[3], अत: मान को नम्रता से जीतना चाहिए।[4]

---

१. स्था० ४।२।२६३ प्रज्ञापना १४।१८८ तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा १६।

२. दशवै. ८।३८।

३. आचाराङ्ग ५।४।

४. दशवै. ८।३६।

मान के चार भेद हैं[1]—(१) अनन्तानुबन्धिमान, (२) अप्रत्याख्यान-मान, (३) प्रत्याख्यानावरणमान, (४) संज्वलनमान।

१. जैसे—पत्थर का खम्भा टूट जाता है लेकिन नमता नहीं। उसी प्रकार जो मान किसी भी प्रकार से दूर न किया जा सके, वह **अनन्तानुबन्धि मान है।**

२. जैसे—हड्डी का खम्भा अनेक कठिन उपायों से नमता है, उसी प्रकार जो मान अति परिश्रम करने से दूर होता है, वह **अप्रत्याख्यानमान** है।

३. जैसे—काठ का खम्भा तेल आदि में रखने से जल्दी ही नम जाता है, उसी प्रकार जो मान साधारणउपायों से मिट जाता है, वह **अप्रत्याख्यानावरण मान** है।

४ जैसे—लता या तिनकों का खम्भा विना परिश्रम किए सहज में नम जाता है, उसी प्रकार जो मान सहज में ही छूट जाता है, वह **संज्वलन-मान** है।

प्रश्न ८—माया का रहस्य बतलाइए!

उत्तर—मायावेदनीयकर्म के उदय से मन-वचन-काया की कुटिलता द्वारा उत्पन्न प्रवञ्चना अर्थात् दूसरों के साथ कपट एवं ठगाई रूप आत्मा के परिणामविशेष को **माया** कहते हैं। माया सद्‌गति का नाश करने वाली है[2], मित्रों का नाश करने वाली है,[3] दुर्भाग्य को जन्म देने वाली है और दुर्गति का कारण है[4], अतः सरलता से माया को जीतना चाहिए[5], क्योंकि दूसरों को ठगने वाले वास्तव में स्वयं ही ठगे जाते हैं[6]।

---

१. स्था० ४।२।२९३, प्रज्ञापना १४।१८८ तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा १९।
२. उत्तरा० ६।५४।
३. दशवै० ८।३८।
४. विवेकविलास।
५. दशवै० ८।३९।
६. उपदेशप्रासाद।

माया के चार प्रकार हैं[1]—(१) अनन्तानुवन्धिमाया, (२) अप्रत्याख्यानमाया, (३) प्रत्याख्यानावरणमाया, (४) संज्वलनमाया।

१. जैसे वांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं हो सकता, उसी प्रकार जो माया-वक्रता किसी भी तरह न मिटे, अर्थात् सरलता के रूप में परिणत न हो, वह **अनन्तानुवन्धिमाया** है।

२. जिस प्रकार मेंढे का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर वड़ी मुश्किल से सीधा होता है, वैसे ही जो माया अत्यधिक परिश्रम से दूर होती है, वह **अप्रत्याख्यानमाया** है।

३. जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूखने पर पवनादि से मिट जाती है, वैसे जो माया सरलतापूर्वक मिट जाती है, वह **प्रत्याख्यानावरणमाया** है।

४. छीले जाते हुए वांस के छिलकों का टेढ़ापन जैसे विशेष प्रयत्न किए विना ही मिट जाता है, वैसे जो माया अपने आप ही दूर हो जाती है, वह **संज्वलनमाया** है।

प्रश्न ९—लोभ का विवेचन कीजिए!

उत्तर—लोभवेदनीयकर्म के उदय से उत्पन्न द्रव्यादि-विपयक इच्छा, मूर्च्छा, ममत्वभाव एवं तृष्णा-असन्तोष रूप आत्मा के परिणामविशेष का नाम **लोभ** है।

लोभ दुःखों का घर है,[2] लोभ पापों का मूल है[3], लोभ सव गुणों का नाश करने वाला है[4], लोभ से इस लोक और परलोक दोनों में भय प्राप्त होता है[5], लोभ करनेवाला अपने लिए चारों ओर से वैर की वृद्धि करता

---

१. प्रज्ञापना १४।१८८, स्था० ४।२।२९३ तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा २०।

२. योगसार।

३. उपदेशमाला।

४. दशवै० ८।३८।

५. उत्तरा० ९।५४।।

है,[1] अतः इस लोभ को सन्तोप से जीतना चाहिए।[2]

लोभ के चार भेद हैं[3]—(१) अनन्तानुबन्धिलोभ, (२) अप्रत्याख्यान-लोभ, (३) प्रत्याख्यानावरणलोभ, (४) संज्वलनलोभ।

१. जैसे वस्त्र पर लगा हुआ किरमची (कृमि-रेशम का) रंग किसी भी उपाय से नहीं उतरता, उसी प्रकार जो दृढ़तमलोभ किसी भी तरह दूर नहीं होता, वह **अनन्तानुबन्धिलोभ** है।

२. वस्त्र पर लगा हुआ कीचड़ का दाग परिश्रम करने पर भी मुश्किल से मिटता है, उसी प्रकार जो लोभ अत्यधिक प्रयत्न करने से दूर होता है, उसे **अप्रत्याख्यानलोभ** कहते हैं।

३. जैसे वस्त्र पर लगा हुआ खंजन-गाड़ी के पहिए का कीटा साधारण परिश्रम से उतर जाता है, उसी प्रकार जो लोभ सामान्य प्रयत्न से दूर हो जाता है, उसे **प्रत्याख्यानावरणलोभ** कहते हैं।

४. जैसे—वस्त्र पर लगा हुआ हल्दी का रंग सहज में ही उड़ जाता है, उसी प्रकार जो लोभ विशेप प्रयत्न किए विना तत्काल अपने आप दूर हो जाता है, उसका नाम **संज्वलनलोभ** है।

अपेक्षा भेद से क्रोध आदि के चार-चार भेद दूसरे प्रकार से भी किए गए हैं[4]। क्रोध के यथा—(१) आभोगनिर्वतित, (२) अनाभोगनिर्वतित, (३) उपशान्त, (४) अनुपशान्त।

१. पुष्टकारण होने पर शिक्षा देने के लिए किया जानेवाला क्रोध **आभोगनिर्वतित** है। अथवा क्रोध के फल को जानते हुए किया गया क्रोध भी आभोगनिर्वतित कहलाता है।

२. गुण-दोष का विचार किए विना किया गया क्रोध अथवा फल-नतीजे को न जानते हुए किया गया क्रोध **अनाभोगनिर्वतित** है।

---

१. आचाराङ्ग २।५।

२. दशवै० ८।३६।

३. स्था० ४।२।२९३, प्रज्ञापना १४।१८८, तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा २०।

४. स्था० ४।१।२४९।

३. सत्ता (अनुदय-अवस्था) में रहा हुआ क्रोध उपशान्त कहलाता है।

४. उदय में आया हुआ क्रोध अनुपशान्त माना जाता है।

इसी प्रकार मान-माया-लोभ के भी चार-चार भेद समझ लेने चाहिए।

प्रश्न १०—क्रोध आदि की उत्पत्ति क्यों होती है?

उत्तर—चार कारणों से इनकी उत्पत्ति मानी गई है[1]—(१) क्षेत्र (अपने-अपने उत्पत्ति स्थान), (२) वस्तु—सचित्त-अचित्त-मिश्र अथवा वास्तु—घर आदि ढकी जमीन, (३) शरीर, (४) उपकरण। इन चारों के निमित्त से क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं। जैसे—अपने क्षेत्र आदि को कोई लेना चाहे तो उसके प्रति क्रोध होता है। मेरे क्षेत्र आदि सर्वश्रेष्ठ हैं—ऐसे मन में अभिमान होता है। क्षेत्र आदि की रक्षा के लिए अनेक प्रपंच रचे जाते हैं—यह माया है और अपने क्षेत्रादि पर ममत्वभाव रहता है—यह लोभ है।

क्रोध का स्थान सिर या नेत्र है, मान का स्थान गर्दन है, माया का स्थान उदर—पेट है और लोभ का स्थान साढ़े तीन करोड़ रोम हैं[2]।

प्रश्न ११—क्या गति की अपेक्षा से भी क्रोध आदि अधिक होते हैं?

उत्तर—हां! नरक में क्रोध अधिक है, तिर्यञ्चों में माया अधिक है, मनुष्यों में अभिमान अधिक है और देवताओं में लोभ अधिक है[3]।

प्रश्न १२—कषायवेदनीय व कषायमोहनीय का विवेचन तो समझ में आ गया, अब नोकषायवेदनीय एवं नोकषायमोहनीय का स्वरूप एवं भेद समझाइए!

उत्तर—जो क्रोधादि प्रधानकषायों के साथ ही उत्पन्न होते हैं, उन्हें

---

१. स्था० ४।१।२४६।

२. जैनतत्त्वप्रकाश, खण्ड २, प्रकरण ३।

३. प्रज्ञापना १४।१८८।

उत्तेजित करते हैं एवं उन्हीं के साथ फल देते हैं, वे स्त्रीवेद आदि मानसिक विकार **नोकषाय** कहलाते हैं, कषायों के साथ उनकी वेदना (अनुभूति) होने से वे **नोकषायवेदनीय** कहलाते हैं तथा नोकषाय रूप से आत्मा को मोहित करने के कारण उन्हें **नोकषायमोहनीय** भी कहते हैं।

उनके नौ भेद हैं[1] :

(१) स्त्रीवेद, (२) पुरुषवेद, (३) नपुंसकवेद, (४) हास्य, (५) रति, (६) अरति, (७) भय, (८) शोक, (९) जुगुप्सा।

विवेचन इस प्रकार है—

१. **स्त्रीवेद**—जैसे पित्त के उदय से मीठा खाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है, उसका नाम **स्त्रीवेद** है। स्त्रीवेद अर्थात् स्त्री का कामसम्बन्धी-विकार। स्त्री की कामाभिलाषा छाणों की आग के समान अन्दर ही अन्दर धधकती रहती है। **चाणक्य** ने स्त्रियों का कामविकार पुरुषों से आठ गुणा माना है।[2]

२. **पुरुषवेद**—जैसे कफ के प्रकोप से खट्टी चीज़ खाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है, उस इच्छा का नाम **पुरुषवेद** है। यह दावानल (घास की अग्नि) के समान एकदम भड़क उठता है और फिर शान्त हो जाता है।

३. **नपुंसकवेद**—जैसे पित्त और कफ के प्रकोप से अत्यधिक दाह उत्पन्न होकर स्नान की इच्छा होती है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा हो, उसका नाम **नपुंसकवेद** है। यह कामविकार बड़े भारी नगर के दाहवत् तेज एवं चिरस्थायी होता है।

पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में उत्तरोत्तर वेदना अधिकाधिक

---

१. कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा १७ तथा स्था० ९।७०० तथा जीवाभिगम प्रति० २।

२. चाणक्यनीति १।१७।

रहती है। यहाँ कामवासना को अग्नि के समान कहा है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह बढ़ती जाती है, उसी प्रकार काम का सेवन करने से काम-पिपासा भी बढ़ती ही जाती है।

ये विषय-विकार ज़हर से भी अधिक खतरनाक हैं क्योंकि ज़हर तो खाने से मारता है और ये स्मरणमात्र से आत्मा का नाश कर देते हैं[2]। इन्हें किंपाक फलों की उपमा दी गई है।[3] किंपाकवृक्ष के फल खाने में मीठे तथा स्वादिष्ट होते हैं किन्तु अन्दर जाते ही खाने वाले को मार देते हैं, उसी प्रकार सेवन करते समय काम-भोग मीठे लगते हैं लेकिन आत्मा के गुणों का सर्वनाश करके प्राणी को संसार में भटका देते हैं।

४. हास्यवेदनीय—जिसके उदय से जीव सकारण या अकारण हँसने लगता है, उस कर्म को **हास्यवेदनीय** कहते हैं। हँसी, मज़ाक एवं भांडों जैसी कुचेष्टा करने से इस कर्म का बन्धन होता है, फलस्वरूप प्राणी हंसोकड़ बन जाते हैं।

चार कारणों से हास्य की उत्पत्ति होती है[४]—१. विदूषक-बहुरूपिया आदि की हास्यजनक चेष्टा करने से, २. हँसी की बात कहने से, ३. हँसी की बात सुनने से, ४. हँसी की बात या चेष्टा का स्मरण होने से।

साधुओं के लिए अधिक हँसना निषिद्ध है[५]। हास्य पैदा करनेवाली चेष्टाओं द्वारा जो साधु लोगों को हँसाते हैं एवं विस्मय में डालते हैं, वे मर कर कांदर्पिक देव अर्थात् स्वर्ग में भांड बन जाते हैं[६]।

५. रतिवेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव की सचित्त या अचित्त पदार्थों में रुचि-प्रीति होती है, उसे रतिवेदनीय कहते हैं, अथवा जिसके

---

१. मनुस्मृति २।६४।

२. उपदेशप्रासाद।

३. उत्तरा. १६।१२।

४. स्था. ४।१।२६ ए।

५. दशवै. ८।४२।

६. उत्तरा. ३६।२६६।

उदय से जीव असंयम में रति-आनन्द माने, वह कर्म रतिवेदनीय है।

वाह्य पदार्थों को देखने का या विविध क्रीड़ा का रसिक होने से, अधिक वाचाल होने से तथा कामन-टोने आदि करने से यह कर्म बंधता है।[1]

६. अरतिवेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव की सचित्तादि-पदार्थों में सकारण या अकारण अरुचि-अप्रीति होती है, उसका नाम अरतिवेदनीय है, संयम में अरुचि का होना भी इसी कर्म का प्रभाव है।

राज्य-भेद से, दूसरे को उच्चाट उत्पन्न करने से, पाप के कार्य में उत्साह दिखाने से एवं धार्मिक कार्य में उत्साह का भङ्ग करने से—इस कर्म का बन्ध होता है।

७. भयवेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को भय लगता है, उसका नाम भयवेदनीय है। दूसरों को भय उत्पन्न करने से, डराने से यह कर्म बंधता है।

भय लगने के चार कारण हैं[2]—१. शक्तिहीन होने से, २. भयवेदनीय कर्म के उदय से, ३. भय की वात सुनने से या भयानक दृश्य देखने से, ४. इहलोक आदि भय के कारणों को याद करने से।

भय के सात स्थान हैं अर्थात् सात प्रकार का भय होता है[3]—१. इहलोकभय, २. परलोकभय, ३. आदानभय, ४. अकस्माद्भय, ५. वेदना-भय, ६. मरणभय, ७. अश्लोकभय।

१. अपनी ही जाति के प्राणी से (मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यञ्च का तिर्यञ्च से, देव का देव से और नारकी का नारकी से) डरना इहलोक-भय है।

२. दूसरी जाति वालों से (मनुष्य का तिर्यञ्च या देवता से और तिर्यञ्च का मनुष्य या देवता से) डरना परलोकभय है।

३. धन आदि की रक्षा के लिए चोर-डाकू आदि से डरना आदानभय

---

१. जयाचार्यकृत-आराधना द्वार ३।

२. स्था. ४।४।३५६।

३. स्था. ७।५४९ तथा समवायाङ्ग ७।

है। आदानभय अर्थात् मेरा धन आदि कहीं कोई ले न ले—ऐसा सोचकर भयभीत होना।

४. विना किसी वाह्य कारण के अचानक डरने लगना **अकस्माद्भय** है।

५. रोग आदि की वेदना-पीड़ा से डरना **वेदनाभय** है।

६. मरने का नाम सुनकर डरने लगना **मरणभय** है।

७. जगत में मेरा अश्लोक-अपकीर्ति न हो जाय—ऐसे सोचकर डरना **अश्लोकभय** है।

मनुष्य को चाहिए कि वह न तो किसी से डरे और न किसी को डराए। जो किसी को नहीं डराता, वह स्वयं निडर-निर्भय होकर रह सकता है। अगर डरना ही है, तो पाप के कार्यों से डरो। पापों से डरना निर्भय वनने का एक उत्कृष्ट मार्ग है।

८. **शोकवेदनीय**—जिस कर्म के उदय से इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग आदि रूप शोक-फिक्र उत्पन्न होता है, उसका नाम **शोकवेदनीय** है। दूसरों को शोक उपजाने से यह कर्म वंधता है और फलस्वरूप प्राणी शोक से संतप्त होता है। **वाल्मीकि ऋषि** का कथन है कि[1] शोक धैर्य का नाश करता है, पढ़े हुए ज्ञान का नाश करता है। ज्ञान का ही क्या, समस्त गुणों का नाश करनेवाला है। इस शोक के समान जीव का कोई दुश्मन नहीं है। शोक के समय मनुष्य के सभी सुख चले जाते हैं। धृति-मति आदि कोई भी गुण उसके पास नहीं रहते।

चाणक्यजी ने कहा है कि[2] गई वस्तु का शोक मत करो और भविष्य की चिन्ता मत करो; क्योंकि विचक्षण लोग वर्तमान काल के अनुसार ही प्रवृत्ति किया करते हैं।

९. **जुगुप्सावेदनीय**—जिस कर्म के उदय से जीव के प्रति जुगुप्सा—घृणा उत्पन्न होती है, उसका नाम **जुगुप्सावेदनीय** है। किसी को गंदा या मैला देखकर मुंह विगाड़ने से इस कर्म का वन्ध होता है, फलस्वरूप प्राणी

---

१. वाल्मीकि-रामायण २।६२।१५।

२. चाणक्यनीति १३।२।

विश्व में घृणा का पात्र बन जाता है।

घृणा वास्तव में हृदय का पागलपन है,[1] घृणा मनुष्य का मौलिक पाप है[2] तथा घृणा शैतान का कार्य है[3]। किसी के प्रति लम्बे अरसे तक गुप्तघृणा रखने से एग्जिमा, दमा, हाई ब्लडप्रेसर या दृष्टि-दोष हो जाते हैं[4]।

बाइबिल का कथन है कि जो भी अपने बन्धुओं से घृणा करता है, वह अपराधी है। अगर घृणा करनी ही है तो व्यक्तियों के दुर्गुणों से घृणा करो, व्यक्तियों से नहीं।[5] गांधीजी ने कहा है कि प्रेम द्वारा घृणा पर विजय हो सकती है, घृणा द्वारा कभी भी नहीं। अस्तु, सबके विचारों का यही सार है कि किसी के प्रति घृणा मत करो।

(यह नोकषायवेदनीय का संक्षिप्त विवेचन समाप्त हुआ)

प्रश्न १३—जीव मोहनीयकर्म कैसे बांधता है ?

उत्तर—छः कारणों से जीव मोहनीयकर्म बांधता है[6]—१. तीव्र क्रोध से, २. तीव्र मान से, ३. तीव्र माया से, ४. तीव्र लोभ से, ५. तीव्रदर्शनमोहनीय से, ६. तीव्र चारित्रमोहनीय से। तत्त्व यह है कि तीव्रक्रोध करने से जीव क्रोध-वेदनीय कर्म बांधता है। फलस्वरूप वह महाक्रोधी बनता है। इसी प्रकार तीव्र मान, माया और लोभ करने से मानवेदनीय, मायावेदनीय और लोभ-वेदनीय का बन्ध होता है एवं इन कर्मों का उदय होने पर जीव महामानी, महामायी व महालोभी बनकर पुनः नए कर्मों का बन्ध करता है।

तीव्रदर्शनमोहनीय से अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्ररूपणा करके किसी को धर्मभ्रष्ट करने से जीव दर्शनमोहनीयकर्म बांधता है। उसका उदय होने पर मन में तत्त्व समझने की इच्छा नहीं होती और सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति

---

१. बायरन।

२. जर्मनलोकोक्ति।

३. भर्तृहरि।

४. अमरीका की रीड मेगजीन, अगस्त १९४५ से।

५. जे० जी० सी० बर्नार्ड।

६. भगवती ८।९।३५१।

सद्भावना नहीं होती। वहुत प्रयत्न करने पर भी कई व्यक्ति धर्म को नहीं समझ पाते एवं कइयों को धर्म का नाम तक नहीं सुहाता—यह उनके दर्शन-मोहनीयकर्म का तीव्र उदय समझना चाहिए।

तीव्रचारित्रमोहनीय से जो मोहनीयकर्म का वन्ध कहा है, वह स्त्रीवेद आदि नोकषायमोहनीय का वन्ध समझना चाहिए क्योंकि कषायमोहनीय का वन्ध तो तीव्रक्रोध, तीव्रमान, तीव्रमाया एवं तीव्रलोभ के अन्दर पहले ही आ गया।

प्रश्न १४—मोहनीयकर्म का अनुभाव कितने प्रकार से होता है?

उत्तर—पांच प्रकार से होता है[1]—(१) सम्यक्त्ववेदनीय, (२) मिथ्यात्ववेदनीय, (३) मिश्रवेदनीय, (४) कषायवेदनीय, (५) नोकषाय-वेदनीय। इन पांचों के रूप में मोहनीयकर्म भोगा जाता है। पांचों के २८ रूप बनते हैं। दर्शनमोहनीय के ३, कषायवेदनीय के १६ एवं नोकषाय-वेदनीय के ९ हैं—ये ही २८ मोहनीयकर्म की प्रकृतियां—स्वभाव हैं और ये २८ ही उन्हें भोगने के प्रकार हैं।

यह अनुभाव पुद्गल एवं पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा से होता है और स्वतः भी होता है। शम-संवेग आदि परिणाम के कारणभूत एक या अनेक पुद्गलों को पाकर जीव सम्यक्त्ववेदनीयादि कर्म—प्रकृतियों को वेदता है। देश-काल के अनुकूल आहारपरिणामरूप-पुद्गलों के परिणमन से जीव प्रशमादिभाव का अनुभव करता है।

आहार के परिणाम विशेष से भी कभी-कभी कर्मपुद्गलों में विशेषता आ जाती है। जैसे—ब्राह्मी औषधि आदि आहारपरिणाम से ज्ञानावरणीय का विशेष क्षयोपशम होना प्रसिद्ध ही है। भगवती सूत्र की टीका में कहा है कि कर्मों के जो उदय, क्षय और क्षयोपशम कहे गये हैं, वे सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव पाकर होते हैं।

---

1. प्रज्ञापना २३।१।२९२–२९४, कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा १३-२२ तथा तत्त्वार्थ. अ. ८

वादलों के विकार आदि रूप स्वाभाविकपुद्गलपरिणाम से भी वैराग्यादि हो जाते हैं।

इस प्रकार शम-संवेग आदि परिणामों के कारणभूत जो भी पुद्गलादि हैं, उनका निमित्त पाकर जीव सम्यक्त्वादि रूप से मोहनीय कर्म को भोगता है—यह परतः अनुभाव हुआ। सम्यक्त्वमोहनीयादि कार्मणपुद्गलों के निमित्त से जो प्रशमादि भाव होते हैं, वह स्वतः अनुभाव है।

प्रश्न १५—मोहनीयकर्म बांधने के ऊपर जो कारण कहे हैं, क्या उनके सिवा और भी कोई कारण हैं ?

उत्तर—हां। जैनशास्त्रों में महामोहनीयकर्म वांधने के तीस कारण वतलाए हैं।[1] तीव्रअशुभपरिणामों से—इन ३० कार्यों का वार-वार सेवन करता हुआ जीव महामोहनीयकर्म वांधता है एवं सैंकड़ों जन्मों तक दुःखों का उपभोग करता है।

१. त्रस जीव को पानी में डुवोकर मारने वाला महामोहनीयकर्म वांधता है।

२. त्रसजीव के कान-मुख आदि को हाथों से ढककर एवं उसका श्वास रोककर मारने वाला जीव महामोहनीयकर्म बांधता है।

३. जो प्राणियों को वाड़े आदि में घेरकर चारों तरफ आग लगा देता है और धुएं से दम घोटकर उन्हें निर्दयतापूर्वक मारता है, वह महामोहनीयकर्म वांधता है।

४. जो खड्ग आदि शस्त्रों से सिर काटकर प्राणियों को मारता है, वह महामोहनीय कर्म वाँधता है।

५. जो किसी प्राणी के मस्तक पर कसकर गीला चमड़ा वांधता है एवं इस प्रकार उसे निर्दयतापूर्वक मारता है, वह महामोहनीय कर्म वाँधता है।

६. जो विश्वस्तवेश वनाकर पथिकों को धोखा देता है, उन्हें निर्जन स्थान में ले जाकर शस्त्रादि से मारता है एवं अपनी धूर्तता पर प्रसन्न

1. दशाश्रुतस्कन्ध ९, समवायाङ्ग ३०, उत्तरा. ३१।१९ तथा हरिभद्रीयावश्यक-प्रतिक्रमणाध्ययन, पृष्ठ ६६०।

होता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

७. जो अपने गुप्त अनाचारों को छिपाता है, अपनी माया से दूसरों की माया को ढकता है, असत्य बोलता है, अपने मूल-उत्तर गुणों के दोषों को छिपाता है और आगमों का अपनी इच्छानुसार अर्थ करके उनकी वास्तविकता को छिपाता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

८. जो अपना किया हुआ ऋषिघातादि पाप किसी निर्दोष व्यक्ति पर लगाता है तथा जान-बूझकर एक व्यक्ति का किया हुआ दोष लोगों के सामने दूसरे व्यक्ति के सिर पर मढ देता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

९. जो यथार्थता को जानकर भी सभा में मिश्रभाषा बोलता है तथा सदा कलह को उत्तेजित करता रहता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

१०. जो मन्त्री होकर राजरानियों का एवं राज्यलक्ष्मी का ध्वंस करता है, सामन्तों में भेद डालकर राजा को क्षुब्ध करता है, अनुनय-विनय करने पर अनिष्ट वचनों से उसका अपमान करता है एवं उसे राज्यभ्रष्ट करके स्वयं राजा बन जाता है—वह कृतघ्न महामोहनीयकर्म बांधता है।

११. जो बालब्रह्मचारी न होकर मैं 'बालब्रह्मचारी हूं' ऐसी घोषणा करता है और स्त्री-सुखों में गृद्ध होकर स्त्रियों के साथ निवास करता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

१२. जो अब्रह्मचारी होकर भी लोगों को ठगने के लिए अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है, वह मायामृषायुक्तभाषा बोलता हुआ स्त्रीसुखों का लम्पट अपनी आत्मा का अहित करता है एवं महामोहनीय कर्म बाँधता है

१३. जो व्यक्ति जिस राजा या सेठ के आश्रय से जीता है, लालच में आकर यदि उसी राजा या सेठ का धन हड़पना चाहे, तो वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

१४. किसी गरीब-असमर्थ व्यक्ति को स्वामी ने अथवा जन-समूह ने धनी या समर्थ बना दिया। वह यदि कृतघ्न होकर अपने उपकारियों के साथ ईर्ष्या-द्वेष करता हुआ, उनकी सुख-सामग्री में विघ्न-बाधा डाले तो वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

१५. सर्पिणी जैसे अपने अण्डों के समूह को खा जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने स्वामी को, सेनापति राजा को तथा शिष्य अपने कलाचार्य एवं धर्माचार्य को मार डालता है, तो वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

(उपरोक्त व्यक्तियों को मारने से उनके आश्रित अनेक व्यक्तियों की दशा शोचनीय हो जाती है।)

१६. जो देश के राजा, निगम (वणिक्-समूह) के नेता यशस्वी-सेठ की हत्या करता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

१७. जो व्यक्ति बहुत लोगों का नेता है एवं समुद्र में गिरे हुए को द्वीपवत् आधारभूत है अथवा दीपवत् ज्ञान-अन्धकार को मिटाने वाला महात्मा है, उसकी हत्या करने वाला महामोहनीयकर्म बांधता है।

१८. जो व्यक्ति संयम लेना चाहता है अर्थात् वैरागी है अथवा जो साधु बनकर घोर तपस्या कर रहा है, उन दोनों को जो श्रुत-चारित्र धर्म से भ्रष्ट करता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

१९. जो अज्ञानी, अनन्तज्ञान-दर्शन के धारक सर्वज्ञ-भगवान के सम्बन्ध में सर्वज्ञ है ही नहीं, सर्वज्ञ की कल्पना ही भ्रान्त है—ऐसे अवर्णवाद बोलता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

२०. जो दुष्टात्मा सम्यग्ज्ञान-दर्शन रूप, न्यायसंगत-मोक्षमार्ग की बुराई करता है एवं उसके विरुद्ध प्रचार करके लोगों को बहकाता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

२१. जिन आचार्य-उपाध्याय से विनय की शिक्षा मिली है, जो शिष्य उन्हीं के ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निन्दा करता है; जैसे—ये आचार्य-उपाध्याय अल्पज्ञान वाले हैं, अन्यतीर्थिकों के संसर्ग से इनका सम्यग्दर्शन मलिन हो गया है तथा पासत्थे आदि की संगति से इनका चारित्र भी दूषित बन गया है—इस प्रकार गुरु का निन्दक कृतघ्न-शिष्य महामोहनीयकर्म बांधता है।

२२. जिन आचार्य-उपाध्यायों की कृपा से ज्ञान एवं योग्यता प्राप्त हुई है, शिष्य उनकी आहार-उपधि आदि द्वारा यदि विनय-भक्ति नहीं करता

एवं अपने ज्ञान का अभिमान करता है, तो वह महामोहनीयकर्म वांधता है।

२३. जो अवहुश्रुत होते हुए भी मैं श्रुतवान हूं, अनुयोगधर हूं, इस प्रकार अपनी श्लाघा करता है (क्या तुम अनुयोगाचार्य हो ? वाचक हो ? इस प्रकार किसी के पूछने पर, वैसा न होने पर भी झूठी हां कह देता है।) तथा मैं ही शुद्ध स्वाध्याय करनेवाला हूं—ऐसी अपनी झूठी प्रशंसा करता है, वह महामोहनीयकर्म वांधता है।

२४. जो तपस्वी न होते हुए भी यश और ख्याति से अपने आपको तपस्वी प्रसिद्ध करता है—ऐसा व्यक्ति जगत् में सब से वड़ा चोर है एवं महामोहनीयकर्म वाँधता है।

२५. जो व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय एवं दूसरे साधुओं के वीमार होने पर शक्ति होते हुए भी मैं **बीमार था तब इन लोगों ने मेरी सेवा नहीं की**—ऐसे विचार कर उनकी सेवा नहीं करता एवं सेवा से वचने के लिए छल-कपट का आश्रय लेता है, ऐसा धूर्त व्यक्ति प्रभु-आज्ञा की विराधना करके अपनी आत्मा के लिए अवोधिभाव उत्पन्न करता है तथा महामोहनीय-कर्म वांधता है।

२६. जो व्यक्ति हिंसाकारी शस्त्रों का और राजकथा आदि हिंसक एवं कामोत्पादक विकथाओं का वार-वार प्रयोग करता है, वह संसार-समुद्र से तिराने वाले ज्ञानादि तीर्थों का भेद करता हुआ, महामोहनीयकर्म वांधता है।

२७. जो व्यक्ति अपनी प्रशंसा के लिए एवं दूसरों से मित्रता करने के लिए अधार्मिक एवं हिंसात्मक निमित्त-वशीकरण आदि योगों का प्रयोग करता है, वह महामोहनीयकर्म वाँधता है।

२८. जो व्यक्ति देव-मनुष्य सम्वन्धी काम-भोगों से अतृप्त वनकर उनमें वहुत ज्यादा आसक्त रहता है, वह महामोहनीयकर्म वांधता है।

२९. जो व्यक्ति अनेक अतिशयवाले वैमानिकादि देवों के ऋद्धि-द्युति-यश-वर्ण-वल-वीर्य आदि का अभाव वतलाता हुआ उनका अवर्णवाद वोलता है, वह महामोहनीयकर्म वांधता है।

३०. जो अज्ञानी सर्वज्ञ भगवान की तरह पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा से देव (ज्योतिष्क-वैमानिक), यक्ष (व्यन्तर), गुह्यक (भवनपति), इनको न देखता हुआ भी, ये मुझे दिखाई देते हैं—ऐसा कहता है, वह महामोहनीयकर्म बांधता है।

महामोह को उत्पन्न करने वाले इन कार्यों को छोड़कर साधुओं को क्षान्ति आदि दस धर्मों की आराधना करनी चाहिए।

प्रश्न १६—आयुकर्म समझाइए !

उत्तर—जिसकी विद्यमानता में जीव जीता है एवं पूरा होने पर मरता है या जिसके उदय से जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है अथवा स्वकृतकर्म से प्राप्त नरकादि-दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल सकता, तथा जिसके उदय में आने पर भवविशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं एवं जो प्रतिसमय भोगा जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं[1]।

यह कर्म कारागार-कैद के समान है। जिस प्रकार कैद में दिया हुआ व्यक्ति नियत समय से पहले नहीं छूट सकता, उसी प्रकार इस आयुकर्म के कारण जीव निश्चित समय तक एक शरीर में बंधा रहता है। आयुकर्म के चार भेद हैं—

१. नरकायु, २. तिर्यञ्चायु, ३. मनुष्यायु, ४. देवायु।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त है एवं उत्कृष्ट तीस सागरोपम है।

प्रश्न १७—नरकादि-आयु का बन्ध कैसे होता है ?

उत्तर—प्रत्येक के चार-चार कारण माने गए हैं। जैसे[2]—**चार कारणों से जीव नरक का आयुष्य बांधता है**—१. महारम्भ से—तीव्र-कषायपूर्वक-जीवहिंसा करने से, २. महापरिग्रह से—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा करने से, ३. पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करने से, ४. मांस का भोजन

१. प्रज्ञापना २३।२।

२. भगवती ८।९।३५१ स्था. ४।४।३७३।

करने से।

चार कारणों से जीव तिर्यञ्च का आयुष्य बांधता है—१. माया-कपट करने से, २. निकृति—गूढ़माया करने से (ढोंग करके दूसरों को ठगने से), ३. असत्य बोलने से, ४. झूठा तोल-माप करने से अर्थात् माल लेते समय बड़े और देते समय छोटे माप-तोल का उपयोग करने से।

चार कारणों से जीव मनुष्य का आयुष्य बांधता है—१. प्रकृति-भद्रता यानी सरल स्वभाव से, २. प्रकृति की विनीतता से (विनीत स्वभाववाला होने से, ३. दयावान होने से, ४. मत्सर-ईर्ष्याभाव न रखने-वाला होने से।

चार कारणों से जीव देवता का आयुष्य बांधता है—१. सराग-अवस्था में संयम पालने से, २. श्रावकपना पालने से, ३. अकाम-निर्जरा से, ४. अज्ञान अवस्था में काय-क्लेश आदि तप करने से।

प्रश्न १८—अल्प आयु और दीर्घआयु का बन्ध कैसे होता है?

उत्तर—तीन कारणों से जीव अल्प आयु बांधता है[1]—१. प्राणियों की हिंसा करने से, २. झूठ बोलने से, ३. तथारूप श्रमणमाहण को अर्थात् शुद्ध-साधु को अप्रासुक (सचित्त) अकल्पनीय (आधाकर्मादि-दोषयुक्त) अशन-पान-खादिम-स्वादिम ऐसे चारों प्रकार का आहार देने से।

कम से कम अल्प आयु २५६ आवलिका की होती है। निगोद के जीव इसी अल्प आयु के हिसाब से एक मुहूर्त में ६५५३६ भव करते हैं—इनका दुःख नरक से भी अधिक माना गया है। साधु को अशुद्ध दान देने से उत्कृष्ट स्थिति में ऐसा दुःख भी मिल सकता है, अतः दान देनेवाले श्रावकों को दान देते समय शुद्ध-अशुद्ध का पूरा-पूरा विचार करना चाहिए।

तीन कारणों से जीव अशुभ-दीर्घ आयु बांधता है[2]—(१) जीव-हिंसा करने से, (२) असत्य बोलने से, (३) शुद्ध साधु की निन्दा, हिंसा,

१. स्था. ३।१।१२५ तथा भगवती ५।६।२०४।

२. स्था. ३।१।१२५।

गर्हा एवं अपमान करने से तथा उन्हें द्वेष-बुद्धि से अमनोज्ञ-दुःखकारी-आहार आदि देने से।

अशुभ-दीर्घ आयु उत्कृष्ट ३३ सागर की सातवीं नरक में होती है। साधु को अमनोज्ञ आहार आदि देने से जीव नागश्री ब्राह्मणी की तरह नरकों के घोर-दुःखों को प्राप्त करता है।

तीन कारणों से जीव शुभ-दीर्घ आयु बांधता है[1]—(१) जीव-हिंसा का त्याग करने से, (२) असत्य का त्याग करने से, (३) शुद्ध साधुओं को वन्दना-नमस्कार करने से, सत्कार-सम्मान देने से, उनकी सेवा करने से तथा उन्हें प्रीतिकारी-आहार आदि देने से। शुभदीर्घआयु उत्कृष्ट ३३ सागर के छब्बीसवें स्वर्ग में होती है।

प्रश्न १९—आयुबन्ध का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए जाति गति,स्थिति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाग—इन छः चीजों का बांधना आयुबन्ध कहा जाता है। इसके छः भेद हैं।[2]

(१) जातिनामनिधत्तायु,(२) गतिनामनिधत्तायु,(३) स्थितिनाम-निधत्तायु, (४) अवगाहनानामनिधत्तायु, (५) प्रदेशनामनिधत्तायु और (६) अनुभागनामनिधत्तायु।

१. एकेन्द्रियादि-जातिनामकर्म के साथ निधत्त-निषेक[3] को प्राप्त आयु **जातिनामनिधत्तायु** है। इसमें आयुकर्म के पुद्गल जातिनामकर्म के पुद्गलों के साथ जुड़ जाते हैं।

२. गतिनामकर्म के साथ निषेक को प्राप्त हुआ आयु **गतिनाम-निधत्तायु** है।

३. आयुकर्म द्वारा जीव का विशिष्ट-भव में रहना स्थिति है। स्थिति-रूप परिणाम के साथ निषेक को प्राप्त आयु **स्थितिनामनिधत्तायु** है।

---

१. स्था. ३।१।१२५ तथा भगवती ५।६।२०४।

२. भगवती ६।८।२५० तथा स्था. ६।५३६।

३. फलभोग के लिए होनेवाली कर्मपुद्गलों की रचना विशेष को निषेक कहते हैं।

अथवा स्थितिनामकर्म के साथ निषेक को प्राप्त आयु स्थितिनामनिधत्तायु है। यहां स्थिति प्रदेश और अनुभाग, जाति, गति एवं अवगाहना के ही कहे गए हैं। जाति-गति आदि नामकर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्थिति-प्रदेश आदि भी नामकर्म के ही रूप हैं।

४. औदारिकशरीरादि नामकर्म रूप अवगाहना के साथ निषेक को प्राप्त आयु **अवगाहनानामनिधत्तायु** है।

यद्यपि अवगाहना के (शरीरादि की ऊंचाई, आकाशप्रदेश के जितने प्रदेशों में शरीरादि रहे हुए हैं—उतने आकाशप्रदेश का परिमाण एवं औदारिकादिशरीर आदि) अनेक अर्थ हैं। लेकिन यहां उसका अर्थ औदारिकादिशरीर ही इष्ट है क्योंकि किसी एक शरीर को अवगाह कर ही जीव रहता है।

५. प्रदेशनाम के साथ निषेक को प्राप्त आयु **प्रदेशनामनिधत्तायु** है। प्रदेशनाम की व्याख्या इस प्रकार है—जिस भव में कर्मों का प्रदेशोदय होता है, वह **प्रदेशनाम** है, अथवा परिमित परिमाणवाले आयुकर्म के दलिकों का आत्मप्रदेश के साथ सम्बन्ध होना प्रदेशनाम है। अथवा आयु-कर्म-द्रव्य का प्रदेशरूप परिणाम प्रदेशनाम है। अथवा प्रदेशरूप गति, जाति और अवगाहना नामकर्म प्रदेशनाम है।

६. आयुद्रव्य का विपाकरूप परिणाम अथवा अनुभागरूप नामकर्म अनुभागनाम है। अनुभाग नाम के साथ निषेक को प्राप्त आयु **अनुभाग-नामनिधत्तायु** है।

जाति आदि नामकर्म के विशेष से आयु के भेद बताने का यह आशय है कि आयुकर्म प्रधान है। यही कारण है कि नरकादि-आयु का उदय होने पर ही जाति आदि नामकर्म का उदय होता है।

जैसे—आयुकर्म बांधते समय जीव ने सर्वप्रथम जाति का निश्चय किया कि पञ्चेन्द्रियजाति में जाना है। पञ्चेन्द्रियजातिवाले तो नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवता चारों होते हैं अतः फिर निश्चय किया कि उसे देवगति में जाना है। देवगति में तो स्थिति—१० हजार वर्ष से लेकर ३३ सागर

तक की है। अतः फिर निश्चय करेगा कि उसे ५ पल्य या पांच सागर की स्थिति में उत्पन्न होना है। इस प्रकार जाति-गति और स्थिति का निश्चय होने के बाद अवगाहना का कर्म प्रदेशों के दलिकों का और फिर तीव्र-मन्द रस का निश्चय करता है।

प्रश्न २०—आगामी भव की आयु बांधते समय जीव कितने आकर्ष करता है?

उत्तर—जीव एक-दो-तीन यावत् आठ आकर्ष (प्रयत्नविशेष) करता है। तीव्र अध्यवसाय होते हैं तो एक ही आकर्ष करता है अर्थात् एक बार के प्रयत्न से ही आयु बांध लेता है। मन्द अध्यवसाय होने पर दो आकर्ष एवं मन्दतर अध्यवसाय होने पर तीन-चार-पांच यावत् आठ आकर्ष करने पड़ जाते हैं। जैसे—भयभीत गाय पानी पीती हुई बीच-बीच में रुकती है, उसी प्रकार आयु बांधते समय परिणामों की तीव्रता-मन्दता के कारण जीव को एक-दो यावत् आठ आकर्ष करने पड़ते हैं।[1]

प्रश्न २१—आयुपरिणाम का क्या अर्थ है?

उत्तर—आयुकर्म जिस-जिस रूप में परिणत होकर फल देता है, उसे आयुपरिणाम कहते हैं। आयुपरिणाम अर्थात् आयुष्यकर्म की स्वाभाविक परिणति। उसके नौ भेद हैं[2]—

१. गतिपरिणाम—इस स्वभाव से आयुष्यकर्म जीव को नरकादि निश्चित गतियां प्राप्त करवाता है।

२. गतिबन्धपरिणाम—इस स्वभाव से आयुष्यकर्म जीव के नियत-गति के कर्म का बन्ध करवाता है। जैसे—नारक जीव तिर्यञ्च या मनुष्य-गति का ही कर्म बांध सकता है, देव-नरक का नहीं।

३. स्थितिपरिणाम—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव गतिविशेष में अन्तर्मुहूर्त से लेकर ३३ सागर तक ठहरता है।

४. स्थितिबन्धपरिणाम—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव

---

१. स्था. ८।६८६।

आगामी-भव के लिए नियत स्थिति की आयु बांधता है। जैसे—तिर्यञ्च यदि देवगति की आयु बांधे तो उत्कृष्ट अठारह-सागरोपम की आयु बांधता है क्योंकि वह उत्कृष्ट आठवें स्वर्ग तक जा सकता है और वहां उत्कृष्ट आयु अठारह सागर की ही है।

५. **ऊर्ध्वगौरवपरिणाम**—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव ऊपर जाने की शक्ति प्राप्त करता है। पक्षियों में जो आकाश में उड़ने की शक्ति है, वह इसी के परिणाम का फल है।

६. **अधोगौरवपरिणाम**—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव नीचे जाने की शक्ति प्राप्त करता है।

७. **तिर्यग्गौरवपरिणाम**—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव तिरछा जाने की शक्ति पाता है।

८. **दीर्घगौरवपरिणाम**—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव बहुत दूर तक जाने की शक्ति पाता है। इस परिणाम के उत्कृष्ट होने से जीव लोक के एक कोने से दूसरे कोने तक जा सकता है।

९. **ह्रस्वगौरवपरिणाम**—आयुष्यकर्म के इस स्वभाव से जीव थोड़ी दूर चलने की शक्ति पाता है।

प्रश्न २२—जीव परभव के लिए आयुष्य कब बांधते हैं ?

उत्तर—नारक, देवता और असंख्य वर्ष की आयुवाले मनुष्य-तिर्यञ्च-ये निश्चित रूप से छह मास की आयु शेष रहती है, उस समय आगामी भव का आयुष्य बांधते हैं। संख्यातवर्ष वाले तिर्यञ्च-मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—सोपक्रम-आयुवाले और निरूपक्रम-आयुवाले[1]। निरूपक्रम-आयुवाले तो निश्चित रूप से आयु का—तीसरा भाग अवशिष्ट रहने पर परभव का आयु बांधते हैं। सोपक्रम-आयुवाले मनुष्य-तिर्यञ्च आयु का तीसरा, नौवां अथवा सत्ताईसवां भाग शेष रहने पर परभव का आयु बांधते हैं।[2]

---

१. सोपक्रम-निरुपक्रम आयुवालों से यहां अपवर्तनीय-अनपवर्तनीय आयुवालों का ग्रहण करना चाहिए।

२. प्रज्ञापना, ६ द्वार ८।

इस तत्त्व को दृष्टान्त से समझिए। जैसे—एक मनुष्य की आयु ९० वर्ष की है, तो वह सर्वप्रथम ६० वें वर्ष के अन्त में परभव का आयुष्य बांधेगा। कदाच उस समय न बांध सके तो नौवें भाग अर्थात् ८० वें वर्ष के अन्त में बांधेगा। यदि उस समय भी न बांध सके तो २७ वां भाग अर्थात् ८६$\frac{3}{4}$-वर्ष के अन्त में बांधेगा। कदाच वह अवसर भी हाथ से निकल जाए तो अवशिष्ट समय के तीन-तीन भाग करते-करते अन्तर्मुहूर्त आयु बाकी रहने पर तो अवश्य ही परभव का आयुष्य बांध लेगा, क्योंकि अगले भव का आयुष्य निश्चित हुए विना जीव मर नहीं सकता।

प्रश्न २३—सोपक्रम-निरूपक्रम आयु क्या है ?

उत्तर—वास्तव में आयु दो प्रकार की है[1]—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य-शस्त्रादि का निमित्त पाकर जो आयु बीच में टूट जाती है अर्थात् स्थिति पूर्ण होने के पहले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है, वह **अपवर्तनीयआयु** है। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोगकर ही समाप्त होती है, बीच में नहीं टूटती, वह **अनपवर्तनीय आयु** है।

अपवर्तनीयआयु सोपक्रम अर्थात् उपक्रम सहित होती है। विष-अग्नि-शस्त्रादि का उपक्रम-निमित्त प्राप्त होने पर वह टूट जाती है एवं जीव नियत समय से पूर्व ही मर जाता है। अनपवर्तनीयआयु सोपक्रम-निरूपक्रम दोनों प्रकार की होती है। सोपक्रम-अनपवर्तनीय आयुवाले जीव को अकालमृत्यु के योग्य विष-शस्त्रादि का उपक्रम होता है किन्तु उससे वह मर नहीं सकता तथा निरुपक्रमअनपवर्तनीयआयुवाले को उपक्रम होता ही नहीं (विष-शस्त्रादि निमित्त का प्राप्त होना उपक्रम है।)

प्रश्न २४—अगर आयु बीच में टूट जाती है तो उसका बचा हुआ अंश कब भोगा जाता है ?

उत्तर—टूट जाने का अर्थ यह नहीं है कि उसका अवशिष्ट अंश भोगे

---

१. तत्त्वार्थ. २।५२ तथा स्था० २।३।८५ टीका।

२. तत्त्वार्थ. २।५२ तथा स्था० २।३।८५ टीका।

विना रह जाता है, किन्तु वंधी हुई कालमर्यादा के अनुसार न भोगा जाकर एक साथ शीघ्र अन्तर्मुहूर्त में ही भोग लिया जाता है। दीर्घकाल की मर्यादावाले कर्म इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में कैसे भोग लिए जाते हैं—इस वात को समझने के लिए निम्नलिखित दो दृष्टान्त पढिए—

१. इकट्ठी की हुई सूखी तृणराशि के अवयवों को एक-एक करके क्रमशः जलाया जाये तो उस तृणराशि को जलने में अधिक समय लगेगा, लेकिन उसी तृणराशि का वंध ढीला करके उसमें चारों तरफ से आग लगा दी जाए एवं पवन अनुकूल हो, तो वह वहुत जल्दी जल जाएगी।

(यहां मोमवत्ती का हेतु भी लगाया जा सकता है। जैसे—दो घंटा तक जलनेवाली मोमवत्ती आग में डालने पर दो मिनट में ही जलकर नष्ट हो जाती है।)

२. एक धोया हुआ कपड़ा जल से भीगा ही इकट्ठा करके रखा जाए, तो वह देर में सूखेगा और यदि उसी को खूव निचोड़कर धूप में फैला दिया जाए तो तत्काल सूख जाएगा।

इन सव की तरह अपवर्तनीय आयु में आयुकर्म भोगा तो पूरा जाता है लेकिन शीघ्रता के साथ भोग लिया जाता है।

प्रश्न २५—अपवर्तनीय एवं अनपवर्तनीय आयु कैसे वंधती है?

उत्तर—भावी जन्म के आयु का वन्ध होते समय जीव के परिणाम यदि मन्द होते हैं, तो अपवर्तनीय आयु वंधती है। उस आयु का वन्ध शिथिल होता है एवं शस्त्रादि का निमित्त मिलने पर वन्धकाल की कालमर्यादा घट जाती है तथा आयुवन्ध के समय परिणाम यदि तीव्र होते हैं तो अनपवर्तनीय आयु वंधती है। उस आयु का वन्ध गाढ़ होता है अतः निमित्त मिलने पर भी वन्धकाल की कालमर्यादा कम नहीं होती एवं आयु एक साथ नहीं भोगी जाती।[1]

---

1. तत्त्वार्थ. २।५२ तथा स्था० २।३।८५ टीका।

प्रश्न २६—किन-किन की आयु अपवर्तनीय और किन-किन की आयु अनपवर्तनीय होती है ?

उत्तर—देवता, नारकी, असंख्यातवर्ष की आयुवाले मनुष्य—तिर्यञ्च (युगलिक), उत्तमपुरुष (तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि ६३ शलाकापुरुष) तथा चरमशरीरी (उसी भव में मोक्षगामी) जीव अनपवर्तनीयआयुवाले होते हैं एवं शेष जीव दोनों ही प्रकार की आयुवाले होते हैं।[1]

प्रश्न २७—आयु टूटने के कितने कारण हैं ?

उत्तर—निम्नलिखित सात कारण उपस्थित होने पर अपवर्तनीयआयु का भेद होता है अर्थात् वह टूट जाती है। सात कारण इस प्रकार हैं :[2]

(१) अध्यवसान—राग, स्नेह या भयरूप प्रवल आघात के लगने से।

(२) निमित्त—खड्ग, मुद्गर, दण्ड आदि शस्त्रों के प्रहार लगने से।

(३) आहार—अधिक भोजन या विषादियुक्त भोजन करने से।

(४) वेदना—अक्षिशूल, उदरशूल आदि द्वारा असह्यवेदना-पीड़ा होने से।

(५) पराघात—गड्ढे, कूप आदि में गिरने रूप वाह्य-आघात लगने से।

(६) स्पर्श—शरीर में विष फैलानेवाली वस्तु के स्पर्श से अथवा सर्प आदि ज़हरी-जन्तुओं के काटने से।

(७) आनप्राण—श्वास की गति वन्द हो जाने से।

प्रश्न २८—काल के परिवर्तनानुसार क्या आयु घटती-वढ़ती भी है ?

उत्तर—भरत-ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा मनुष्यों की आयु घटती-वढ़ती

---

१. तत्त्वार्थ. २।५२ तथा स्था० २।३।८५ की टीका।

२. स्था. ७।५६१।

है। जैसे[1]—अवसर्पिणीकाल के पहले आरे के प्रारम्भ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की होती है और अन्त में दो पल्योपम की। दूसरे आरे के प्रारम्भ में दो पल्योपम की और अन्त में एक पल्योपम की। तीसरे आरे के प्रारम्भ में एक पल्योपम की और अन्त में करोड़-पूर्व की। चौथे आरे के प्रारम्भ में करोड़पूर्व की और अन्त में साधिक-सौ वर्ष की। पांचवें आरे के प्रारम्भ में साधिक-सौ वर्ष की और अन्त में वीस वर्ष की तथा छठे आरे के प्रारम्भ में वीस वर्ष की और अन्त में सोलह वर्ष की आयु हो जाती है।

अवसर्पिणीकाल में जिस प्रकार आयु घटती है, उत्सर्पिणीकाल में क्रमशः उसी प्रकार बढ़ती जाती है। जैसे—उत्सर्पिणीकाल के पहले आरे के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु १६ वर्ष की होती है और अन्त में २० वर्ष की। दूसरे आरे के प्रारम्भ में २० वर्ष की एवं अन्त में साधिक-सौ वर्ष की, तीसरे आरे के प्रारम्भ में साधिक-सौ वर्ष की एवं अन्त में करोड़पूर्व की, चौथे आरे के प्रारम्भ में करोड़पूर्व की एवं अन्त में एक पल्योपम की, पाँचवें आरे के प्रारम्भ में एक पल्योपम की एवं अन्त में दो पल्योपम की तथा छठे आरे के प्रारम्भ में दो पल्योपम की एवं अन्त में तीन पल्योपम की हो जाती है (भरत-ऐरावत के तिर्यञ्चों की आयु में भी समयानुसार हानि-वृद्धि होती है)।

प्रश्न २९—अवसर्पिणीकाल के पाँचवें आरे के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु साधिक-सौ वर्ष की कही है, जिसमें लगभग १२५ वर्ष की आयु का समावेश हो सकता है, जबकि आज १६० वर्ष से भी अधिक लम्बी आयुवाले व्यक्तियों के अस्तित्व के समाचार समाचारपत्रों में प्रकाशित हो रहे हैं। देखिए—

(१) रूस में १०० वर्ष से अधिक लम्बी आयुवाले लगभग ३० हजार व्यक्ति हैं, उनमें ४०० महिलाएँ भी हैं। लम्बी आयुवाले व्यक्तियों में से एक व्यक्ति ने अभी-अभी अपना १६४ वाँ जन्मदिन मनाया है। वह

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—कालाधिकार २।

सोवियत रूस के अजरबैजान के तालियस पर्वतश्रेणी पर बहुत ऊँचाई में बसे हुए दारजाबू गाँव में रहता है एवं उसका नाम शिराली मुस्लिमोव है। इतनी लम्बी आयु होने पर भी वह बहुत स्वस्थ है।[1]

(२) तुर्की और सोवियत संघ की सीमा के समीप सार्प गाँव में एक वृद्धा रहती है, उसका नाम हेटिस नाइन है। आयु १६८ वर्ष की है, फिर भी वह पूर्ण स्वस्थ है। वृद्धा का जन्म सन् १७६५ में हुआ था, उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वाशिंगटन पदारूढ़ थे। सन् १८५३-५५ में हुए क्रीमिया के युद्ध की बातें उसे अच्छी तरह याद हैं। इसी युद्ध में घायल होकर उसका पुत्र मरा था।[2]

(३) १८० वर्षीय मुहम्मद अयूब, जो विश्व के सबसे बूढ़े व्यक्ति बताए जाते हैं। वह पूर्वोत्तर ईरान के सब्जावार क्षेत्र के निवासी हैं।[3]

शिराली मुस्लिमोव हेटिस नाइन मुहम्मद अयूब

१. हिन्दु० १९६९ जुलाई ४ यून्यू के अनुसार तथा सोवियत भूमि, अङ्क २०, अक्तूबर, १९६५ के आधार से।

२. नवभारत १९६३ जून २ के आधार से।

३. वीर अर्जुन १९७० जनवरी ११ के आधार से।

(४) गोलपाड़ा जिले के **किशनवारी** ग्राम का मुंशी **उमेदअली** एशिया का सबसे वृद्ध व्यक्ति माना जाता है। अली की आयु इस समय १८२ वर्ष की है। इस अवस्था में भी उसके अंग वहुत मजवूत हैं तथा दृष्टि और श्रवणशक्ति विलकुल ठीक हैं।

आगरा की जनसम्मानसमिति ने उसका सम्मान करने और उसे 'उचित पुरस्कार' देने की घोषणा की है। उसका परिवार अव ८०० सदस्यों का है, जिसमें उसके पोते और परपोते भी शामिल हैं।

मुंशी उमेद अली को आशा है कि वह अभी कम-से-कम दस वर्ष तक और जीवित रहेगा।[1]

(५) काहिरा में एक आदमी है जिसकी आयु लगभग २०० वर्ष की है और नाम **अमर-शाहत** है। उसकी पहली शादी ४२ वर्ष की आयु में तथा दूसरी शादी १२० वर्ष की आयु में हुई थी। उसका कहना है कि जव **वीर नेपोलियन** ने मिस्र को छोड़ा था, उससे कुछ समय पूर्व ही उसकी पहली शादी हुई थी।[2]

इन लंवी आयुवाले व्यक्तियों की उपलब्धि से क्या आगमवाणी में विसंवाद नहीं आता?

उत्तर—नहीं! किसी भी प्रकार का विसंवाद नहीं आता। यद्यपि साधिक-सौ वर्ष के आधार पर थोकड़ों में कई जगह १२५ वर्ष लिखे गए हैं लेकिन गम्भीरता से सोचने पर पता लगता है कि साधिक-सौ वर्ष से १९९ वर्ष तक की आयु का ग्रहण हो सकता है।

प्रश्न ३०—आयुकर्म का अनुभाव कितने प्रकार का है?

उत्तर—चार प्रकार का है[3]—(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु। तत्त्व यह है कि नरकादि चार गतियों के रूप में

---

१. हिन्दु० १९६७ दिसम्वर ३० के आधार से।
२. हिन्दु० १९५२ अप्रैल १२ के आधार से।
३. प्रज्ञापना २३।१।

जीवन बिताकर जीव आयुष्यकर्म भोगता है। यह आयु का भोग दो प्रकार से होता है—स्वतः और परतः।

एक या अनेक शस्त्रादि पुद्गलों के निमित्त से, विषमिश्रित-अन्नादि-रूप-पुद्गलपरिणाम से तथा शीतोष्णादिरूप स्वाभाविक-पुद्गलपरिणाम से, जीव आयु का भोग करता है, क्योंकि इनसे आयु की अपवर्तना होती है। यह परतः अनुभाव हुआ। नरकादि-आयुकर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है, वह स्वतः अनुभाव है।

चौथा पुञ्ज

प्रश्न १—नामकर्म का स्वरूप समझाइए !

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामों से सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देवता है—इस प्रकार कहा जाता है; **अथवा** जो जीव को विविध पर्यायों (अवस्थाओं) में परिणत करता है या जो जीव को गत्यादिपर्यायों का अनुभव करने के लिए उन्मुख करता है, उसे **नामकर्म** कहते हैं।

नामकर्म चित्रकार के समान है। जैसे—चित्रकार विविध वर्णों (रंगों) से अनेक प्रकार के सुन्दर-असुन्दर चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म जीव को सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक रूपों में परिणत करता है[1]। इसकी स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बीस कोटाकोटी-सागरोपम की है।[2]

प्रश्न २—नामकर्म की कितनी प्रकृतियां हैं ?

उत्तर—मूल प्रकृतियां ४२ हैं[3]—१४ पिण्ड-प्रकृतियां, ८ प्रत्येक-प्रकृतियां, त्रसदशक और स्थावरदशक। **चौदह पिण्डप्रकृतियां ये हैं**—(१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) अङ्गोपाङ्ग, (५) बन्धन, (६) संघात, (७) संहनन, (८) संस्थान, (९) वर्ण, (१०) गन्ध,

---

१. उत्तरा ३३।३ टीका।

२. प्रज्ञापना २३।२।

३. प्रज्ञापना २३।२।२९३, कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा २३–२७।

(११) रस, (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी, (१४) विहायोगति।

आठ प्रत्येकप्रकृतियां ये हैं—(१) पराघात, (२) उच्छ्‌वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थंकर, (७) निर्माण, (८) उपघात।

त्रसदशक की दस प्रकृतियां—(१) त्रस, (२) बादर, (३) पर्याप्त, (४) प्रत्येक, (५) स्थिर, (६) शुभ, (७) सुभग, (८) सुस्वर, (९) आदेय, (१०) यशःकीर्ति।

स्थावरदशक की दस प्रकृतियां—(१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्त, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दुर्भग, (८) दुःस्वर, (९) अनादेय, (१०) अयशः कीर्ति।

प्रश्न ३—पिण्डप्रकृतियों का विवेचन कीजिए!

उत्तर—पिण्ड का अर्थ है समूह। जिन प्रकृतियों के अन्दर अवान्तर-प्रकृतियों का समूह है, वे १४ पिण्डप्रकृतियां कहलाती हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

पहलागतिनामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि चारों गतियों में गमन करता है एवं नारक-तिर्यञ्च आदि नाम से पुकारा जाता है, उसको गतिनामकर्म कहते हैं एवं वह चार प्रकार का है—नरक-गतिनामकर्म यावत् देवगतिनामकर्म।

(क) **नरकगतिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को घोर दुःखमय-नरकजीवन मिलता है।

(ख) **तिर्यञ्चगतिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को दुःखबहुल-तिर्यञ्चजीवन मिलता है।

(ग) **मनुष्यगतिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को सुख-दुःख-मिश्रित मनुष्यजीवन मिलता है।

(घ) **देवगतिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को सुखमयदेवजीवन मिलता है। [गतिनामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली नरकादि पर्याय (अवस्था) **गति** कहलाती है।]

प्रश्न ४—दूसरा जातिनामकर्म समझाए !

उत्तर—जिसके उदय से जीव को द्रव्यइन्द्रियां-इन्द्रियों के आकार मिलते हैं एवं वह एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति आदि कहलाता है, उसको **जातिनामकर्म** कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—

(क) **एकेन्द्रियजातिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को एक स्पर्श-इन्द्रिय मिलती है एवं वह (पृथ्वी-अप्-तेजस्-वायु-वनस्पतिरूप) एकेन्द्रिय कहलाता है।

(ख) **द्वीन्द्रियजातिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श-रस दो इन्द्रियां मिलती हैं एवं वह (कृमि-लटें-घुण-अलसिया आदि रूप) द्वीन्द्रिय कहलाता है।

(ग) **त्रीन्द्रियजातिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श-रस-घ्राण ये तीन इन्द्रियां मिलती हैं एवं वह (कीड़े-मक्कड़-चिचड़ आदि रूप) त्रीन्द्रिय कहलाता है।

(घ) **चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को स्पर्श-रस-घ्राण-चक्षु ये चार इन्द्रियां मिलती हैं एवं वह (मक्खी-मच्छर आदि रूप) चतुरिन्द्रिय कहलाता है।

(च) **पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म**—इसके उदय से जीव को पांचों इन्द्रियां मिलती हैं एवं वह (नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवरूप) पञ्चेन्द्रिय कहलाता है।

अनेक व्यक्तियों में एकता की प्रतीति करानेवाले समानधर्म को **जाति** कहते हैं। जैसे—गोत्व (गायपना) सभी भिन्न-भिन्न वर्ण की गौओं में एकता का बोध कराता है, इसी प्रकार एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय जाति एक इन्द्रिय (स्पर्श-इन्द्रिय) वाले, दो इन्द्रिय (स्पर्श और रसना) वाले जीवों में एकता का ज्ञान कराती है। इसलिए एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय आदि जीव के भेद भी जाति कहलाते हैं।

प्रश्न ५—तीसरा शरीरनामकर्म बतलाइए !

उत्तर—जिसके उदय से जीव को औदारिकादि शरीर मिलते हैं,

उसको शरीरनामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—(१) औदारिक-शरीरनामकर्म, (२) वैक्रियशरीरनामकर्म, (३) आहारकशरीरनामकर्म, (४) तैजसशरीरनामकर्म, (५) कार्मणशरीरनामकर्म।

शरीर की व्याख्या इस प्रकार है—जो उत्पत्तिसमय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है, जिसके द्वारा भौतिक सुख-दुःख का अनुभव होता है तथा जो शरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न होता है, उसको शरीर कहते हैं। शरीर के पांच भेद हैं[1]—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस, (५) कार्मण। विवेचन नीचे पढ़िये—

(१) जो उदार अर्थात् स्थूलपुद्गलों से बनता है, जिस शरीर में तीर्थंकर-गणधर जैसे उदार (प्रधान) पुरुष उत्पन्न होते हैं, जिससे साधुपन, श्रावकपन, केवलज्ञान, मोक्ष आदि उदार (महान्) प्राप्तियां होती हैं, उसे औदारिक शरीर कहते हैं। अथवा अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से जो उदार अर्थात् विशालपरिमाणवाला होता है, उसे औदारिक शरीर कहते हैं। वनस्पतिकाय की अपेक्षा इसकी अवस्थित अवगाहना (ऊंचाई) एक हजार योजन की है। अन्य शरीरों की इससे कम है। यद्यपि उत्तरवैक्रिय की अपेक्षा वैक्रियशरीर की अनवस्थित-अवगाहना लाख योजन की है, किन्तु भवधारणीय-वैक्रियशरीर की उत्कृष्ट-अवगाहना (सातवीं नरक की अपेक्षा) पांच-सौ-धनुष से अधिक नहीं है।

औदारिकशरीर मांस-रुधिर अस्थि आदि से युक्त होता है। मरण के बाद यह शव—मुर्दा के रूप में पड़ा रहता है तथा इसका स्वभाव है गलना, सड़ना एवं विनाश होना।

(२) जिस शरीर से विविध अथवा विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं होती हैं, वह वैक्रियशरीर है। जैसे—एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना

---

१. स्था० ५।१।३९५, प्रज्ञापना २१।२६७, कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ३३, जैन सि० दी० ८।२६ तथा अनुयोगद्वार सूत्र १४३ टीका

एवं अनेक रूप होकर एक रूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर बनाना, बड़े शरीर से छोटा शरीर बनाना, पृथ्वी एवं आकाश पर चलने योग्य शरीर धारण करना तथा दृश्य-अदृश्य रूप बना लेना आदि-आदि। वैक्रिय शरीर में हाड़, मांस आदि अशुचिपदार्थ नहीं होते तथा मरण के बाद इसका मुर्दा नहीं रहता—पुद्गल कपूर की तरह उड़ जाते हैं। वैक्रियशरीर दो प्रकार का होता है—औपपातिक-वैक्रियशरीर और लब्धिप्रत्यय-वैक्रियशरीर। पहला देवों और नारकों में होता है—यह जन्म के साथ ही मिलता है। दूसरा मनुष्यों-तिर्यञ्चों में होता है। यह तप आदि द्वारा प्राप्त वैक्रियलब्धि से मिलता है।

(३) तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि का दर्शन तथा संशयनिवारण आदि प्रयोजनों से चौदह-पूर्वधारी मुनिराज आहारकलब्धि द्वारा अन्य क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में विराजमान तीर्थंकरों के पास भेजने के लिए जो अतिविशुद्ध-स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला निकालते हैं[1], वह पुतला **आहारकशरीर** कहलाता है। प्रयोजनों के सिद्ध होने पर मुनिराज उस शरीर को छोड़ देते हैं अर्थात् वह पुतला उनके शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

(४) जो शरीर तैजस-पुद्गलों से बनता है, उसका नाम **तैजसशरीर** है। यह दो प्रकार का होता है। एक तो पाचनशक्तिरूप, जो आहार को पचाता है, इसे जठराग्नि भी कह देते हैं। प्राणियों के शरीर में विद्यमान उष्णतागर्मी से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

१. कहा जाता है कि जटिल प्रश्न का उत्तर न दे सकने पर संशयनिवारणार्थ किसी एक महामुनि द्वारा निर्मित वह पुतला भगवान के पास जाता है, कदाच भगवान निर्दिष्ट स्थान पर नहीं मिलते हैं तो फिर उस पुतले से मुंडहाथ का दूसरा पुतला निकलकर जहां भी भगवान मिलते हैं, वहां जाकर प्रश्न का उत्तर प्राप्त करता है। फिर आकर पहले पुतले में प्रवेश करता है, पहला पुतला आकर मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है एवं मुनि प्रश्न का उत्तर दे देते हैं। काम इतना जल्दी होता है कि प्रश्नकर्त्ता को पता तक नहीं लग सकता।

दूसरा :—विशेषसाधना या स्वाभाविक-घोरतपस्या द्वारा व्यक्ति-विशेष को तेजोलब्धि उत्पन्न होती है[1]। जब वह उस लब्धि का प्रयोग करता है, उस समय उस व्यक्ति का शरीर तैजसशरीर कहलाता है।

(५) आत्मप्रदेशों के साथ जो आठ कर्मों के पुद्गलों का समूह लगा हुआ है, उसको **कार्मणशरीर** कहते हैं अथवा कर्मों से बना हुआ सूक्ष्म-शरीर **कार्मणशरीर** है।

औदारिकादि पांचों शरीरों के क्रम का कारण यह है कि आगे-आगे के शरीर पिछले शरीरों की अपेक्षा प्रदेशबहुल (अधिक प्रदेश वाले) हैं एवं परिमाण में सूक्ष्मतर हैं। तैजस और कार्मणशरीर सभी संसारीजीवों के होते हैं। इन दोनों शरीरों के साथ ही जीवमरणदेश को छोड़कर उत्पत्ति-स्थान को जाता है। चारों शरीरों का निमित्तकारण कार्मणशरीर है और कार्मणशरीर का निमित्तकारण है आस्रव।

किसमें कितने शरीर?

सात नारकी—सर्व देवताओं में शरीर तीन होते हैं—वैक्रिय-तैजस और कार्मण। चार स्थावर (पृथ्वीकाय-अप्काय-तेजस्काय-वनस्पतिकाय), तीन विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय), असंज्ञी-तिर्यञ्च, पञ्चेद्रिय और असंज्ञीमनुष्य तथा सभी युगलिकों (युगलिक-तिर्यञ्चों-युगलिक-मनुष्यों) में शरीर तीन होते हैं—औदारिक-तैजस-कार्मण। वायुकाय, संज्ञितिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय एवं मनुष्यणी में आहारकशरीर के सिवा चार

---

१. तेजोलब्धि दो प्रकार की होती है—उष्ण और शीतल। उष्णतेजोलब्धि वाला मुख से तीव्र तेज (अग्नि) निकालकर अनेक योजन प्रमाण (उत्कृष्ट सोलह देश) क्षेत्र में रही हुई वस्तुओं को क्रोधवश जला डालता है (गोशालक ने इसी लब्धि द्वारा भगवान् के सामने दो मुनियों को भस्म किया था)। शीतलतेजोलब्धि वाला योगी करुणाभाव से प्रेरित होकर उष्णतेजोलब्धि से जलते हुए अपने अनुग्रहपात्र व्यक्ति को बचाने के लिए शीतलतेज-विशेष को निकालता है (भगवान् महावीर ने छद्मस्थ-अवस्था में इसी लब्धि द्वारा गोशालक को बचाया था।)

शरीर हो सकते हैं तथा गर्भजमनुष्यों में शरीर पांचों हो सकते हैं।[1]

प्रश्न ६—शरीरनामकर्म तो समझ में आ गया, अब चौथा शरीरअङ्गोपाङ्गनामकर्म समझाइए!

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में अङ्ग, उपाङ्ग एवं अङ्गोपाङ्ग के आकार में पुद्‌गलों का परिणमन होता है, उसको **शरीर-अङ्गोपाङ्गनामकर्म** कहते हैं।[2]

अङ्ग आठ हैं—दो भुजाएं, दो जंघाएं, पीठ, पेट, छाती और मस्तक। (कहीं-कहीं विवक्षावश बारह अङ्ग एवं नौ अङ्ग भी कहे हैं।) अङ्गों के साथ जुड़े हुए कान-नाक-आंखें-घुटना-अंगुलियां आदि छोटे अवयवों को **उपाङ्ग** कहते हैं तथा हाथों-पैरों की रेखाएं, पर्व-संधियां, मूंछ, सिर के केश एवं नखों का नाम **अङ्गोपाङ्ग** है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरों के ही अङ्गोपाङ्ग होते हैं, तैजस-कार्मणशरीर अतिसूक्ष्म होने से उनके अङ्गोपाङ्ग नहीं होते। अतः अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के तीन ही भेद किए गए हैं—(१) औदारिकशरीर—अङ्गोपाङ्गनामकर्म, (२) वैक्रियशरीर-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, (३) आहारकशरीर-अङ्गोपाङ्गनामकर्म। इन तीनों प्रकार के नामकर्म के उदय से क्रमशः औदारिक, वैक्रिय और आहारकशरीर के अङ्ग-उपाङ्ग एवं अङ्गोपाङ्ग बनते हैं।

प्रश्न ७—पांचवां शरीरबन्धननामकर्म क्या है?

उत्तर—जिस प्रकार लाख-गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जुड़ जाती हैं, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किए हुए शरीर-पुद्‌गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्‌गल बन्धन को प्राप्त होते हैं—जुड़ते हैं, उसको शरीरबन्धन**नामकर्म**

---

१. प्रज्ञापना १२ तथा जीवाभिगम प्रतिपत्ति १।

२. प्रज्ञापना २३।२।

कहते हैं। उक्त कर्म के पांच भेद हैं[1]—

(१) **औदारिकशरीरबन्धननामकर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्व-गृहीत औदारिक, तैजस एवं कार्मणशरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण (वर्तमान में ग्रहण किए जानेवाले) औदारिक पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

(२) **वैक्रियशरीरबन्धननामकर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय, तैजस एवं कार्मण-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रिय-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

(३) **आहारकशरीरबन्धननामकर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक, तैजस एवं कार्मण-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण आहारक-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

(४) **तैजसशरीरबन्धननामकर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस एवं कार्मण-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

(५) **कार्मणशरीरबन्धननामकर्म**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है।

विशेष स्पष्टता से समझाने के लिए इन पांचों के पन्द्रह भेद भी किए गए हैं।[2] जैसे—

(१) **औदारिक-औदारिक बन्धन**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

(२) **औदारिक तैजसबन्धन**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजसपुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

(३) **औदारिक कार्मणबन्धन**—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत कार्मणपुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

---

१. प्रज्ञापना २३।२ तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ३५ तथा प्रवचनसारोद्धार द्वार २१६ गाथा १२७२।

२. कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ३७ तथा कर्म प्रकृति गाथा १ टीका।

इसी प्रकार (४) वैक्रिय-वैक्रियवन्धन, (५) वैक्रियतैजसवन्धन, (६) वैक्रिय-कार्मणवन्धन, (७) आहारक-आहारकवन्धन, (८) आहारक-तैजसवन्धन, (९) आहारक-कार्मणवन्धन, (१०) औदारिक-तैजस-कार्मणवन्धन, (११) वैक्रिय-तैजस-कार्मणवन्धन, (१२) आहारक-तैजस-कार्मणवन्धन, (१३) तैजस-तैजसवन्धन, (१४) तैजस-कार्मण-वन्धन, (१५) कार्मण-कार्मणवन्धन। इनका विवेचन पहले तीन भेदों की तरह समझ लेना चाहिए।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीनों परस्पर-विरोधी हैं अतः इनके पुद्गलों का आपस में सम्वन्ध नहीं होता। औदारिक, वैक्रिय, आहारक—इन तीनों शरीरों की उत्पत्ति के समय सर्ववन्ध एवं वाद में देशवन्ध होता है। लेकिन तैजस-कार्मण अनादिकाल से जीव के साथ रहे हुए हैं अतः नई उत्पत्ति न होने से उनमें सदा देशवन्ध ही होता है।

प्रश्न ८—छठा संघातनामकर्म वतलाइए!

उत्तर—जिस कर्म के उदय से गृह्यमाण-नवीनशरीरपुद्गल पूर्वगृहीत शरीरपुद्गलों के समीप व्यवस्थापूर्वक स्थापित किए जाते हैं उसको **संघातनामकर्म** कहते हैं।[1]

जैसे—दांतली से इधर-उधर विखरी हुई घास इकट्ठी करके फिर गट्ठे के रूप में वांधी जाती है, उसी प्रकार यह कर्म पूर्वगृहीत और गृह्य-माण शरीर-पुद्गलों को व्यवस्थित कर देता है एवं फिर वन्धननामकर्म के द्वारा वे परस्पर वंध जाते हैं।

संघातनामकर्म भी शरीरों की अपेक्षा से पांच प्रकार का है—(१) औदारिकशरीर-संघातनामकर्म, (२) वैक्रियशरीर-संघातनामकर्म, (३) आहारकशरीर-संघातनामकर्म, (४) तैजसशरीर-संघातनामकर्म, (५) कार्मणशरीर-संघातनामकर्म।

---

१. कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ३६, प्रवचनसारोद्धार द्वार २१६ गाथा १२७२ तथा प्रज्ञापना २३।२।२९३।

जिसके उदय से औदारिकशरीर के रूप से परिणत, गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का सान्निध्य हो अर्थात् एकत्रित होकर वे एक-दूसरे के पास आकर व्यवस्थित हो जाएं—वन्धन के योग्य वन जाएं, उसको **औदारिकशरीर-संघातनामकर्म** कहते हैं। इसी प्रकार शेष चार संघातों का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए।

प्रश्न ९—सातवें संहनननामकर्म का विवेचन कीजिए!

उत्तर—शरीर में होनेवाली हड्डियों की रचना-विशेष का नाम **संहनन** (संघयण) है। जिसके उदय से जीव के शरीर में हड्डियों से सम्वन्धित रचना की व्यवस्था होती है, उसको **संहनननामकर्म** कहते हैं।[1] संहनन छः प्रकार के हैं—(१) वज्रऋषभनाराचसंहनन, (२) ऋषभ-नाराचसंहनन, (३) नाराचसंहनन, (४) अर्धनाराचसंहनन, (५) कीलिकासंहनन, (६) सेवार्तक (छेवट्ट) संहनन।

(१) **वज्रऋषभनाराचसंहनन**—वज्र का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन है और नाराच का अर्थ है मर्कट-वन्ध। जिस संहनन में अपनी माता की छाती से चिपके हुए मर्कट-वन्दर के वच्चे की-सी आकृति वाली संधि की दोनों हड्डियां आपस में एक-दूसरी पर आंटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन-पट्टा हो और चौथी हड्डी की कील उन तीनों का भेद करती हुई हो; ऐसे सुदृढ़तम-अस्थिवन्धन को वज्रऋषभनाराच-संहनन कहा जाता है।

(२) **ऋषभनाराचसंहनन**—इसमें हड्डियों की आंटी और वेष्टन-पट्टा होते हैं, कील नहीं होती।

(३) **नाराचसंहनन**—इसमें केवल हड्डियों की आंटी होती है लेकिन वेष्टन और कील नहीं होते।

(४) **अर्धनाराचसंहनन**—इसमें हड्डी का एक छोर मर्कट-वन्ध से जुड़ा हुआ होता है तथा दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।

---

१. प्रज्ञापना २३।२।२९४, स्था० ६।४९४ तथा कर्मग्रन्थ, भाग १ (गाथा ३८-३९)

(५) **कीलिकासंहनन**—इसमें हड्डियां केवल एक कील से जुड़ी हुई होती हैं, मर्कट-बन्ध आदि कुछ नहीं होते।

(६) **सेवार्तकसंहनन**—इसमें हड्डियां पर्यन्तभाग में एक-दूसरे से अड़ी हुई-सी रहती हैं तथा सदा चिकने पदार्थों के प्रयोग एवं तैलादि की मालिश चाहती हैं।

संहनन केवल औदारिक शरीर में ही (हड्डियां होने से) होते हैं, अन्य शरीरों में नहीं होते। अतः देवता-नारकी में संहनन हो ही नहीं सकते। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय असंज्ञिमनुष्य और असंज्ञितिर्यञ्च—इन सबमें एक सेवार्तक संहनन होता है। गर्भजमनुष्य-गर्भजतिर्यञ्च में छहों संहनन हो सकते हैं तथा युगलिक एवं त्रेसठ शलाका—पुरुषों में संहनन एक वज्रऋषभनाराच होता है[1]। संहनन छः होने से संहनननामकर्म भी छः
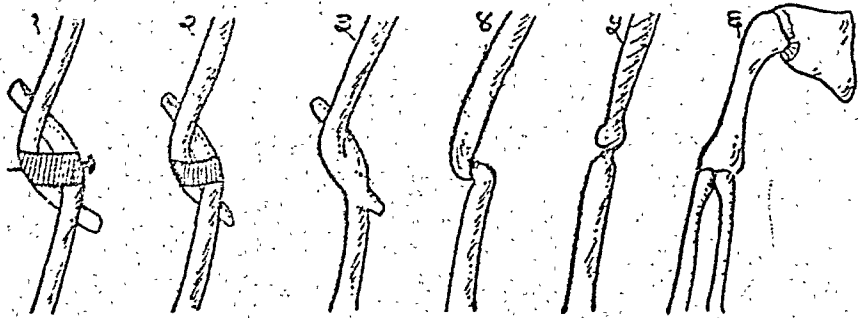
संहनन के छः प्रकार

प्रकार का होता है। यथा—वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्म यावत् सेवार्तकसंहनननामकर्म।

प्रश्न १०—आठवें संस्थाननामकर्म का रहस्य बतलाइए !

उत्तर—शरीर के आकार को **संस्थान** (संठाण) कहते हैं। संस्थान छः माने गए हैं[2]—(१) समचतुरस्रसंस्थान, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल-

---

१. जीवाभिगम प्रतिपत्ति १।

२. स्था० ६।४९५ तथा कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ४०।

संस्थान, (३) सादिसंस्थान, (४) कुब्जसंस्थान, (५) वामनसंस्थान, (६) हुण्डकसंस्थान।

(१) **समचतुरस्रसंस्थान**—सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण। पालथी मारकर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं-घुटनों का अन्तर, वामस्कन्ध और दक्षिणजानु का अन्तर तथा वामजानु और दक्षिणस्कन्ध का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सारे अवयव ठीक प्रमाण वाले हों, वह समचतुरस्रसंस्थान है।

(२) **न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान**—वटवृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। जैसे—वटवृक्ष ऊपर के भाग में फैला हुआ एवं नीचे के भाग में संकुचित होता है, उसी प्रकार जिसमें नाभि के ऊपर वाला भाग विस्तारवाला अर्थात् शरीरशास्त्र में बताए हुए प्रमाणवाला हो तथा नीचे का भाग प्रमाणहीन अवयवोंवाला हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

(३) **सादिसंस्थान**—सादि का अर्थ नाभि का नीचे वाला भाग है। जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण और ऊपर का भाग हीन हो, उसे सादिसंस्थान कहते हैं। कहीं-कहीं सादिसंस्थान के बदले **साचीसंस्थान** भी मिलता है। साची का अर्थ शाल्मली (सेमल) का वृक्ष है। शाल्मली वृक्ष का धड़ जैसा पुष्ट होता है, वैसा ऊपर का भाग नहीं होता। जो संस्थान शाल्मलीवृक्षवत् नीचे परिपूर्ण हो और ऊपर हीन हो, वह **साचीसंस्थान** कहलाता है।

(४) **कुब्जसंस्थान**—जिस संस्थान में हाथ-पैर-सिर-गर्दन आदि अवयव ठीक हों, लेकिन छाती-पीठ-पेट आदि टेढ़े हों, उसे **कुब्जसंस्थान** कहते हैं। कुब्ज अर्थात् कुबड़ा।

(५) **वामन संस्थान**—जिस संस्थान में छाती-पेट-पीठ आदि ठीक हों लेकिन हाथ-पैर आदि अवयव छोटे हों, उसे **वामनसंस्थान** कहते हैं। वामन अर्थात् बौना।

(६) **हुण्डकसंस्थान**—जिस संस्थान में शरीर के सारे अवयव बेढव हों, कोई भी अवयव शास्त्रोक्त प्रमाणयुक्त न हो, उसे **हुण्डक संस्थान** कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव को समचतुरस्र आदि संस्थानों की प्राप्ति होती है, उसे **संस्थाननामकर्म** कहते हैं। संस्थान छः हैं अतः संस्थान-नामकर्म के भी छः भेद किए गए हैं।[1]

यथा—समचतुरस्र-संस्थाननामकर्म यावत् हुण्डकसंस्थाननामकर्म।

संसारिक जीवों के शरीर के संस्थान इस प्रकार हैं[2]—पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञिमनुष्य एवं असंज्ञितिर्यञ्च—इन सब जीवों के शरीर का संस्थान हुण्डक होता है। उसमें पृथ्वीकायिकजीवों का चन्द्र एवं मसूर की दाल जैसा है। अप्कायिकजीवों का पानी के बुदबुद तुल्य है। तेजस्कायिकजीवों का सूइयों के समूह-सदृश है, वायुकायिक जीवों का ध्वजा-पताका के समान है एवं वनस्पतिकायिक जीवों का संस्थान नाना प्रकार का है। देवता, युगलिक और त्रेसठशलाका—पुरुषों के शरीर का संस्थान समचतुरस्र होता है। शेष गर्भजमनुष्य और गर्भज-तिर्यञ्चों में छहों प्रकार के संस्थान हो सकते हैं। शरीर न होने से सिद्धों का कोई संस्थान नहीं होता। यह जीवों के शरीरसम्बन्धी संस्थानों का विवेचन हुआ। प्रसंगवश अजीव-पुद्गलों के संस्थान भी छः प्रकार के माने गए हैं[3]—

(१) **परिमण्डल संस्थान**—चूड़ी या गाड़ी के पहिये जैसा आकार।

(२) **वृत्तसंस्थान**—लड्डू जैसा गोल आकार।

(३) **त्र्यस्रसंस्थान**—सिघाड़े जैसा त्रिकोण आकार।

(४) **चतुरस्रसंस्थान**—चौकी-बाजोट आदि जैसा चतुष्कोण-आकार।

---

१. प्रज्ञापना २३।२।२९४।

२. जीवाभिगम प्रतिपत्ति १।

३. भगवती, २५।३।७२४ तथा प्रज्ञापना १।४ तथा जीवाभिगम प्रतिपत्ति १।

(५) आयतसंस्थान—दण्डादि जैसा लम्बा आकार।

(६) पूर्वोक्त परिमण्डलादि से बिलकुल विलक्षण हो, उसे अनित्थंस्थ
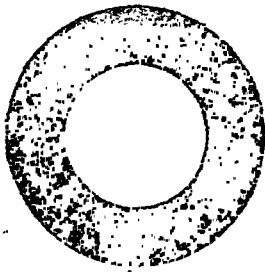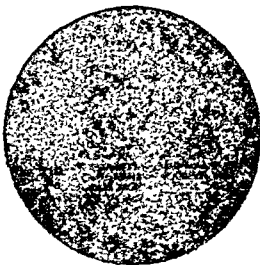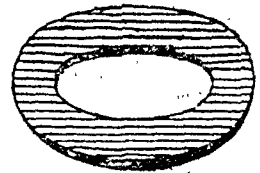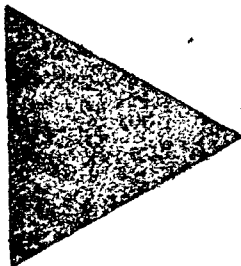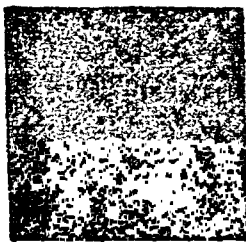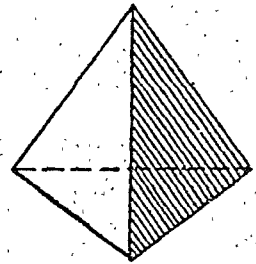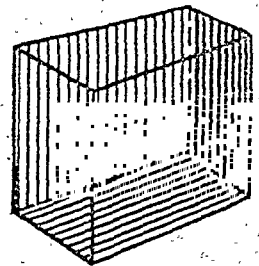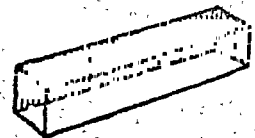
संस्थान कहते हैं। पुद्गलों के अनियत-आकार होने से वे अनित्थंस्थ-संस्थानवाले कहलाते हैं। किसी भी प्रकार का आकार न होने से सिद्ध-भगवान भी अनित्थंस्थसंस्थानवाले माने गए हैं।

प्रश्न ११—नौवें वर्णनामकर्म का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कृष्णादिवर्णयुक्त होता है, उसे **वर्णनामकर्म** कहते हैं। यह पांच प्रकार का है[1]—

(१) **कृष्णवर्णनामकर्म**—इसके उदय से जीव का शरीर भ्रमरा-दिवत् काला होता है।

(२) **नीलवर्णनामकर्म**—इसके उदय से जीव का शरीर तोता एवं बैंगन आदिवत् नीला होता है।

(३) **लोहितवर्णनामकर्म**—इसके उदय से जीव का शरीर इन्द्र-गोपका आदिवत् लाल होता है।

(४) **हारिद्रवर्णनामकर्म**—इसके उदय से जीव का शरीर हल्दी-आदिवत् पीला होता है।

(५) **श्वेतवर्णनामकर्म**—इसके उदय से जीव का शरीर शंख आदिवत् सफेद होता है।

जैन शास्त्रानुसार कृष्ण, नील आदि पांच ही मूलवर्ण हैं।[2] लोकप्रसिद्ध अन्य वर्ण इन्हीं के संयोग से पैदा होते हैं।

प्रश्न १२—दसवें गन्धनामकर्म का तत्त्व समझाइए !

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर में अच्छी या बुरी गन्ध आती है, उसको गन्धनामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं[3]—

सुरभिगन्धनामकर्म—इसके उदय से प्राणी के शरीर में कपूर-कस्तूरी आदिवत् सुगन्धि आती है। गुलाब आदि के फूलों में तथा पद्मिनी स्त्री के शरीर में जो सुगन्धि आती है, वह इसी कर्म का विशेष प्रभाव है।

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

२. स्था० ५।१।३९०।

३. प्रज्ञापना २३।२।

(२) दुरभिगन्धनामकर्म—इसके उदय से प्राणी के शरीर में मत्स्य आदि की तरह दुर्गन्धि आती है।

प्रश्न १३—ग्यारहवें रसनामकर्म का क्या रहस्य है ?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से प्राणी का शरीर तिक्त—कटु आदि रसयुक्त होता है, उसको रसनामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं[1]—

(१) **तिक्तरसनामकर्म**—इसके उदय से प्राणियों का शरीर सौंठ-मिर्च-पिप्पल आदिवत् तिक्त—तीखे रसवाला होता है।

(२) **कटुरसनामकर्म**—इसके उदय से प्राणियों का शरीर नीम-कटु- चिरायता आदिवत् कड़वे रसवाला होता है।

(३) **कषायरसनामकर्म**—इसके उदय से प्राणियों का शरीर हरड़-बेहड़ा-आंवला आदिवत् कषैले रसवाला होता है।

(४) **आम्लरसनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणियों का शरीर इमली-नीबू आदिवत् खट्टे रसवाला होता है।

(५) **मधुररसनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणियों का शरीर ईख-गाजर आदिवत् मीठे रसवाला होता है।

अन्य रस इन तिक्तादि रसों के संयोग से पैदा होते हैं। अतः शास्त्रों में (१) तिक्त, (२) कटु, (३) कषाय, (४) आम्ल, (५) मधुर—ये पांच ही मूल रस कहे हैं।[2]

प्रश्न १४—बारहवां स्पर्शनामकर्म क्या है ?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से प्राणियों का शरीर शीतादिस्पर्शयुक्त होता है, उसे **स्पर्शनामकर्म** कहते हैं।[3]

स्पर्श आठ हैं[4]—(१) कर्कश, (२) मृदु, (३) गुरु, (४) लघु, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध, (८) रूक्ष।

---

१. प्रज्ञापना २३।२ ।

२. स्था० ५।१।३६० ।

३. प्रज्ञापना २३।२ ।

४. स्था० ८।५६६ ।

स्पर्श आठ होने से स्पर्शनामकर्म भी आठ प्रकार का हो जाता है। जैसे—

१. **कर्कशस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **पत्थर आदिवत्** कठोर होता है।

२. **मृदुस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **रेशम आदिवत्** कोमल होता है।

३. **गुरुस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **लोहादिवत्** भारी होता है।

४. **लघुस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **अर्कतूलवत्** हल्का होता है।

५. **शीतस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **कमलदण्ड एवं बर्फ आदिवत्** ठंडा होता है।

६. **उष्णस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **अग्नि आदिवत्** गर्म होता है।

७. **स्निग्धस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **घृत-तेल आदिवत्** चिकना होता है।

८. **रूक्षस्पर्शनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर का स्पर्श **राख आदिवत्** रूखा होता है। यद्यपि प्रत्येक प्राणियों के सब प्रकार के वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नामकर्म का उदय रहता है, लेकिन जिस प्राणी के जिस प्रकार के वर्ण-गन्धादि का विशेष उदय होता है, उस प्राणी के शरीर के वर्ण-गन्धादि विशेष रूप में उसी प्रकार के होते हैं; जैसे—**भ्रमर** के कृष्णवर्णनामकर्म का विशेष उदय है, **गुलाब के फूल** के सुगन्धिनामकर्म का, नींबू के आम्लरसनामकर्म का तथा **बर्फ** के शीतस्पर्शनामकर्म का विशेष उदय है।

प्रश्न १५—तेरहवें आनुपूर्वीनामकर्म का क्या मतलब है?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति द्वारा अपने उत्पत्ति-

स्थान में पहुँचता है, उसे **आनुपूर्वीनामकर्म** कहते हैं[1]। आनुपूर्वीनामकर्म के लिए नाथ (नासारज्जु) का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे, इधर-उधर भटकता हुआ बैल नाथ द्वारा इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है, उसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है, तब आनुपूर्वीनामकर्म के द्वारा ही विश्रेणी में रहे हुए उत्पत्ति स्थान पर पहुँचाया जाता है। यदि उत्पत्तिस्थान समश्रेणी में हो तो आनुपूर्वीनामकर्म का उदय नहीं होता, वक्रगति में ही आनुपूर्वीनामकर्म का उदय होता है।

गति के चार भेद हैं, अतः आनुपूर्वीनामकर्म के भी चार भेद हो जाते हैं—

१. **नरकानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विश्रेणी-स्थित नरकसम्बन्धी-जन्मस्थान पर पहुँचता है।

२. **तिर्यञ्चानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विश्रेणी-स्थित तिर्यञ्चसम्बन्धी-जन्मस्थान में पहुँचता है।

३. **मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विश्रेणी-स्थित मनुष्यसम्बन्धी-जन्मस्थान में पहुँचता है।

४. **देवानुपूर्वीनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव विश्रेणी-स्थित देवसम्बन्धी-जन्मस्थान में पहुँचता है।

प्रश्न १६—चौदहवें विहायोगतिनामकर्म का क्या विवेचन है?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव की गति (गमनक्रिया) शुभ या अशुभ होती है, उसे **विहायोगतिनामकर्म** कहते हैं[2]। इसके दो भेद हैं—

१. **प्रशस्तविहायोगतिनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव की गति—चाल हाथी या बैल के समान शुभ होती है।

२. **अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव की

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

२. प्रज्ञापना २३।२।

गति ऊँट या गदहे के समान अशुभ होती है।

यह नामकर्म की १४ पिण्डप्रकृतियों का विवेचन हो गया। इन १४ के अवान्तर भेद ६५ होते हैं। यथा—गति के ४, जाति के ५, शरीर के ५, अङ्गोपाङ्ग के ३, बन्धन के ५, संघात के ५, संहनन के ६, संस्थान के ६, वर्ण के ५, गन्ध के २, रस के ५, स्पर्श के ८, आनुपूर्वी के ४ और विहायोगति के २।

प्रश्न १७—अब नामकर्म की प्रत्येकप्रकृतियाँ समझाइए !

उत्तर—जिनमें अवान्तरप्रकृतियाँ नहीं होतीं अर्थात् पिण्डप्रकृतियों की तरह अन्तर भेद नहीं होते, वे प्रत्येकप्रकृतियाँ कहलाती हैं। वे आठ हैं[1]—

१. **पराघातनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव बलवानों के लिए भी दुर्धर्ष (अजेय) बनता है।

२. **उच्छ्वासनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को श्वास-उच्छ्वास लेने की शक्ति मिलती है। नासिका द्वारा बाहर की हवा को खींचना श्वास है एवं अन्दर की हवा को नासिका द्वारा बाहर निकालना उच्छ्वास है।

३. **आतपनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्णप्रकाश करता है। सूर्यमण्डल का जो प्रकाश है, वह सूर्य का नहीं है किन्तु उसके विमान के नीचे लगे हुए बादर-एकेन्द्रिय पृथ्वीकायमय अंकरत्न का है। पृथ्वीकायमय रत्न के जीवों का शरीर ठंडा है किन्तु आतपनामकर्म के उदय से वह उष्णप्रकाश करता है। सूर्यविमान के पृथ्वीकायमय—इन रत्नों के सिवा अन्य जीवों के आतपनामकर्म का उदय नहीं होता।

यद्यपि अग्निकाय के जीवों का शरीर भी उष्णप्रकाश करता है लेकिन वह आतपनामकर्म का उदय नहीं है। उनका शरीर उष्णस्पर्शनामकर्म के

---

१. प्रज्ञापना २३।२

उदय से उष्ण होता है और लोहितवर्णनामकर्म के उदय से लाल-प्रकाश करता है।

४. उद्योतनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतल-ठंडा प्रकाश फैलाता है। लब्धिधारी मुनि जव वैक्रियशरीर धारण करते हैं तथा जव देवता अपने मूल शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रियशरीर वनाते हैं, तव उनके उस शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योतनामकर्म का उदय समझना चाहिए। इसी तरह चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारामण्डल के विमानों के नीचे लगे हुए पृथ्वीकायमय रत्नों के जीवों के शरीर से भी शीतल प्रकाश फैलता है। चन्द्रकान्तादि मणी अथवा कई औषधियां भी शीतलप्रकाश देती हैं—यह सव उद्योतनामकर्म का प्रभाव है।

५. अगुरुलघुनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर न संभल सके—इतना भारी नहीं होता और हवा में उड़ जाए—इतना हल्का नहीं होता किन्तु अगुरुलघुपरिणामवाला होता है।

६. तीर्थंकरनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को तीर्थंकरपद मिलता है।

७. निर्माणनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव के अंग-उपांग यथास्थान व्यवस्थित होते हैं। जैसे—कारीगर मूर्ति के हाथ-पैर आदि अवयवों को यथास्थान स्थापित करता है, उसी प्रकार यह कर्म भी शरीर के अंग-उपांगों को उचित स्थान पर व्यवस्थित करता है। मक्का या अनारादि के दाने जो श्रेणीवद्ध नजर आते हैं, वह इस निर्माणनामकर्म का ही प्रभाव समझना चाहिए।

८. उपघातनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव विकृत वने हुए अपने ही अंग-प्रत्यंगों से कष्ट का अनुभव करता है। जैसे—प्रतिजिह्वा, चोर-दाँत, छठी अंगुली आदि अवयव अपने स्वामी को ही दुःखदायी होते हैं।

(यह आठ प्रत्येकप्रकृतियों का विवेचन हुआ)

प्रश्न १८—त्रसदशक की दस प्रकृतियां कौन-कौन-सी हैं एवं उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर—त्रसदशकों के नाम एवं स्वरूप इस प्रकार हैं[1]—

१. **त्रसनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को त्रसत्व की प्राप्ति होती है अर्थात् जीव त्रसकायिक बनता है। जो अपने हित की प्रवृत्ति (भूख-प्यास आदि मिटाने) के लिए तथा अहित की निवृत्ति (सर्दी-गर्मी आदि से बचने) के लिए प्रवृत्ति करते हैं—चलते-फिरते हैं, वे द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीव **त्रस** कहलाते हैं।

२. **बादरनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूलशरीरवाला होता है। सामान्यतया आंखों से देखा जा सके उसे **बादर** कहते हैं, किन्तु यह अर्थ सभी जगह नहीं घट सकता। प्रत्येक पृथ्वीकाय आदि का शरीर बादर होते हुए भी आंखों से नहीं देखा जा सकता। यह प्रकृतिजीवविपाकिनी है[2] और जीवों में बादरपरिणाम उत्पन्न करती है। इसका शरीर पर इतना असर अवश्य होता है कि बहुत से जीवों के शरीर का समूह (मिट्टी की डली आदिवत्) दृष्टिगोचर हो जाता है। जिन जीवों के बादरनामकर्म का उदय नहीं होता, वे सूक्ष्मपृथ्वीकायादि समुदाय-अवस्था में भी दिखाई नहीं देते।

३. **पर्याप्तनामसकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों से युक्त होता है एवं **पर्याप्त** कहलाता है। पर्याप्तियों का स्वरूप इस प्रकार है[3]—

जन्म के प्रारम्भ में तेजस-कार्मण शरीर द्वारा गृहीत पुद्गलसमूह से तथा पर्याप्ति-बन्धकाल में गृह्यमाण कुछ अन्य पुद्गलों से जीव जिस जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति का निर्माण करता है या शरीरादि की रचनारूप पौद्गलिक क्रिया की पूर्णता करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं।

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

२. जीवविपाकिनी का अर्थ देखो पुञ्ज ६, प्र० १८।

३. प्रज्ञापना १।१२ टीका, भगवती ३।१।३०, प्रवचनसारोद्धार द्वार २३२ गाथा १३१७—१३१९, कर्मग्रन्थ भा० १ गाथा ४९, तथा जैनसिद्धान्तदीपिका ७/२९।

पर्याप्तियां छः हैं—

(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति, (६) मनःपर्याप्ति।

(१) **आहारपर्याप्ति**—जन्मारम्भ में संगृहीत पुद्गलसमूहजन्य जिस शक्ति से जीव आहार के योग्य वाह्यपुद्गलों का ग्रहण कर उन्हें खल और रस के रूप में वदलता है एवं खल (मलमूत्रादि निःसारपदार्थ) का परित्याग करता है, उस शक्ति का नाम आहारपर्याप्ति है।

(२) **शरीरपर्याप्ति**—जन्मारम्भ में संगृहीत पुद्गलसमूहजन्य जिस शक्ति से जीव रसरूप[1] में परिणत आहार को रस, खून, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य रूप सात धातुओं में वदलता है अर्थात् शरीर का रूप देता है, उस शक्ति का नाम शरीरपर्याप्ति है।

(३) **इन्द्रियपर्याप्ति**—जन्मारम्भ में संगृहीत पुद्गलसमूहजन्य जिस शक्ति से जीव सात धातुओं में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित करता है, उस शक्ति का नाम इन्द्रियपर्याप्ति है। अथवा पांच इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करके अनाभोगनिर्वतित वीर्य द्वारा उन्हें इन्द्रियरूप में लाने की शक्ति इन्द्रियपर्याप्ति है।

(४) **श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति**—जन्मारम्भ में संगृहीत पुद्गलसमूह-जन्य जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता है तथा उन्हीं का आलम्वन लेकर उनको छोड़ता है, उस शक्ति का नाम श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति है। इसको प्राणापानपर्याप्ति एवं उच्छ्वासपर्याप्ति भी कहते हैं।

(५) **भाषापर्याप्ति**—जन्मारम्भ में संगृहीत पुद्गलसमूहजन्य जिस शक्ति से जीव भाषा के योग्य भाषावर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करके उन्हें

---

१. आहारपर्याप्ति द्वारा वने हुए रस से शरीरपर्याप्ति द्वारा वना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है। शरीरपर्याप्ति द्वारा वनने वाला रस ही शरीर के वनने में उपयोगी होता है।

भाषा के रूप में परिणत करता है तथा उन्हीं के आलम्बन से उन्हें छोड़ता है, उस शक्ति को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

(६) **मनःपर्याप्ति**—जन्मारम्भ में संगृहीत पुद्गलसमूहजन्य जिस शक्ति से जीव मन-योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करके उन्हें मन के रूप में परिणत करता है तथा उन्हीं के आलम्बन से उन्हें छोड़ता है, उस शक्ति को मनःपर्याप्ति कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति में आलम्बन लेकर छोड़ना लिखा है, इसका आशय यह है कि इन्हें छोड़ने में शक्ति की आवश्यकता होती है और वह इन्हीं पुद्गलों का आलम्बन लेने से उत्पन्न होती है। जैसे—गेंद फेंकते समय व्यक्ति उसे जोर से पकड़ता है और इससे उसे शक्ति प्राप्त होती है अथवा बिल्ली ऊपर से कूदते समय अपने शरीर को संकुचित करके उससे सहारा लेती हुई कूदती है।

पर्याप्तियों का समय—छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक काल में होता है। परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है, इसलिए क्रम का नियम रखा गया है। आहारपर्याप्ति को पूर्ण होने में एक समय और शरीर आदि पांचों में से प्रत्येक को अन्तर्मुहूर्त्त लगता है।

पर्याप्तियों से लाभ—पर्याप्त होने के बाद जीव आहारपर्याप्ति से प्रतिसमय आहार लेता है एवं उसे खल तथा रस के रूप में परिणत करता है, शरीरपर्याप्ति से आहार को सात धातुओं के रूप में परिणमाता है। इन्द्रियपर्याप्ति से इन्द्रियों के शब्दादिविषय-ग्रहण में सहायता प्राप्त करता है। श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मनःपर्याप्तियों से क्रमशः श्वासोच्छ्वास लेता है, बोलता है एवं चिन्तन-मनन करता है।

किस जीव में कितनी पर्याप्तियां[1] ?—नारकी, संज्ञिमनुष्य, संज्ञि-तिर्यञ्च एवं सभी प्रकार के (मनुष्य हो या तिर्यञ्च) युगलिकों में छहों पर्याप्तियां होती हैं। पांच स्थावर-जीवों में, चार पर्याप्तियां (भाषा-

---

१. जीवाभिगम प्रतिपत्ति १।

मन के सिवा) होती हैं। तीन विकलेन्द्रिय एवं असंज्ञितिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय में (मन को छोड़कर) पांच होती हैं। असंज्ञिमनुष्यों में आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति अपूर्ण—ऐसे अपूर्ण चार पर्याप्तियां होती हैं। देवों में पांच पर्याप्तियां होती हैं (उनके मन-भाषा पर्याप्तियां शामिल गिनी गई हैं)। पर्याप्तियां पर्याप्तनामकर्म के उदय से प्राप्त होती हैं। अतः सिद्ध भगवान में नहीं होतीं क्योंकि वे कर्मों से मुक्त हो गए हैं।

यह पर्याप्तनामकर्म का विवेचन हुआ। अब प्रत्येकशरीरनामकर्म समझिए—

४. **प्रत्येकशरीरनामकर्म**—इस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को अपना—**स्वतन्त्रशरीर** मिलता है।

जीव दो प्रकार के होते हैं—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। जिन जीवों के एक शरीर में एक जीव होता है, वे जीव **प्रत्येकशरीरी** कहलाते हैं तथा जिन जीवों के एक शरीर में अनन्तजीव होते हैं, वे **साधारणशरीरी** कहलाते हैं। गाजर-मूली-प्याज-लहसुन आदि जमीकंद तथा लीलण-फूलण एवं उगती हुई सभी प्रकार की वनस्पतियां—ये साधारणशरीरी हैं। (इन्हें **निगोद** तथा **अनन्तकाय** भी कहते हैं।) इनके सिवा सभी संसारीजीव प्रत्येकशरीरी हैं। प्रत्येक अर्थात् हरेक जीव का अलग-अलग शरीर होना।

५. **स्थिरनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव के दांत-हड्डी-ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर—निश्चल होते हैं।

६. **शुभनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव के नाभि से ऊपर के अवयव शुभ होते हैं। सिर आदि का स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नहीं होती, जैसे कि पैर आदि के स्पर्श से होती है—यही नाभि से ऊपर के अवयवों का शुभपना है।

७. **सुभगनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार किए बिना तथा किसी प्रकार के संबंध के बिना भी हरेक को प्यारा लगता है।

८. सुस्वरनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर एवं प्रीतिकारी होता है।

९. आदेयनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य होता है। कोई भी आदमी उसका सहज में उल्लंघन नहीं कर सकता।

१०. यशः कीर्तिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को हरेक काम में यशः-कीर्ति की प्राप्ति होती है (एक दिशा में नाम-नामून होना कीर्ति है एवं सब दिशाओं में नाम-नामून होना यश है अथवा दान-तप आदि से नाम होना कीर्ति है और पराक्रम से नाम होना यश है।)।

प्रश्न १९—त्रसदशक का तत्त्व तो समझ आ गया, अब स्थावरदशक समझाइए !

उत्तर—स्थावरनाम आदि नामकर्म की दस प्रकृतियां **स्थावरदशक** कहलाती हैं। ये त्रसदशक से बिलकुल विपरीत हैं। जैसे—

१. स्थावरनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव स्थावरकायिक बनता है। जो जीव सर्दी-गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए प्रवृत्ति-गमनागमन नहीं कर सकते वे (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय के जीव) **स्थावर** कहलाते हैं। यद्यपि तेजस्काय एवं वायुकाय में स्वाभाविक गति होती है और उस गति की अपेक्षा से इन्हें शास्त्र में त्रस भी कहा है[1] किन्तु द्वीन्द्रियादि-त्रसजीवों की तरह अपने हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के लिए होनेवाली विशिष्टगति इनमें नहीं है अतः वास्तव में ये स्थावर ही हैं।

२. सूक्ष्मनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को आंखों से न दीख सकने वाले सूक्ष्मशरीर की प्राप्ति होती है। सूक्ष्मशरीर न तो किसी को रोकता है और न किसी से रुकता है। ऐसे सूक्ष्मशरीर वाले पांचों प्रकार के स्थावर जीव हैं, जो डिब्बी में कज्जल की तरह सारे संसार में भरे पड़े हैं। समुदाय-अवस्था में रहे हुए भी ये जीव दिखाई नहीं देते। वास्तव में

---

१. स्था० २।४।१०१ टीका तथा जीवाभिगम प्रतिपत्ति१।

पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावरजीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और वादर। सूक्ष्म दृष्टिगोचर नहीं होते। जो पृथ्वी-पानी आदि हमें दीखते हैं, वे वादर स्थावरजीव हैं।

३. **अपर्याप्तनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करता एवं अपर्याप्त कहलाता है। अपर्याप्तजीव दो प्रकार के होते हैं—लब्धिअपर्याप्त और करणअपर्याप्त।

जो जीव अपनी पर्याप्तियां पूर्ण किए विना अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं—वे **लब्धिअपर्याप्त** कहलाते हैं। लब्धिअपर्याप्त भी आहार, शरीर एवं इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं क्योंकि इन्हें पूर्ण किए विना अगले भव की आयु नहीं वंधती।

जिन जीवों ने अभी तक अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं कीं किन्तु भविष्य में करनेवाले हैं (जैसे—छः पर्याप्तियां प्राप्त करनेवाले जीवों ने अभी तक पांच, चार या तीन ही प्राप्त की हैं, शेप प्राप्त कर रहे हैं) ऐसे जीव **करणअपर्याप्त** कहलाते हैं।

४. **साधारणशरीरनामकर्म**—इस कर्म के उदय से अनन्तजीवों को एक ही शरीर मिलता है। ऐसे जीव साधारण वनस्पति एवं निगोद कहलाते हैं। निगोद के जीव एक मुहूर्त्त में उत्कृष्ट ६५५३६ भव कर लेते हैं—इनकी आयु २५६ आवलिका की (सव से छोटी) मानी गई है।

५. **अस्थिरनामकर्म**—इस कर्म के उदय से कान-भौंह-जीभ आदि शरीर के अवयव अस्थिर—चपल होते हैं।

६. **अशुभनामकर्म**—इस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के पैर आदि अवयव अशुभ होते हैं। पैर आदि के स्पर्श से व्यक्ति अपना अपमान समझता है—यही पैर आदि अवयवों का अशुभपना है।

७. **दुर्भगनामकर्म**—इस कर्म के उदय से उपकारी या संवंधी होता हुआ भी जीव लोगों को अप्रिय लगता है।

८. **दुःस्वरनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश—सुनने में अप्रिय लगता है।

९. **अनादेयनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव का वचन ग्रहण करने योग्य एवं युक्तियुक्त होता हुआ भी लोगों द्वारा मान्य नहीं होता।

१०. **अयशःकीर्तिनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव को अपयश एवं अपकीर्ति प्राप्त होते हैं। जो अच्छा काम करने पर भी कई वार अपयश मिल जाता है—वह इसी कर्म का विशेष उदय समझना चाहिए।

प्रश्न २०—नामकर्म के सारे कितने भेद हो गए ?

उत्तर—चौदह पिण्डप्रकृतियों के अवान्तर भेद ६५ हैं, प्रत्येक के ८, त्रस आदि के १० एवं स्थावर आदि के १०—ऐसे सव मिलाने से नामकर्म के ९३ भेद वनते हैं तथा वंधननामकर्म के १५ भेद गिनें तो १०८ हो जाते हैं।

यदि वंधन और संघातनामकर्म की १० प्रकृतियों का समावेश शरीरनामकर्म की प्रकृतियों में कर लिया जाए तथा वर्ण-रस-गंध-स्पर्श की २० प्रकृतियां न गिनकर सामान्य रूप से चार प्रकृतियां ही गिन ली जाएं तो नामकर्म की (९३ से २६ निकल जाने से) वंध की अपेक्षा ६७ प्रकृतियां रह जाती हैं क्योंकि वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की एक समय में एक ही प्रकृति वंधती है।

प्रश्न २१—नामकर्म कैसे बंधता है ?

उत्तर—नामकर्म दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ। शुभनामकर्म चार कारणों से वंधता है—[1] (१) काया की सरलता से, (२) भाव की सरलता से, (३) भाषा की सरलता से, (४) अविसंवादनयोग से (कथनी-करणी में समानता रखने को अविसंवादनयोग कहते हैं।)

मन-वचन काया की सरलता और अविसंवादनयोग का अन्तर वतलाते हुए भगवती-टीकाकार ने लिखा है कि मन-वचन-काया की सरलता वर्तमानकाल की अपेक्षा से है तथा अविसंवादनयोग वर्तमान और अतीत काल की अपेक्षा से है।

---

१. भगवती ८।९।३५१।

शुभनामकर्म में एक तीर्थंकरनाम भी है। तीर्थंकरनामकर्म बांधने के ज्ञाता० अ० ८ में बीस कारण बतलाए हैं। (उनका विवेचन लोकप्रकाश ४।१३ में किया जा चुका है।)

अशुभनामकर्म चार कारणों से बंधता है—(१) काया की वक्रता से, (२) भाव की वक्रता से, (३) भाषा की वक्रता से, (४) विसंवादनयोग से। (कहना कुछ और करना कुछ—इस प्रकार का व्यवहार विसंवादन-योग कहलाता है।)

प्रश्न २२—नामकर्म का अनुभाव (फलभोग) कितने प्रकार का है?

उत्तर—शुभनामकर्म के उदय से जीव शरीरसम्बन्धी एवं वचन-सम्बन्धी उत्कर्ष—उत्कृष्टता पाता है और अशुभनामकर्म के उदय से अपकर्ष अर्थात् निकृष्टता—हीनता पाता है।

शुभनामकर्म के १४ अनुभाव हैं यानी उसके उदय से १४ वस्तुओं की प्राप्ति होती है[1]—(१) इष्टशब्द, (२) इष्टरूप, (३) इष्टगन्ध, (४) इष्टरस, (५) इष्टस्पर्श, (६) इष्टगति, (७) इष्टस्थिति, (८) इष्टलावण्य, (९) इष्टयश:कीर्ति, (१०) इष्टउत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम[2], (११) इष्टस्वरता, (१२) कान्तस्वरता, (१३) प्रियस्वरता, (१४) मनोज्ञस्वरता। अशुभनामकर्म का अनुभाव भी १४ प्रकार का है—वह उपर्युक्त प्रकारों से विपरीत समझना चाहिए। जैसे—अनिष्टशब्द, अनिष्ट रूप यावत् अमनोज्ञस्वरता।

---

१. प्रज्ञापना २३।१।२९२—२९४।

२. उत्थानादि का अर्थ इस प्रकार है—(१) उत्थान—चेष्टा-विशेष, (२) कर्म—भ्रमणादि क्रिया, (३) बल—शरीर का सामर्थ्य, (४) वीर्य—शरीर से उत्पन्न होनेवाली एक शक्ति, (५) पुरुषकार—अभिमानविशेष, (६) पराक्रम—आत्माभिमान की रक्षा करने का प्रयत्नविशेष।

(स्था० १।१।४२ टीका)

शुभ और अशुभनामकर्म का यह अनुभाव स्वतः और परतः—दो प्रकार का है। वींणा, वर्णक (पीठी), गन्ध, ताम्वूल, पट (रेशमीवस्त्र), शिविका (पालकी), सिंहासन, कुंकुम, दान, राजयोग, गुटिकायोग आदि रूप एक या अनेक पुद्गलों को पाकर जीव क्रमशः इष्टशव्द-रूप-गन्ध-रस यावत् इष्टस्वर आदि रूप से शुभनामकर्म का अनुभव करता है। इसी प्रकार ब्राह्मी औषधि आदि आहार के परिणामस्वरूप-पुद्गलपरिणाम से तथा स्वाभाविकपुद्गलपरिणामरूप-वादल आदि का निमित्त पाकर जीव शुभनामकर्म का अनुभव करता है। इसके विपरीत अशुभनामकर्म के अनुभाव को उत्पन्न करनेवाले एक या अनेक पुद्गल, पुद्गलपरिणाम या स्वाभाविकपुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जीव अशुभनामकर्म को भोगता है—यह परतः अनुभाव हुआ। शुभ-अशुभनामकर्म के उदय से इष्ट-अनिष्ट शब्द आदि का जो अनुभव किया जाता है, वह स्वतः—अनुभाव है।

प्रश्न २३—गोत्रकर्म का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च-नीच शब्दों से संवोधित किया जाए, उसे **गोत्रकर्म** कहते हैं[1]। इसी कर्म के प्रभाव से जीव जाति-कुल आदि की अपेक्षा वड़ा-छोटा कहा जाता है। यह कर्म कुम्हार के समान माना गया है। जैसे—कुम्हार कई घड़ों को ऐसा वनाता है कि लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और कुछ को कलश मानकर उनकी अक्षत-चन्दनादि से पूजा भी करते हैं। कई घड़े ऐसे होते हैं कि निन्द्य-पदार्थ के संसर्ग के विना भी लोग उनकी निन्दा करते हैं, तो कई मद्यादिद्रव्यों के संसर्ग से घृणित माने जाते हैं।

उच्च-नीचभेदवाला गोत्रकर्म भी ऐसा ही है। उच्चगोत्र के उदय से जीव धन-रूप आदि से हीन होते हुए भी ऊंचा माना जाता है और नीच-गोत्र के उदय से धन-रूप आदि से संपन्न होते हुए भी नीचा माना

---

१. प्रज्ञापना २३।२।२९३, कर्मग्रंथ भाग १ गाथा ५२।

जाता है।

गोत्रकर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट वीस कोटाकोटी-सागरोपम की हैं।[1]

प्रश्न २४—गोत्रकर्म कैसे वंधता है ?

उत्तर—जाति, कुल, वल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य—इन आठों का मद न करने से अर्थात् निरभिमान दशा में रहने से जीव उच्च-गोत्र कर्म वांधता है और उक्त आठों का अभिमान करने से नीचगोत्रकर्म वांधता है।

प्रश्न २५—गोत्रकर्म का अनुभाव कितने प्रकार का है ?

उत्तर—उच्चगोत्रकर्म का अनुभाव आठ प्रकार का है अर्थात् इसके उदय से आठ वातें मिलती हैं—(१) जातिविशिष्टता, (२) कुल-विशिष्टता, (३) रूपविशिष्टता, (४) वलविशिष्टता, (५) तपविशिष्टता, (६) श्रुतविशिष्टता, (७) लाभविशिष्टता, (८) ऐश्वर्यविशिष्टता। तत्त्व यह है कि इस कर्म के प्रभाव से जाति, कुल और वल आदि के विषय में सम्मान मिलता है।

यह उच्चगोत्रकर्म स्वतः और परतः दोनों प्रकार से भोगा जाता है—अनुभव में आता है। एक या अनेक वाह्यपुद्गलों का निमित्त पाकर जीव उच्चगोत्रकर्म भोगता है। जैसे—राजा आदि विशिष्ट-पुरुषों द्वारा अप-नाए जाने से नीचजाति एवं नीचकुल में उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति-कुल-संपन्न व्यक्ति की तरह माना जाता है। लाठी विशेष के घुमाने से दुर्वल व्यक्ति भी वलवान कहलाने लगता है। विशिष्टवस्त्रालङ्कार धारण करनेवाला रूपसंपन्न मालूम होने लगता है। पर्वत के शिखर पर चढ़कर आतापना लेने से तप की विशिष्टता प्राप्त होती है। मनोहरप्रदेश में स्वाध्यायादि करने वाला श्रुतविशिष्ट हो जाता है। विशिष्ट-रत्नादि की प्राप्ति द्वारा जीव लाभविशिष्ट का अनुभव करता है और धन-सुवर्ण आदि

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

निमित्त पाकर ऐश्वर्य-विशिष्टता का भोग करता है।

जिस प्रकार दिव्यफलादि के आहार रूप-पुद्गलपरिणाम से जीव उच्चगोत्रकर्म का भोग करता है, उसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम के निमित्त से भी जीव उच्चगोत्रकर्म का अनुभव करता है। जैसे—किसी ने अकस्मात् वादलों के आने की वात कही और संयोगवश वादल होने से वात मिल गई एवं वह अल्पज्ञ होने पर भी विशेष ज्ञानी कहलाने लगा। यह परतः अनुभाव हुआ। उच्चगोत्रकर्म के उदय से विशिष्ट जाति-कुल आदि का भोग करना स्वतः अनुभाव है। **नीचगोत्रकर्म का अनुभाव आठ प्रकार का है—**

(१) जातिहीनता, (२) कुलहीनता, (३) वलहीनता, (४) रूप-हीनता, (५) तपहीनता, (६) श्रुतहीनता, (७) लाभहीनता, (८) ऐश्वर्यहीनता। तत्त्व यह है कि इस कर्म के प्रभाव से जीव जाति आदि के विषय में अपमानित होता है।

यह कर्म भी दो प्रकार से अनुभव में आता है—स्वतः और परतः। नीचकर्म के आचरण, नीचपुरुष की संगति इत्यादि रूप एक या अनेक पुद्गलों का संबंध पाकर जीव नीचगोत्रकर्म का वेदन करता है। जाति-कुल-संपन्न व्यक्ति भी अधम-आजीविका या अन्य नीच कार्य करने से निन्दनीय हो जाता है। सुखशय्यादि के संवंध से जीव वलहीन हो जाता है। मैले-कुचैले वस्त्र पहनने से व्यक्ति कुरूप प्रतीत होने लगता है। पासत्थों-कुशीलों की संगति से तपहीनता प्राप्त होती है। विकथा तथा कुसाधुओं के संसर्ग से श्रुत में न्यूनता आ जाती है। देश-काल के अयोग्य वस्तुओं को खरीदने से लाभ का अभाव होता है। कुग्रह-कुभार्यादि के संसर्ग से पुरुष ऐश्वर्यरहित होता है। वैंगन आदि के आहाररूप-पुद्गल-परिणाम से खुजली आदि रोगों से पीड़ित होकर मनुष्य रूपहीन हो जाता है।

स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी जीव नीचगोत्र का अनुभव करता है। जैसे—बादल के विषय में कही हुई वात का न मिलना आदि। यह परतः अनुभाव हुआ। नीचगोत्रकर्म के उदय से जाति-कुल आदि से

हीन होना स्वतः अनुभाव है।

ऊपर जो उच्चगोत्रकर्म के उदय से विशिष्ट जाति-कुल की प्राप्ति एवं नीचगोत्रकर्म के उदय से हीन जाति-कुल की प्राप्ति कही है, वहां जाति का अर्थ माता का पक्ष या जन्मस्थान और कुल का अर्थ पिता का पक्ष या उत्पन्न करनेवाला अंश है। उच्चगोत्र के उदय से ये श्रेष्ठ मिलते हैं और नीचगोत्र के उदय से निकृष्ट मिलते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं जाति का अर्थ **ब्राह्मणादि जाति** और कुल का अर्थ **उग्रादिकुल** किया गया है[1], लेकिन सब जगह इनकी संगति नहीं बैठती; क्योंकि देवों, नारकों और तिर्यञ्चों में ये जातियां नहीं हैं तथा मनुष्यों के भी ऐसे अनेक देश हैं जहां ब्राह्मणादि जातियों का अभाव है। उच्च-नीचगोत्रकर्म का उदय तो न्यूनाधिक मात्रा में सभी जीवों के होता है अतः विशिष्टजाति का अर्थ प्रतिष्ठित या पूज्य जाति और हीनजाति का अर्थ अप्रतिष्ठित या अपूज्य-जाति मानना चाहिए। उच्च-नीच कुल का विवेचन भी जाति की तरह ही समझने योग्य है।

प्रश्न २६—काश्यपादिगोत्रों का क्या रहस्य है?

उत्तर—किसी महापुरुष से चलने वाली मनुष्यों की संतान-परम्परा को **गोत्र** कहते हैं। मूलगोत्र सात माने गए हैं[2]— (१) काश्यपगोत्र, (२) गौतमगोत्र, (३) वत्सगोत्र, (४) कुत्सागोत्र, (५) कौशिकगोत्र, (६) मण्डवगोत्र, (७) वाशिष्ठगोत्र।

मुनिसुव्रत—नेमिनाथ के सिवा २२ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य-प्रभास—ये पांच गणधर तथा जंबूस्वामी **काश्यपगोत्री** थे। मुनिसुव्रत एवं नेमिनाथ भगवान्, नारायण एवं पद्म के सिवा सभी वासुदेव—बलदेव, इन्द्रभूति आदि तीन गणधर, वज्रस्वामी तथा अनेक क्षत्रिय, **गौतमगोत्री** थे। शय्यम्भवस्वामी आदि **वत्सगोत्री** थे।

---

१. पिण्डनिर्युक्ति ४६८।

२. स्था० ७।५५१।

शिवभूति वगैरह **कुत्सागोत्री** थे। षडुलूक वगैरह **कौशिकगोत्री** थे। मण्डु की संतानपरम्परा में होनेवाले व्यक्ति **मण्डवगोत्री** थे। छठे गणधर मण्डितपुत्र—आर्य-सुहस्ती आदि **वाशिष्ठगोत्री** थे। प्रत्येक गोत्र की सात-सात शाखाएं मानी गई हैं।

प्रश्न २७—अन्तरायकर्म का मर्म समझाइए।

उत्तर—जिस कर्म के उदय से आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यसंबंधी शक्तियों का घात होता है अर्थात् दान-लाभ आदि में रुकावट पड़ती है, उसे **अन्तरायकर्म** कहते हैं। अन्तराय का अर्थ वीच में उपस्थित होना अर्थात् विघ्न डालना है। यह कर्म विद्यमान पदार्थों का विनाश करता है और भविष्य में प्राप्त होने वाले पदार्थों के मार्ग को रोकता है।

अन्तरायकर्म कोषाध्यक्ष (भंडारी) के समान है। राजा की आज्ञा होते हुए भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने पर जैसे याचक को धनप्राप्ति में वाधा पड़ जाती है, उसी प्रकार आत्मारूप राजा के दान-लाभ आदि की इच्छा होते हुए भी अन्तरायकर्म उसमें वाधा डाल देता है। अन्तरायकर्म के पाँच भेद हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय[1]।

१. **दानान्तरायकर्म**—दान की सामग्री तैयार है, गुणवानपात्र आया हुआ है एवं दाता दान का फल भी जानता है, लेकिन इस कर्म के उदय से दान देने का उत्साह नहीं होता।

२. **लाभान्तरायकर्म**—दाता उदार है, दान की सामग्री विद्यमान है और याचक मांगने की कला में निपुण है, फिर भी इस कर्म के उदय से याचक को **ढंढणमुनिवत्** दान का लाभ नहीं मिलता।

३. **भोगान्तरायकर्म**—त्याग-प्रत्याख्यान के न होते हुए एवं भोगने की इच्छा रहते हुए भी जीव इस कर्म के उदय से विद्यमान स्वाधीन-भोग-

---

१. प्रज्ञापना २३।२।२९३, कर्मग्रन्थ, भाग १ गाथा ५२ तथा स्था० २।४।

सामग्री का कृपणता या रोग आदि के कारण भोग नहीं कर सकता।

४. **उपभोगान्तरायकर्म**—त्याग-प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा रहते हुए भी जीव इस कर्म के उदय से विद्यमान स्वाधीन-उपभोगसामग्री का कृपणता या रोगादिवश उपभोग नहीं कर सकता। (अन्न-पानी आदि एक वार भोग में आनेवाले पदार्थ **भोग** एवं स्थान-वस्त्र-भूषण आदि वार-वार भोग में आनेवाले पदार्थ **उपभोग** कहलाते हैं।)

५. **वीर्यान्तरायकर्म**—इस कर्म के उदय से आत्मा के उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार एवं पराक्रम क्षीण हो जाते हैं। जीव नीरोग, जवान और वलवान होकर भी सत्त्वहीन की तरह प्रवृत्ति करने लगता है।

वीर्यान्तरायकर्म के तीन भेद हैं :

(क) **बालवीर्यान्तरायकर्म**—चाहते हुए एवं समर्थ होते हुए भी इस कर्म के उदय से वाल अर्थात्-अव्रतीजीव, वल-पराक्रम नहीं फोड़ सकता।

(ख) **पण्डितवीर्यान्तरायकर्म**—सर्वविरतिरूप-चारित्र अर्थात् साधुपने की इच्छा रखता हुआ भी जीव इस कर्म के उदय से साधु के योग्य क्रिया नहीं कर सकता।

(ग) **बालपण्डितवीर्यान्तरायकर्म**—देशविरतिरूप-चारित्र (श्रावक-व्रत) को चाहता हुआ भी जीव इस कर्म के उदय से श्रावक के योग्य क्रियाओं का पालन नहीं कर सकता।

प्रश्न २८—अन्तरायकर्म कैसे बंधता है?

उत्तर—दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य में अन्तराय देने से जीव अन्तरायकर्म वांधता है[1]। इस कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ३० कोटाकोटि-सागरोपम की है एवं अवाधाकाल उत्कृष्ट ३ हजार वर्ष है।[2]

---

१. भगवती ८।९।३५१।

२. प्रज्ञापना २३।२।२९२।

प्रश्न २९—अन्तरायकर्म का अनुभाव कितने प्रकार का है?

उत्तर—पांच प्रकार का है[1] अर्थात् पांच प्रकार से अन्तरायकर्म फल दिखलाता है एवं दान-लाभ आदि में विघ्न डालता है। इस कर्म का अनुभाव दो प्रकार से होता है—स्वतः और परतः।

एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव अन्तरायकर्म के उक्त अनुभाव का अनुभव करता है। विशिष्टरत्नादि के सम्बन्ध से तद्विषयक-मूर्च्छा हो जाती है एवं तत्सम्बन्धी-दानान्तराय का उदय होता है। उस रत्नादि की सन्धि को छेदनेवाले-उपकरणों के सम्बन्ध से लाभान्तराय का उदय होता है। विशिष्टआहार अथवा बहुमूल्यवस्तुओं का सम्बन्ध होने पर लोभवश उनका भोग-उपभोग नहीं किया जाता और इस तरह वस्तुएँ भोग-उपभोगान्तराय के उदय में कारण बन जाती हैं। लाठी आदि की चोट से मूर्च्छित होना वीर्यान्तरायकर्म का अनुभाव होता है। आहार-औषधि आदि के परिणामरूप पुद्गलपरिणाम से वीर्यान्तरायकर्म का उदय होता है। मन्त्रसंस्कारित गन्ध-पुद्गलपरिणाम से भोगान्त-रायकर्म का उदय होता है। स्वाभाविकपुद्गलपरिणाम भी अन्तराय के अनुभाव में निमित्त होता है, जैसे—ठण्ड पड़ती देखकर दान देने की इच्छा होते हुए भी दाता वस्त्रादि का दान नहीं दे पाता और इस प्रकार दानान्त-राय का अनुभव करता है। यह परतः अनुभाव हुआ। अन्तरायकर्म के उदय से दान-भोग आदि में अन्तरायरूपफल का जो भोग होता है वह स्वतः अनुभाव है।

प्रश्न ३०—प्रज्ञापनापद २४ के अनुसार सामान्य रूप से आयुकर्म के सिवा शेष सात कर्मों का बन्ध एक साथ होता है। अतः जिस समय ज्ञानावरणीयकर्म के बन्ध-कारणों से ज्ञाना-वरणीयकर्म बंधता है, उसी समय दर्शनावरणीयादिकर्मों का भी

---

१. प्रज्ञापना २३।१।

वन्ध होता है। फिर अमुक वन्ध-कारणों से अमुक कर्म का ही वन्ध होता है, यह कथन कैसे संगत होगा ?

उत्तर—जिस समय जिस कर्मविशेष के वन्धकारणों का सेवन किया जाता है, उस समय उस कर्मविशेप का वन्ध मुख्यरूप से होता है एवं शेष कर्मों का वन्ध गौणरूप से होता है।

पाँचवाँ पुञ्ज

प्रश्न १—आठ कर्मों के क्रम में क्या कुछ रहस्य है ?

उत्तर—हां ! बहुत गम्भीरता से समझने योग्य रहस्य है। देखिए[1]—ज्ञान-दर्शन के विना जीव का अस्तित्व ही नहीं रह सकता, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग ज्ञान-दर्शनरूप है।

ज्ञान-दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही सम्पूर्ण शास्त्रादि विषयक-प्रवृत्ति होती है। लब्धियां भी ज्ञानोपयोगवाले के ही होती हैं, दर्शनोपयोगवाले के नहीं होतीं। मुक्त होते समय भी जीव ज्ञानोपयोग-वाला होता है, दर्शनोपयोग तो उसे दूसरे समय में प्राप्त होता है। इस प्रकार ज्ञान की ही प्रधानता होने से ज्ञान का आवारक-ज्ञानावरणीयकर्म सबसे पहले कहा गया है। ज्ञानोपयोग के वाद जीव दर्शनोपयोग में स्थित होता है अतः ज्ञानावरणीयकर्म के वाद दर्शन का आवारक-दर्शनावरणीय कर्म रखा गया है। ये ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म अपना फल देते हुए **यथायोग्य सुख-दुःखरूपवेदनीय कर्म में निमित्त होते हैं।** जैसे—गाढ़ज्ञानावरणीय कर्म को भोगता हुआ जीव सूक्ष्मवस्तुओं के विचार में अपने आप को असमर्थ पाता है और खिन्न होता है। ज्ञाना-वरणीय कर्म के क्षयोपशम की पटुतावाला जीव अपनी बुद्धि से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुओं का विचार करता है एवं दूसरों से अपने को ज्ञान में वढ़ा-चढ़ा देखकर हर्ष का अनुभव करता है। इसी प्रकार प्रगाढ़-दर्शनावरणीय कर्म का उदय होने पर जीव जन्मान्ध होकर महा दुःख भोगता है तथा

---

1. प्रज्ञापना २३।१।२८८ टीका के आधार से।

उक्त कर्म के क्षयोपशम की पटुता होने पर जीव निर्मल-स्वस्थ चक्षुओं द्वारा वस्तुओं को यथार्थरूप से देखता हुआ प्रसन्न होता है। इसलिए ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयकर्म के वाद वेदनीयकर्म कहा गया है।

वेदनीय इष्टवस्तुओं के संयोग में सुख और अनिष्टवस्तुओं के संयोग में दुःख उत्पन्न करता है। इससे संसारी-जीवों के राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है और राग-द्वेष मोहनीय के कारण हैं। इसीलिए वेदनीयकर्म के वाद मोहनीयकर्म को स्थान दिया गया है।

मोहनीयकर्म से मूढ़ हुए प्राणी महारम्भ-महापरिग्रह आदि में आसक्त होकर नरकादि की आयु वांधते हैं अतः मोहनीयकर्म के वाद आयुकर्म का कथन किया गया है। नरकादि-आयुकर्म का उदय होने पर अवश्य ही नरकगति आदि नामकर्म की प्रकृतियों का उदय होता है अतः आयुकर्म के वाद नामकर्म रखा गया है।

नामकर्म का उदय होने पर जीव ऊंच या नीच गोत्र में से किसी एक गोत्र का अवश्य ही भोग करता है, इसलिए नामकर्म के वाद गोत्रकर्म कहा गया है।

गोत्रकर्म का उदय होने पर उच्चकुल में उत्पन्न जीव के दान-लाभ आदि से संवंधित अन्तरायकर्म का क्षयोपशम होता है एवं नीचकुल में उत्पन्न जीव के इन सव का उदय होता है अतः गोत्रकर्म के वाद अन्तरायकर्म का स्थान है।

प्रश्न २—आठों कर्मों की सारी कितनी प्रकृतियां हुईं?

उत्तर—मूलप्रकृतियां ८ और उत्तरप्रकृतियां १४८ तथा १५८ होती हैं—ज्ञानावरणीय कर्म की ५, दर्शनावरणीय कर्म की ९, वेदनीयकर्म की २, मोहनीयकर्म की २८, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ९३ तथा १०३, गोत्रकर्म की २ एवं अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियां होती हैं[1]। इन सव की स्थितियां भिन्न-भिन्न हैं, जो प्रज्ञापन २३।२ से

---

१. प्रज्ञापना २३।२।

प्रश्न ३—आठ कर्मों में पुण्य कितने हैं और पाप कितने हैं?

उत्तर—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय—ये चार कर्म एकान्त पाप हैं और शेष चार कर्म पुण्य-पाप दोनों ही प्रकार के हैं। सातवेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और उच्चगोत्र—ये पुण्य हैं। असात-वेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और नीचगोत्र—ये पाप हैं।

प्रश्न ४—पुण्य का अर्थ एवं भेद समझाइए।

उत्तर—उदय में आये हुए शुभकर्मपुद्गलों का नाम पुण्य है। पुण्य के नौ भेद हैं[1] अर्थात् पुण्य-बन्ध के नौ कारण हैं—(१) अन्नपुण्य, (२) पानपुण्य, (३) लयन-(स्थान) पुण्य, (४) शयन-(शय्या) पुण्य, (५) वस्त्रपुण्य, (६) मनःपुण्य, (७) वचनपुण्य, (८) कायपुण्य, (९) नमस्कार-पुण्य।

सुपात्र को शुद्ध-निर्दोष अन्न अर्थात् खाने की वस्तु देने से जो शुभकर्म बंधता है, उसे **अन्नपुण्य** कहते हैं। इसी तरह पानी अथवा अन्य पीने की वस्तु से **पानपुण्य**, मकान देने से **लयनपुण्य** और शय्या (पाट-बाजोट आदि) देने से **शयनपुण्य** तथा मन की शुभप्रवृत्ति करने से मनःपुण्य, शुभवचन बोलने से **वचनपुण्य**, काया की शुभप्रवृत्ति करने से **कायपुण्य** एवं सच्चे देव-गुरु-धर्म को नमस्कार करने से **नमस्कारपुण्य** का उपार्जन होता है।

प्रश्न ५—देव, गुरु और धर्म के सिवा अन्य व्यक्तियों को जो नमस्कार किया जाता है, वह क्या है?

उत्तर—कहीं कुलपरम्परा है (जैसे—विवाह आदि के बाद देवी-देवताओं को धोक मारना), कहीं सांसारिक कर्तव्य है (जैसे—माता, पिता, राजा, सेठ आदि को नमस्कार करना), कहीं प्रेम का व्यवहार है (जैसे—स्वजन, बन्धु एवं मित्रों को नमस्कार करना), कहीं स्वार्थपूर्ति

---

१. स्था० ९।६७९।

का ध्येय है (जैसे—डाक्टरों, मास्टरों एवं सरकारी अफसरों को नमस्कार करना) तथा कहीं व्यावहारिक सभ्यता है (जैसे—सभा-सोसाइटियों में सबके सामने हाथ जोड़ना), लेकिन कर्मनिर्जरा एवं पुण्यबन्ध केवल देव-गुरु-धर्म को वन्दना-नमस्कार करने से होता है।

यद्यपि इन्द्रादि देव, तीर्थंकरों की माताओं को नमस्कार करते हैं[1], **उत्पला** श्राविका ने **पोखली** श्रावक को एवं पोखली श्रावक ने **शंख** श्रावक को वन्दना-नमस्कार किया है[2], **पाण्डु** राजा एवं **कुन्ती** महारानी ने **नारद** को तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दना-नमस्कार किया है[3], शिष्यों ने अपने गुरु **अम्बड़** संन्यासी को नमस्कार किया है[4], **भरत** चक्रवर्ती ने चक्ररत्न को नमस्कार किया है[5] तथा **सूर्याभ** देवता ने प्रतिमा को नमस्कार किया है[6] लेकिन इन सबका किया हुआ वन्दना-नमस्कार लौकिकव्यवहार, कर्तव्य एवं जीताचार है। इसमें धर्म-पुण्य नहीं होता।

प्रश्न ६—पुण्य की उत्पत्ति का मूल कारण क्या है ?

उत्तर—मूलकारण शुभयोग है। जब जीव मन-वचन-काया से शुभकार्य-निरवद्यकाम (अहिंसा-सत्य-ब्रह्मचर्य आदि का पालन एवं अनशन आदि तप की आराधना) करता है, तब कर्मों की निर्जरा होती है। इससे जीव के आत्मप्रदेशों में हलन-चलन पैदा होती है एवं उससे कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है। आत्मप्रदेशों में हलन-चलन के समय सहचरनामकर्म का उदय होने से वह आस्रव पुण्यों का होता है अर्थात् पुण्य बंधते हैं।

जहां पुण्य का बन्ध होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी। अकेली निर्जरा

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति।
२. भगवती १२।१।
३. ज्ञाता, अ. १६।
४. औपपातिक, प्रश्न १३।
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति।
६. राजप्रश्नीयसूत्र।

तो (चौदहवें गुणस्थान में) हो सकती है, लेकिन अकेला पुण्य कहीं नहीं हो सकता क्योंकि निर्जरा और पुण्य का हेतु वही एक शुभयोग है।

कई लोग कच्चा पानी-कच्ची सब्जी आदि के दान में पुण्य का होना मानते हैं। लेकिन उन्हें सोचना चाहिए कि जहां हिंसामय-सावद्यक्रिया होगी, वहां अशुभयोगों की प्रवृत्ति होगी एवं अशुभयोगों की प्रवृत्ति से आत्मा में पुण्य का प्रवेश कैसे होगा!

प्रश्न ७—पुण्य हेय (छोड़ने योग्य) हैं या उपादेय (ग्रहण करने योग्य)?

उत्तर—यद्यपि जीव निर्जरा के साथ पुण्यों का ग्रहण अवश्य करता है (क्योंकि निर्जरा एवं पुण्यों की करणी एक है) एवं उनके सहारे कर्म-क्षेत्र में राजा, महाराजा, चक्रवर्ती एवं इन्द्रादि का पद तथा धर्मक्षेत्र में उपाध्याय, आचार्य यावत् तीर्थंकरों का पद प्राप्त कर लेता है तथा तेरहवें गुणस्थान तक उन्हें साथ लेकर विहरण करता है, फिर भी साधक पुण्यों को बन्ध रूप होने से हेय मानता है, क्योंकि आखिर उन्हें छोड़कर ही मोक्ष जाना है।

प्रश्न ८—धर्म और पुण्य एक हैं या दो?

उत्तर—दोनों भिन्न-भिन्न हैं। धर्म तो संवर-निर्जरा रूप आत्मा का परिणाम है—जीव हैं और पुण्य उदय में आए हुए शुभकर्म-पुद्‌गल हैं एवं अजीव हैं। धर्म की इच्छा करने से कर्मों की निर्जरा होती है तथा पुण्यों की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है। क्योंकि पुण्यों की इच्छा वस्तुतः सांसारिक सुखों की इच्छा है अतः वह पापबन्ध का ही कारण है।

प्रश्न ९—पुण्यानुबन्धिपुण्य एवं पापानुबन्धिपुण्य क्या है?

उत्तर—स्थानांग ४।३ टीका में पुण्य-पाप की चौभंगी कही है—(१) पुण्यानुबन्धिपुण्य, (२) पापानुबन्धिपुण्य, (३) पापानुबन्धिपाप, (४) पुण्यानुबन्धिपाप।

१. **पुण्यानुबन्धिपुण्य**—सद्‌ज्ञानपूर्वक एवं निदानादि दोषों से

रहित सकामनिर्जरा की करणी करते समय कर्मनिर्जरा के साथ-साथ कुछ इस प्रकार की पुण्यप्रकृतियों का वन्ध होता है कि वे अपने उदयकाल में मोह की लघुता (हल्कापन) को साथ लिए आती हैं। उनके उदयकाल में व्यक्ति को भौतिक सुख-सामग्रियां प्राप्त होती हैं लेकिन साथ में मोह कर्म का हल्कापन होने से वह उन सुख-सामग्रियों में आसक्त नहीं होता, अपितु धर्मानुष्ठान की ओर प्रवृत्त होता रहता है एवं भविष्य के लिए पुण्यप्रकृतियों का वन्ध करता है तथा कोई-कोई **चक्रवर्ती-भरत** की तरह कर्मों का क्षय करके मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। उदयकाल में पुण्यवन्ध होने के कारण उक्त पुण्यप्रकृतियाँ पुण्यानुवन्धिपुण्य कहलाती हैं।

२. **पापानुबन्धिपुण्य**—निदान आदि दोषों से दूषित त्यागतपस्यादि, अकामनिर्जरा के अनुष्ठानों से कर्मनिर्जरा के साथ-साथ कुछ इस प्रकार की पुण्यप्रकृतियों का वन्ध होता है कि वे अपने उदयकाल में मोह की प्रवलता को साथ लिये आती हैं। उनके उदयकाल में व्यक्ति भौतिक सुख-सामग्रियों को प्राप्त करता है किन्तु मोह की प्रवलता होने से वह **ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती** की तरह उनमें आसक्त होकर आगे के लिए पापप्रकृतियों का वन्ध कर लेता है। उदयकाल में पापप्रकृतियों का वन्ध होने के कारण उक्त पुण्यप्रकृतियां पापानुवन्धिपुण्य कहलाती हैं। शास्त्रों में जो इहलोक-परलोक एवं यशः कीर्ति के लिए तपस्या आदि करने का निषेध किया है तथा पूजाश्लाघा के लिए किया जानेवाला तप अशुद्ध कहा गया है, सम्भवतः उसका यही कारण है कि निदानादिदूषित तप भविष्य में पापवन्ध का कारण है।

३. **पापानुबन्धिपाप**—तीव्रकषाय एवं आसक्तिपूर्वक हिंसादिपाप-स्थानों का सेवन करते समय कुछ इस प्रकार की पापप्रकृतियों का वन्ध होता है कि वे अपने उदयकाल में मोह की प्रवलता को साथ लिए होती हैं। अतः उस समय व्यक्ति रोग-शोकादि से पीड़ित होता हुआ मोह की प्रवलता के कारण आर्त-रौद्रध्यान आदि असत्प्रवृत्तियों की ओर प्रवृत्त होता रहता है एवं भविष्य के लिए पापप्रकृतियों का वन्ध करता हुआ

तन्दुलमत्स्य या **कालसूकर** कसाई की तरह नरकादि दुर्गतियों में भ्रमण करता है। उदयकाल में पुनः पाप का वन्ध होने के कारण उक्त पाप-प्रकृतियां पापानुवन्धिपाप कहलाती हैं।

४. **पुण्यानुबन्धिपाप**—संयम की आराधना करता हुआ व्यक्ति प्रसंगवश क्रोधादि उत्पन्न होने से कुछ इस प्रकार की पापप्रकृतियों का वन्ध करता है कि जो अपने उदयकाल में मोह की लघुता को साथ लिए होती हैं। मोह की लघुता के कारण व्यक्ति को किसी उत्तम पुरुप का संयोग मिलता है। उससे ज्ञान पाकर वह त्याग-तपस्या की ओर अग्रसर होता है एवं घोर कष्ट के समय भी **चण्डकौशिकादिवत्** सहिष्णु वनकर अनित्यादिभावनाओं को भाता हुआ भविष्य के लिए पुण्यप्रकृतियों का अनुवन्ध करता है एवं कोई-कोई **ढंढणमुनि** की तरह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यह पुण्य-पाप की चौभंगी स्था० ४।४।३६२ से भी समझने योग्य है। वहां चार प्रकार का कर्म कहा है—(१) शुभ-शुभ, (२) शुभ-अशुभ, (३) अशुभ-शुभ, (४) अशुभ-अशुभ।[1]

१. **शुभ-शुभ**—एक कर्म **सुबाहुकुमार** के जन्मवत् वर्तमान में शुभ-पुण्यप्रकृतिरूप होता हैं और भविष्य में भी शुभफल का हेतु वनता है। इसे पुण्यानुवन्धिपुण्य समझना चाहिए।

२. **शुभ-अशुभ**—एक कर्म **सुभूमचक्रवर्ती** के जन्मवत् वर्तमान में शुभरूप होता है लेकिन भविष्य में अशुभ-पाप का निमित्त वनता है। इसे पापानुवन्धिपुण्य मानना चाहिए।

३. **अशुभ-शुभ**—एक कर्म वर्तमान में अशुभ-पाप रूप होता है और भविष्य में पुण्य रूप शुभ फल का कारण वनता है। जैसे—**हरिकेशीमुनि** का चाण्डालकुल में जन्म होने रूप पाप उनके संयम का हेतु वनकर कल्याण-कारी हो गया। यह पुण्यानुवन्धिपाप कहा जाना चाहिए।

---

१. सुभे णाममेगे सुभे, सुभे णाममेगे असुभे।
असुभे णाममेगे सुभे, असुभे णाममेगे असुभे।

४. **अशुभ-अशुभ**—एक कर्म वर्तमान में पाप रूप होता है और भविष्य में भी पाप रूप फल का निमित्त बनता है। जैसे—**कालसूकर** कसाई का जन्म पाप रूप था एवं आगे नरक का कारण बना। इस कर्म को पापानुवन्धिपाप मानना चाहिए।

प्रश्न १०—क्या द्रव्यपुण्य—भावपुण्य भी होता है ?

उत्तर—दिगम्वराचार्यों ने पुण्यादिपदार्थों के द्रव्य और भाव ऐसे दो-दो भेद किए हैं। संक्षेप में उनका कथन है कि जीव का शुभपरिणाम **भावपुण्य** है और उसके निमित्त से उत्पन्न सद्वेदनीय आदि-शुभप्रकृतिरूप पुद्गलपिण्ड **द्रव्यपुण्य** है। मिथ्यात्वरागादिरूप जीव का अशुभ परिणाम **भावपाप** है और उसके निमित्त से उत्पन्न असद्वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतिरूप पुद्गलपिण्ड **द्रव्यपाप** है। राग-द्वेषरूप जीव के परिणाम **भावआस्रव** है और भावआस्रव के निमित्त से कर्मवर्गणा के योग्यपुद्गलों का योगद्वार से आगमन **द्रव्यआस्रव** है। कर्मनिरोध में समर्थ निर्विकल्पक आत्मलब्धिरूप परिणाम **भावसंवर** है एवं उस भावसंवर के निमित्त से नये द्रव्यकर्मों के आगमन का निरोध **द्रव्यसंवर** है। कर्मशक्ति को दूर करने में समर्थ बारह प्रकार के तप से वृद्धिगत संवरयुक्त शुद्धोपयोग **भावनिर्जरा** हैं और उस शुद्धोपयोग से नीरस हुए पुरातनकर्मों का एकदेश से गलन अर्थात् अंशतः दूर होना **द्रव्यनिर्जरा** है। प्रकृति आदि वन्ध से शून्य—परमात्म-पदार्थ से प्रतिकूल मिथ्यात्वरागादि से स्निग्ध परिणाम **भाववन्ध** है तथा भाववन्ध के निमित्त से तेल लगे हुए शरीर के धूलि-लेप की तरह जीव और कर्मप्रदेशों का परस्पर संश्लेप होना **द्रव्यवन्ध** है। कर्म का निर्मूलन करने में समर्थ शुद्ध आत्मलब्धिरूप जीव परिणाम **भावमोक्ष** है और भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्मप्रदेशों का निरवशेष-पृथग्भाव-पूर्णरूप से अलग होना **द्रव्यमोक्ष** है।[1]

प्रश्न ११—पुण्य की सारी प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

---

१. पंचास्तिकाय० २।१०८ अमृतचन्द्रीय टीका।

उत्तर—४२ हैं। पूर्वोक्त नौ कारणों से बंधे हुए पुण्यों का फल ४२ प्रकार से भोगा जाता है, यानी पुण्य का उदय होने पर ये ४२ वस्तुएं मिलती हैं एवं ये ही ४२ पुण्यप्रकृतियां कहलाती हैं।[1] यथा—(१) तिर्यञ्चायु, (२) मनुष्यायु, (३) देवायु, (४) उच्चगोत्र, (५) सात-वेदनीय, (६) पराघात, (७) आतप, (८) उद्योत, (९) तीर्थंकर, (१०) श्वासोच्छ्वास, (११) निर्माण, (१२) पंचेन्द्रियजाति, (१३) वज्रऋषभनाराचनन, (१४) समचतुरस्रसंस्थान, (१५-२४) त्रसदशक-(१५) त्रस, (१६) वादर, (१७) पर्याप्त, (१८) प्रत्येक, (१९) स्थिर, (२०) शुभ, (२१) सुभग, (२२) सुस्वर, (२३) आदेय, (२४) यशः-कीर्ति, (२५) शुभवर्ण, (२६) शुभगन्ध, (२७) शुभरस, (२८) शुभ-स्पर्श, (२९) देवगति, (३०) देवानुपूर्वी, (३१) मनुष्यगति, (३२) मनुष्यानुपूर्वी, (३३) औदारिकशरीर, (३४) वैक्रियशरीर, (३५) तैजसशरीर, (३६) आहारकशरीर, (३७) कार्मणशरीर, (३८) औदारिक-अंगोपांग, (३९) वैक्रिय-अंगोपांग, (४०) आहारक अंगोपांग, (४१) अगुरु-लघु, (४२) शुभविहायोगति।

देवायु, मनुष्यायु एवं तिर्यञ्चायु जो पुण्यप्रकृतियों में गिनी गई हैं, वे शुभदेव, शुभमनुष्य और शुभतिर्यञ्चों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। किल्विषादिदेव, जातिकुलवलादि से हीन मनुष्य एवं युगलिकतिर्यञ्चों को छोड़कर शेष तिर्यञ्च अशुभ आयुवाले हैं।[2]

प्रश्न १२—पाप का अर्थ, प्रकार एवं फल समझाइए!

उत्तर—उदय में आये हुए अशुभकर्मपुद्गलों को **पाप** कहते हैं। पाप के १८ स्थान हैं यानी पापवन्ध के १८ कारण हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२)

---

१. कर्मग्रन्थ, भाग ५, गाथा १५।

२. नवपदार्थ—पुण्यपदार्थ ढाल १, गाथा ७।

कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशून्य, (१५) पर-परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा, (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।

विवेचन इस प्रकार है—

१. **प्राणातिपात**—प्रमादपूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् शरीर से उन्हें जुदा करना प्राणातिपात (हिंसा) है। **प्राणों का स्वरूप इस प्रकार** है। पर्याप्ति की अपेक्षा रखनेवाली जीवनशक्ति को प्राण कहते हैं। प्राणों को धारण करने से ही जीव **जीव** एवं **प्राणी** कहलाता है। प्राण दस हैं—[1]

(१) श्रोत्रेन्द्रियप्राण—सुनने की शक्ति।

(२) चक्षुरिन्द्रियप्राण—देखने की शक्ति।

(३) घ्राणेन्द्रियप्राण—सूंघने की शक्ति।

(४) रसनेन्द्रिय प्राण—स्वाद लेने की शक्ति।

(५) स्पर्शनेन्द्रिप्राण—स्पर्श करने—छूने की शक्ति।

(६) मनोवल—विचारने की शक्ति।

(७) वचनवल—वोलने की शक्ति।

(८) कायवल—हिलने-चलने की शक्ति।

(९) श्वासोच्छ्वासप्राण—श्वास लेने और छोड़ने की शक्ति।

(१०) आयुष्यप्राण—जीवित रहने की शक्ति।

प्राण आत्मा की शक्ति है और **पर्याप्ति** कार्मणशरीर द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गलों की शक्ति है। पर्याप्ति सहकारी-कारण है और प्राण उसका कार्य है। पांच इन्द्रिय-प्राणों का कारण इन्द्रियपर्याप्ति है। मनोवल, वचन-वल व कायवल का क्रमशः कारण—मनःपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और शरीरपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वासप्राण का कारण श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति है तथा आयुष्यप्राण का कारण आहारपर्याप्ति है।

किस जीव में कितने प्राण ? एकेन्द्रिय जीवों में प्राण ४ होते हैं—स्पर्शनेन्द्रियप्राण, कायवल, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुष्यप्राण।

---

१. स्था० १०।७४५।

द्वीन्द्रिय जीवों में प्राण छः होते हैं—रसनेन्द्रियप्राण और वचनवल तथा चार पूर्ववत्। त्रीन्द्रिय जीवों में प्राण ७ होते हैं—६ पूर्ववत् तथा एक घ्राणेन्द्रियप्राण। चतुरिन्द्रिय जीवों में प्राण ८ होते हैं—७ पूर्ववत् तथा एक चक्षुरिन्द्रियप्राण। असंज्ञितिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में प्राण ९ होते हैं—८ पूर्ववत् तथा एक श्रोत्रेन्द्रियप्राण। संज्ञिपंचेन्द्रियजीवों में दसों प्राण होते हैं। असंज्ञिमनुष्यों में अपूर्ण आठ प्राण होते हैं—मनोवल-वचनवल नहीं होते तथा श्वासोच्छ्वासप्राण अपूर्ण होता है।

सिद्धभगवान में—इन दस प्राणों में से कोई भी प्राण नहीं होता लेकिन ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—ये चार भावप्राण होते हैं। भावप्राण धारण करने से ही सिद्धभगवान **जीव** कहलाते हैं। भावप्राण का अर्थ है आत्मा के निज गुण।[1]

प्राणातिपात के प्रसंग में यह प्राणों का विवेचन हुआ। अब प्राणातिपात के भेद समझाइये!

प्राणातिपात द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। विनाश, परिताप और संक्लेश के भेद से यह तीन प्रकार का है। पर्याय का नाश करना **विनाश** है। दुःख उत्पन्न करना **परिताप** है और क्लेश पहुंचाना **संक्लेश** है। करण और योग के भेद से यह नौ प्रकार का है। इन्हीं नौ भेदों को चार कषाय से गुणा करने पर प्राणातिपात के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

२. **मृषावाद**—मिथ्यावचनों का कहना मृषावाद है। मृषावाद द्रव्य, भाव के भेद से दो प्रकार का है। अपेक्षा भेद से इसके चार भेद भी हैं—सद्भावप्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा। (इनका विवेचन चारित्र-प्रकाश पुञ्ज १, प्रश्न ७ में किया गया है।)

३. **अदत्तादान**—स्वामी, जीव, तीर्थंकर और गुरु द्वारा न दी हुई सचित्त, अचित्त और मिश्रवस्तु को विना आज्ञा ले लेना अदत्तादान अर्थात् चोरी है।

---

१. प्रज्ञापना पद १ सू० १ टीका।

४. **मैथुन**—स्त्री-पुरुष के सहवास को मैथुन कहते हैं। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के भेद से तथा करण और योग के भेद से इसके अनेक भेद हैं।

५. **परिग्रह**—मूर्च्छा-ममतापूर्वक वस्तुओं का ग्रहण करना परिग्रह है। वाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है—धर्मसाधन के सिवा धन-धान्यादि का ग्रहण करना वाह्यपरिग्रह है तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

६-९. क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषाय-वेदनीयकर्म के उदय से होने वाले जीव के प्रज्वलन, अहंकार, वंचना एवं मूर्च्छारूप-परिणाम क्रमशः क्रोध-मान-माया-लोभ हैं। (इनका विवेचन देखो पुञ्ज ३, प्रश्न ६ से ११ तक।)

१०. **राग**—माया और लोभ जिसमें अप्रकटरूप से विद्यमान हों, ऐसा आसक्तिरूप जीव का परिणाम राग है।

११. **द्वेष**—क्रोध और मान जिसमें अव्यक्तभाव से विद्यमान हों, ऐसा अप्रीतिरूप जीव का परिणाम द्वेष है।

१२. **कलह**—लड़ाई-झगड़ा करना कलह है।

१३. **अभ्याख्यान**—प्रकटरूप से अविद्यमान दोषों का आरोप (झूठा कलंक) लगाना अभ्याख्यान है।

१४. **पैशून्य**—पीठ पीछे किसी के दोष को प्रकट करना (चाहे उसमें हो या न हो) पैशून्य अर्थात् चुगली है।

१५. **पर-परिवाद**—दूसरे की निन्दा करना परपरिवाद है। (चुगली पीठ पीछे होती है और निन्दा सामने भी हो सकती है।)

१६. **अरति-रति**—मोहनीयकर्म के उदय से प्रतिकूलविषयों की प्राप्ति होने पर जो उद्वेग होता है, वह **अरति** है और इसी के उदय से अनुकूल विषयों की प्राप्ति होने पर जो आनन्दरूप-परिणाम उत्पन्न होता है वह **रति** है। जब एक विषय में रति होती है तब दूसरे विषय में स्वतः अरति हो जाती है। यही कारण है कि एक वस्तुविषयक-रति को ही दूसरे

विषय की अपेक्षा से अरति कहते हैं। इसलिए दोनों को एक पापस्थानक गिना है।

श्रीजयाचार्य ने रति-अरति का अर्थ इस प्रकार किया है—रति अर्थात् असंयम में आनन्द मानना तथा अरति यानी संयम में अरुचि का होना।

१७. **मायामृषा**—मायापूर्वक झूठ बोलना मायामृषा है। दो दोषों के संयोग से यह पापस्थानक माना गया है। अतः मानमृषा और लोभमृषा आदि पापों का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। वेश बदलकर लोगों को ठगना मायामृषा है, ऐसा भी इसका अर्थ किया जाता है।

१८. **मिथ्यादर्शनशल्य**—श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्यादर्शन है। जैसे—शरीर में चुभा हुआ शल्य सदा कष्ट देता है, उसी प्रकार मिथ्या-दर्शन भी आत्मा को दुःखी बनाए रखता है।

प्रवचनसारोद्धार में अठारह पापस्थानों में रति-अरति नहीं देकर **छठा रात्रिभोजन**-पापस्थानक दिया है।[1]

प्रश्न १३—पापस्थान और पाप में क्या अन्तर है?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव पाप करता है, वह कर्म **पापस्थान** है। जो वर्तमान में पाप की क्रिया हो रही है, वह **आस्रव** है एवं उस क्रिया से आकृष्ट होकर जो कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ बंधते हैं, वे **अशुभ-कर्म** हैं यानी **पाप** हैं।[2] पापों के संचय से जीव भारी बनता है एवं इनके त्याग से हल्का बनता है।

प्रश्न १४—जीव भारी एवं हल्का कैसे बनता है, यह विस्तार से समझाइए!

---

१. स्था० १।४८, प्रवचनसारोद्धार द्वार २३७ गाथा १३५१–५३ तथा दशाश्रुत-स्कन्ध ६।

२. झीणीचर्चा० ढाल २२ के आधार से।

उत्तर—आगम में कहा है[1] कि प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों का आचरण करने से जीव अशुभकर्मों का उपार्जन करता है एवं भारी होता है, फलस्वरूप नीचीगति में जाता है तथा उनका त्याग करने से हल्का होता है और ऊंचीगति में जाता है। जीव को ऊंची-नीचीगति में ले जानेवाला आठ कर्मों का हल्कापन एवं भारीपन ही है। इस वात को स्पष्ट करते हुए तुम्वे का दृष्टान्त दिया गया है।[2] जैसे—किसी तुम्वे पर डाभ और कुश लपेटकर मिट्टी का लेप कर दिया जाए एवं फिर उसे धूप में सुखा दिया जाए, इसके वाद क्रमशः डाभ और कुश लपेटते हुए आठ वार उस पर मिट्टी का लेप कर दिया जाए। तत्पश्चात् उस तुम्वे को पानी में छोड़ दिया जाए तो मिट्टी के लेप से भारी होने के कारण वह पानी के तलभाग में नीचे चला जाएगा। पानी में पड़ा रहने से ज्यों-ज्यों उसका लेप गलकर उतरता जाएगा, त्यों-त्यों वह ऊपर की ओर उठता जाएगा। जव आठों लेप उतर जाएंगे तव वह तुम्वा पानी के ऊपर तैरने लगेगा।

प्रश्न १५—पूर्वोक्त अठारह कारणों से बंधे हुए पापकर्म की सारी कितनी प्रकृतियां होती हैं ?

उत्तर—८२ प्रकृतियां मानी गई हैं। उनके नाम यथा, (१–५) मतिज्ञानावरणीय आदि ज्ञानावरणीयकर्म की पांच प्रकृतियां, (६–१४) दर्शनावरणीय की नौ प्रकृतियां (चक्षुदर्शनावरणीयादि ४ एवं निद्रा आदि ५), (१५) वेदनीयकर्म की एक—असातावेदनीय, (१६–४१) मोहनीयकर्म की २६ प्रकृतियां (सम्यक्त्ववेदनीय-मिश्रवेदनीय को छोड़कर, (४२–७६) नामकर्म की ३५ प्रकृतियां (वज्रऋषभनाराचसंहनन के सिवा पांच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान के सिवा पांच संस्थान, स्थावरदशक, नरकादित्रिक (नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायु), तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चा-

---

१. भगवती १।६।

२. ज्ञाता० अ० ६।

नुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय के सिवा चार जातियां (अशुभवर्ण-अशुभगन्ध-अशुभरस-अशुभस्पर्श, उपघात और अशुभविहायोगति, (७७) गोत्रकर्म की एक प्रकृति नीचगोत्र, (७८-८२) अन्तरायकर्म की पांच प्रकृतियां—दानान्तराय आदि।

प्रश्न १७—पुण्य-पाप प्रकृतियों की तरह क्या और भी कोई कर्मप्रकृतियों के प्रकार हैं ?

उत्तर—कर्मों की अवान्तरप्रकृतियों को विशेष स्पष्टता से समझाने के लिए उनके वारह भेद किये गए हैं—(१) ध्रुववन्धिनीप्रकृतियां, (२) अध्रुववन्धिनीप्रकृतियां, (३) ध्रुवोदयाप्रकृतियां, (४) अध्रुवोदया-प्रकृतियां, (५) ध्रुवसत्ताकप्रकृतियां, (६) अध्रुवसत्ताकप्रकृतियां, (७) सर्वदेशघातिनीप्रकृतियां, (८) अघातिनीप्रकृतियां, (९) पुण्य-प्रकृतियां, (१०) पापप्रकृतियां, (११) परावर्तमानप्रकृतियां, (१२) अपरावर्तमानप्रकृतियां।[1]

१. मिथ्यात्वादि—वन्धकारणों के होने पर जिन कर्मप्रकृतियों का वन्ध अवश्य होता है, वे **ध्रुववन्धिनी** कहलाती हैं एवं ४७ हैं—ज्ञाना-वरणीयकर्म की ५, दर्शनावरणीयकर्म की ९, मोहनीयकर्म की १९—(अनन्तानुवन्धि आदि सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा और मिथ्यात्व), नाम-कर्म की ९ (वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, तेजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण और उपघात) तथा अन्तरायकर्म की ५। उपरोक्त ४७ प्रकृतियां अपने-अपने वन्धहेतुओं के होने पर अवश्य बंधती हैं, इसीलिए ये ध्रुववन्धिनी कहलाती हैं।

२. वन्धहेतुओं के होने पर भी जो प्रकृतियां नियम से नहीं बंधतीं अर्थात् कभी बंधती हैं और कभी नहीं बंधतीं वे **अध्रुववन्धिनी** कहलाती हैं एवं उनके ७३ भेद हैं—३ शरीर (प्रथम), ३ अङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ जाति, ४ गति, २ विहायोगति, ४ आनुपूर्वी, तीर्थंकरनाम,

---

१. कर्मग्रन्थ, भाग ५ गा० १-१९।

श्वासनाम, उद्योतनाम, आतपनाम, पराघातनाम, १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक, २ गोत्र, २ वेदनीय, ७ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) और ४ आयु।

पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का बन्ध पर्याप्त नामकर्म के साथ ही होता है, अपर्याप्त के साथ नहीं होता। आतपनामकर्म एकेन्द्रिय जाति के साथ ही बंधता है। उद्योतनामकर्म तिर्यञ्चगति के साथ ही बंधता है। आहारकशरीर और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म का बन्ध संयमपूर्वक ही होता है और तीर्थंकरनामकर्म सम्यक्त्व के होने पर ही बंधता है। इसी प्रकार शेष ६६ प्रकृतियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए (निश्चित रूप से न बंधने के कारण ये प्रकृतियां अध्रुवबन्धिनी कहलाती हैं।)

३. विच्छेद होने से पहले जो सदा उदय में रहती हैं, वे २७ प्रकृतियाँ **ध्रुवोदया** कहलाती हैं। उनके नाम यथा—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, अगुरूलघु, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, ज्ञाना-वरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ४ प्रथम, अन्तराय की ५ और मिथ्यात्व-वेदनीय।

४. विच्छेद न होने पर भी जिन प्रकृतियों का उदय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव पांचों बातों की अपेक्षा रखता है अर्थात् इन सब के मिलने पर जिन प्रकृतियों का उदय हो, वे **अध्रुवोदया** कहलाती हैं। अध्रुवोदया-प्रकृतियां ९५ हैं—अध्रुवबन्धिनी ७३ प्रकृतियां पहले गिनाई जा चुकी हैं। उनमें से स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ—ये चार कम हो जाती हैं। शेष ६९ प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों में मोहनीय कर्म की १९ प्रकृतियां गिनाई गई हैं। उनमें मिथ्यात्व को छोड़कर शेष १८ अध्रुवोदया हैं। ६९ और १८ मिलकर ८७ हुईं। उनमें निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, उपघातनाम, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय—इन आठों को मिलाने से ९५ प्रकृतियां हो जाती हैं। ये प्रकृतियां सदा उदय में नहीं रहतीं। दूसरे निमित्तों को प्राप्त करके ही उदय में आती हैं।

मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों का उदय यद्यपि एक वार विच्छिन्न होकर फिर शुरू हो जाता है,फिर भी उन्हें अध्रुवोदया नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका अनुदय उपशम के कारण होता है और जितनी देर उपशम रहता है, उदय नहीं होता। उपशम न होने पर जब उदय होता है, तो वह क्षय या उपशम से पहले प्रत्येक समय बना रहता है।

निद्रा आदि प्रकृतियां उपशम या क्षय न होने पर भी सदा उदय में नहीं रहतीं। जैसे—नींद लेते समय ही निद्रा का उदय होता है, जागते समय नहीं।

गुणस्थानों की अपेक्षा से भी इनका भेद जाना जा सकता है। जैसे—चौथे गुणस्थान में निद्रा और मनः पर्ययज्ञानावरणीय दोनों प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें मनः पर्ययज्ञानावरणीय का उदय हमेशा रहता है। निद्रा का उदय तभी होता है, जब जीव नींद लेता है। यही इन दोनों का भेद है।

५. जो प्रकृतियाँ सम्यक्त्व आदि-उत्तर गुणों की प्राप्ति से पहले सत्तारूप में सभी जीवों के रहती हैं, वे त्रसदशक, स्थावरदशक आदि १३० प्रकृतियां **ध्रुवसत्ताक** मानी गई हैं।

६. सम्यक्त्व आदि-उत्तरगुणों की प्राप्ति से पहले जो प्रकृतियां कभी सत्ता में रहती हैं एवं कभी नहीं भी रहतीं, वे सम्यक्त्ववेदनीय, मिश्रवेदनीय, मनुष्यानुपूर्वी, तीर्थंकर, ४ आयु आदि २८ प्रकृतियां **अध्रुवसत्ताक** कहलाती हैं।

७. **सर्वदेशघातिनी प्रकृतियां**—जो प्रकृतियां आत्मा के गुणों का पूर्ण रूप से घात (आवृत) करती हैं, वे केवल ज्ञानावरणीय आदि २० प्रकृतियां **सर्वघातिनी** कहलाती हैं तथा जो आत्मा के गुणों को एकदेश से आवृत करती हैं, वे मतिज्ञानावरणीय आदि २५ प्रकृतियां **देशघातिनी** कहलाती हैं। केवलज्ञानावरण केवलज्ञान को पूर्ण रूप से रोकता है लेकिन मतिज्ञानावरण मतिज्ञान की न्यूनाधिकता करता है किन्तु उसे सर्वथा आच्छादित नहीं करता।

८. जो प्रकृतियां आत्मा के ज्ञान आदि-मूलगुणों का घात नहीं करतीं, वे आयु आदि चार कर्मों की ७५ प्रकृतियां **अघातिनी** कहलाती हैं।

९-१०. जिनके उदय से जीव को सुख की प्राप्ति होती है, वे शुभ-तिर्यञ्चायु आदि ४२ **पुण्यप्रकृतियां** कहलाती हैं तथा जिनके उदय से दुःख मिलता है, वे मतिज्ञानावरणीय आदि ८२ **पापप्रकृतियां** कहलाती हैं। (इनका वर्णन प्रश्न १५ में हो चुका है)

११-१२ जो प्रकृतियाँ अपने बन्ध, उदय या दोनों के लिए दूसरी प्रकृतियों के बन्ध आदि को नहीं रोकतीं, वे वर्ण-गन्ध आदि २५ प्रकृतियाँ **अपरावर्तमान** कहलाती हैं तथा दूसरी प्रकृतियों के बन्ध आदि को रोकनेवाली औदारिकशरीरनाम आदि ९१ प्रकृतियां **परावर्तमान** कहलाती हैं। जैसे—तैजसकार्मणशरीर बंधते समय औदारिकादिशरीर भी बंध सकते हैं लेकिन औदारिकशरीर बंधते समय वैक्रिय-शरीर को कभी नहीं बंधने देता। (ध्रुवसत्ताक आदि प्रकृतियों का विशेष विवेचन देखो कर्मग्रन्थ, भा० ५ में)

प्रश्न १७—जीवविपाकिनी-भवविपाकिनी आदि प्रकृतियां कौन-कौन-सी हैं ?

उत्तर—घनघाती-कर्मों की सभी (४७) प्रकृतियां, वेदनीय की २, गोत्र की २ और नामकर्म की २७ प्रकृतियां (तीर्थंकर, त्रस, बादर, पर्याप्त एवं स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, सुभग-सुस्वर-आदेय- यशः कीर्ति तथा दुर्भग-दुःस्वर-अनादेय-अयशःकीर्ति, श्वासोच्छ्वास, पांच जाति, चारगति एवं दो विहायोगति)—ये ७८ प्रकृतियां जीवविपाकिनी हैं और आयुष्यकर्म की चार प्रकृतियां भवविपाकिनी हैं। जीवविपाकिनी-प्रकृतियों का प्रभाव जीव के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-दुःख आदि पर पड़ता है अर्थात् इनके उदय से जीव ही अज्ञानी-अदर्शनी-मिथ्यात्वी-अचारित्री-सुखी-दुःखी आदि बनता है। भवविपाकिनी-प्रकृतियां नरकादि भवों में जाने के बाद अपना फल देती हैं। जैसे—नरकायु का भोग नरक में उत्पन्न होने के बाद ही होता

है। नामकर्म की शेष (जीवविपाकिनी प्रकृतियों को छोड़कर) वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शरीर-संघात-संहनन-संस्थान आदि ३६ प्रकृतियां पुद्गल-विपाकिनी कहलाती हैं। इनका प्रभाव मुख्यतया जीव के शरीर पर पड़ता है।[1]

---

१. कर्मग्रन्थ, भाग ५, गाथा २०-२१।

छठा पुञ्ज

प्रश्न १—किस-किस गुणस्थान में कौन-कौन-से कर्म का बन्ध, उदय एवं सत्ता है ?

उत्तर—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, नाम, गोत्र—ये पांच कर्म दसवें गुणस्थान तक वंधते हैं। मोहनीयकर्म नौवें गुणस्थान तक बंधता है, आयुकर्म तीसरे को छोड़कर सातवें गुणस्थान तक बंधता है। (तीसरे गुणस्थान में आत्मा दोलायमान रहती है अतः उस समय परभव की आयु नहीं बंध सकती), वेदनीयकर्म का बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक है किन्तु ११, १२, १३ इन तीन गुणस्थानों में केवल सातवेदनीयकर्म का बन्ध होता है, उसकी स्थिति दो समय की है—पहले समय में बंधता है, दूसरे समय में वेदा जाता है और तीसरे समय में निर्जर जाता है—झड़ जाता है।

गुणस्थानों में कर्मों का उदय एवं सत्ता इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय—इन तीन कर्मों का उदय एवं सत्ता (अस्तित्व) बारहवें गुणस्थान तक है (ये तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में नष्ट होते हैं), मोहनीयकर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक है एवं सत्ता (उपशम रूप में) ग्याहरवें गुणस्थान तक है। वेदनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य—इन चार कर्मों का उदय एवं सत्ता चौदहवें गुणस्थान तक हैं।

प्रश्न २—उदय एवं उदयनिष्पन्न क्या है ?

---

१. बावनबोल, बोल १८ के आधार से।

उत्तर—यथायोग्य समय पर उदय प्राप्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वरूप में फल भोगना **उदय** कहलाता है। कर्मों के उदय में आने पर जो फल की निष्पत्ति होती है, उसे **उदयनिष्पन्न** अथवा **औदयिकभाव** कहते हैं। उदय आठ कर्मों का होता है एवं उदयनिष्पन्न दो प्रकार का है—(१) जीवोदयनिष्पन्न, (२) अजीवोदयनिष्पन्न। जीवोदयनिष्पन्न के ३३ भेद हैं—चारगति (नरकादि), छःकाय (पृथ्वीकाय आदि), चारकषाय (क्रोधादि), तीनवेद (स्त्रीवेद आदि), छःलेश्या (कृष्णलेश्या आदि), मिथ्यादृष्टि, अविरति, असंज्ञी, अज्ञानी, आहारता, छद्मस्थ, सयोगी, संसारस्था, असिद्धता, अकेवली। गति आदि जीवपरिणामरूप होने से जीवोदयनिष्पन्न भाव माने गए हैं।

कर्मों के उदय से जीवों को जो अजीव रूप से फल दिखाते हैं, वे अजीवोदयनिष्पन्नभाव कहलाते हैं। उनके ३० भेद हैं—औदारिक आदि पांच शरीर और पांच उन शरीरों द्वारा प्रयोग (क्रिया) करते समय परिणत होनेवाले द्रव्य तथा ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस एवं ८ स्पर्श। शरीरादि पुद्गल रूप होने से अजीव हैं[1]।

प्रश्न ३—उपशम एवं उपशमनिष्पन्न समझाइए !

उत्तर—प्रदेशोदय—विपाकोदय दोनों ही प्रकार से उदय का रुक जाना **उपशम** है। इस प्रकार का उपशम **सर्वोपशम** कहलाता है एवं केवल मोहनीय कर्म का होता है।

उपशम से उत्पन्न होनेवाला भाव **उपशमनिष्पन्न**[2] कहलाता है। इसके दो भेद हैं—औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र। औपशमिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के उपशम से प्राप्त होता है एवं चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक उसकी उपलब्धि है तथा औपशमिकचारित्र चारित्रमोहनीय के उपशम से मिलता है एवं वह केवल ग्यारहवें गुणस्थान में होता है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र १२६ तथा तेरहद्वार द्वार ८

२. वही।

औपशमिक क्रोध-मान आदि भी इसी के अन्तर्गत हो जाते हैं।

प्रश्न ४—क्षायिक और क्षायिकनिष्पन्न का क्या रहस्य है?

उत्तर—कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना **क्षायिक** है एवं उससे जो भाव उत्पन्न होता है, उसे **क्षायिकनिष्पन्न** कहते हैं।[1] क्षायिक आठों कर्मों का होता है और क्षायिकनिष्पन्न के १३ भेद हैं—(१) केवलज्ञान (२) केवलदर्शन, (३) आत्मिकसुख, (४) क्षायिकसम्यक्त्व, (५) क्षायिकचारित्र, (६) अटलअवगाहना, (७) अमूर्तभाव (निराकारता), (८) अगुरुलघुता, (९) दानलब्धि, (१०) लाभलब्धि, (११) भोगलब्धि, (१२) उपभोगलब्धि, (१३) वीर्यलब्धि।

क्षायिकचारित्र एवं दानादि-लब्धियों का ग्रहण अरिहन्तभगवान की अपेक्षा से किया गया है। यदि सिद्धों की अपेक्षा लगाई जाये तो क्षायिकचारित्र नहीं रहेगा क्योंकि सिद्धों में चारित्र की उज्ज्वलता मात्र है, आचरण रूप चारित्र नहीं है तथा अशरीरी होने से उनके दानादिलब्धियां भी नहीं होतीं, केवल **अन्तरायरहितत्व** गुण है।

प्रश्न ५—क्षयोपशम और क्षयोपशमनिष्पन्न समझाइए!

उत्तर—उदय में आये हुए कर्मों का क्षय एवं अनुदीर्ण (उदय में नहीं आये हुए) कर्मों का विपाक की अपेक्षा उपशम होना **क्षयोपशम** है। इसमें प्रदेश की अपेक्षा कर्मों का उदय रहता है। क्षयोपशम से जो भाव उत्पन्न होता है, उसे **क्षायोपशमिकभाव** तथा **क्षयोपशमनिष्पन्नभाव** कहते हैं। क्षयोपशम ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—इन चार कर्मों का होता है। क्षयोपशमनिष्पन्न के ३२ भेद हैं अर्थात् इन चार कर्मों के क्षयोपशम से निम्नलिखित ३२ आत्मिकगुण प्राप्त होते हैं।[2]

---

१. अनुयोगद्वार, सूत्र १२६ तथा तेरहद्वार, द्वार ८।

२. अनुयोगद्वार, सूत्र १२६ तेहरद्वार, द्वार २ तथा बावनबोल, बोल १९ एवं ३६ के आधार से।

ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम से ८ गुण मिलते हैं—चार ज्ञान (केवलज्ञान को छोड़कर), तीन अज्ञान, एक भणना-गुणना (द्वीन्द्रियादि जीवों के अव्यक्त शब्द)।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आठ गुण मिलते हैं—पांच इन्द्रियां, केवलदर्शन के सिवा तीन दर्शन। यहां भावेन्द्रियों का ग्रहण है क्योंकि द्रव्येन्द्रियां तो नामकर्म के उदय से मिलती हैं। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयकर्म का क्षयोपशम-निष्पन्न बारहवें गुणस्थान तक है।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से आठ गुण मिलते हैं—यथाख्यात चारित्र के सिवा चार चारित्र, एक देशव्रत अर्थात् श्रावकपना, तीन दृष्टियां। मिथ्यादृष्टि में भी कुछ-कुछ सत्य का अंश विद्यमान रहता है, इसलिए उसको भी क्षयोपशमनिष्पन्न में लिया गया है किन्तु विपरीत श्रद्धान की अपेक्षा वह औदायिकभाव भी है। दर्शनमोहनीय का क्षयोपशमनिष्पन्न सातवें गुणस्थान तक व चारित्र-मोहनीय का क्षयोपशमनिष्पन्न दसवें गुणस्थान तक है।

अन्तरायकर्म के क्षयोपशम से आठ गुण मिलते हैं—दानलब्धि आदि पांच लब्धियां और तीन वीर्य। अन्तरायकर्म का क्षयोपशमनिष्पन्न बारहवें गुणस्थान तक माना गया है। जितनी भी क्रियात्मक-शक्तियां हैं, वे सब अन्तरायकर्म की क्षायिक-क्षयोपशमनिष्पन्न हैं (केवलज्ञानियों की क्षायिकनिष्पन्न हैं और छद्मस्थों की क्षयोपशमनिष्पन्न हैं।)

प्रश्न ६—पारिणामिकभाव का क्या रहस्य है?

उत्तर—कर्मों के उदय-उपशम आदि से निरपेक्ष जो भाव जीव को केवल स्वभाव से ही होता है, वह **पारिणामिकभाव** है। **अथवा** स्वभाव से ही स्वरूप में परिणत होते रहना पारिणामिकभाव है **अथवा** वस्तु का पूर्वअवस्था का त्याग किए बिना उत्तरअवस्था में चला जाना **परिणाम** है और उससे होनेवाला भाव पारिणामिक भाव है।

पारिणामिकभाव के दो भेद हैं—सादिपारिणामिक और अनादि-पारिणामिक।

सादिपारिणामिक—स्वरूप से अनादि होने पर भी किसी एक अपेक्षा से जिन भावों की आदि-शुरुआत होती है, वे **सादिपारिणामिक भाव** कहलाते हैं एवं उनके अनेक रूप हैं। जैसे—उल्कापात, जीर्णमदिरा-गुड़-घृतादि, बादल, दिसादाह, गाज-बीज, चन्द्र-सूर्यग्रहण, इन्द्रधनुष, ग्राम, नगर, घर, पाताल भवन, रत्नप्रभा आदि पृथ्वियां, सिद्धशिला तथा परमाणुपुद्गल एवं द्विप्रदेशिक यावत् अनन्त-प्रदेशिकस्कन्ध—ये सभी जीव एवं पुद्गलों की अपेक्षा से तो अनादि हैं किन्तु अवस्थाओं के परिवर्तन की दृष्टि से सादिपारिणामिक कहलाते हैं।

अनादिपारिणामिक—जिन की अवस्थाओं में कभी परिवर्तन नहीं होता, वे दस वस्तुएं **अनादिपारिणामिक** कहलाती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय, (६) जीवास्तिकाय, (७) लोक, (८) आलोक, (९) भव्य, (१०) अभव्य[१]।

सादि-अनादिपारिणामिक वत् जीव-अजीव पारिणामिकभाव भी बतलाए हैं।

प्रश्न ७—जीव कितने प्रकार के परिणामों को प्राप्त होता है?

उत्तर—कर्मों के उदय एवं अनुदय के निमित्त से जीव दस रूपों में परिणत होता है अतः उनकी अपेक्षा से जीव के दस परिणाम कहे हैं—

(१) गतिपरिणाम, (२) इन्द्रियपरिणाम, (३) कषायपरिणाम, (४) लेश्यापरिणाम, (५) योगपरिणाम, (६) उपयोगपरिणाम, (७) ज्ञानपरिणाम, (८) दर्शनपरिणाम, (९) चारित्रपरिणाम, (१०) वेदपरिणाम।[२]

१. गतिपरिणाम—नामकर्म के उदय से जीव नरकादि किसी एक

---

१. प्रवचनसारोद्धार द्वार २२१ गाथा १२९४ तथा अनुयोगद्वार सूत्र १२६।
२. प्रज्ञापना १३ तथा स्था० १०।७।१३।

गति को प्राप्त होता है और नरक, तिर्यञ्च, देव, मनुष्य के नाम से संबोधित होता है—यह गतिपरिणाम है।

२. इन्द्रियपरिणाम—नरकादि गति को प्राप्त हुए जीव को श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों में से कुछ इन्द्रियां अवश्य प्राप्त होती हैं—यह इन्द्रिय-परिणाम हुआ। द्रव्यइन्द्रियों की प्राप्ति नामकर्म के उदय से व भावइन्द्रियों की प्राप्ति दर्शनावरणीयकर्म के क्षयोपशम से होती हैं।

३. कषायपरिणाम—इन्द्रियप्राप्ति के बाद राग-द्वेष रूप कषाय की परिणति होती है अतः इन्द्रियपरिणाम के आगे कषायपरिणाम कहा है। क्रोध-मान-माया-लोभ रूप चार कषायों का होना कषायपरिणाम कहलाता है। यह चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से होता है।

४. लेश्यापरिणाम—कषाय के सद्भाव में लेश्या निश्चित रूप से होती है अर्थात् कषाय में लेश्या की नियमा है अतः कषायपरिणाम के बाद लेश्यापरिणाम कहा है। कृष्णादि छः लेश्याओं का होना लेश्यापरिणाम है। अशुभलेश्याएं मोहनीयकर्म के उदय से और शुभलेश्याएं उसके अनुदय से उत्पन्न होती हैं (लेश्यायों का स्वरूप देखो प्रश्न ९ से १२ तक)

५. योगपरिणाम—जहां लेश्या होती है, वहां योग होते ही हैं अत लेश्यापरिणाम के बाद योगपरिणाम कहा है। मन-वचन-काया रूप योगों की प्राप्ति होना योगपरिणाम कहलाता है। अशुभयोग मोहकर्म का उदय व शुभयोग इसका अनुदय है।

६. उपयोगपरिणाम—संसारी-प्राणियों के योग होने पर ही उपयोग-परिणाम होता है अतः योगपरिणाम के बाद उपयोगपरिणाम कहा है। मन-वचन-काया का व्यापार **योग** है एवं ज्ञान-दर्शन रूप चेतना का व्यापार **उपयोग** है। उपयोग के दो भेद हैं—साकार और निराकार। दर्शनोपयोग निराकार-निर्विल्पक है एवं ज्ञानोपयोग साकार-सविकल्पक है। ज्ञान-दर्शन के रूप में जीव की परिणति होना उपयोगपरिणाम है।

७. ज्ञानपरिणाम—ज्ञान उपयोग का ही एक विशेष रूप है अतः उपयोगपरिणाम के बाद ज्ञानपरिणाम बतलाया है। मति-श्रुत आदि ज्ञान

के रूप में जीव की परिणति होना ज्ञानपरिणाम है। यह मिथ्यादृष्टियों के मति-श्रुत-विभंगअज्ञान के रूप में होता है।

८. **दर्शनपरिणाम**—ज्ञान होने पर ही दर्शन-श्रद्धा होती है अतः ज्ञान-परिणाम के बाद दर्शनपरिणाम कहा है। दर्शन तीन हैं—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और सम्यग्मिथ्यादर्शन। इनमें से किसी एक में परिणति होना दर्शनपरिणाम है।

९. **चारित्रपरिणाम**—दर्शन होने पर ही चारित्र होता है, अतः दर्शन-परिणाम के बाद चारित्रपरिणाम का कथन किया गया है। चारित्र पांच हैं—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसपराय, (५) यथाख्यात। इन चारित्रों में जीव की परिणति होना चारित्रपरिणाम है। उपयोगपरिणाम ज्ञानावरणीय-दर्शनवरणीय कर्म का तथा ज्ञानपरिणाम ज्ञानावरणीयकर्म का क्षायिक-क्षयोपशम है। दर्शन-परिणाम दर्शनमोहनीयकर्म का उदय-उपशम-क्षायिक-क्षयोपशम है तथा चारित्रपरिणाम चारित्रमोहनीयकर्म का उपशम-क्षायिक-क्षयोपशम है।

१०. **वेदपरिणाम**—स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद में से जीव को किसी एक वेद का मिलना वेदपरिणाम है। वेदपरिणाम नोकषायवेदनीय- कर्म का उदय है।

प्रश्न ८—अजीवपरिणाम का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जीवरहित वस्तुओं में जो परिवर्तन होता है, उस परिवर्तन में होनेवाली उनकी विविध अवस्थाओं को अजीवपरिणाम कहते हैं। उनके दस भेद हैं[1]—

१. **बन्धनपरिणाम**—स्निग्धता एवं रूक्षता के कारण पुद्गलों का जो परस्पर जुड़ना होता है, वह बन्धनपरिणाम है। इसका विवेचन लोकप्रकाश पुञ्ज १, प्रश्न २८ में किया जा चुका है।

२. **गतिपरिणाम**—अजीवपुद्गलों की गति होना गतिपरिणाम है।

---

१. प्रज्ञापना १३ तथा स्था० १०।७१३।

यह दो प्रकार का है—स्पृशद्गतिपरिणाम और अस्पृशद्गतिपरिणाम। प्रयत्न विशेष से फेंका हुआ द्रव्य यदि पदार्थों का स्पर्श करता हुआ गति करे, तो वह **स्पृशद्गतिपरिणाम** कहलाता है। जैसे—पानी के ऊपर तिरछी फेंकी हुई ठीकरी बीच में रहे हुए पानी का स्पर्श करती हुई बहुत दूर तक चली जाती है।

यदि वह द्रव्य बीच में रहे हुए पदार्थों का स्पर्श न करता हुआ गति करे, तो वह **अस्पृशद्गतिपरिणाम** कहलाता है। जैसे—बहुत ऊंचे मकान पर से फेंका हुआ पत्थर बीच में अन्य पदार्थों का स्पर्श न करता हुआ सीधा नीचे पहुंच जाता है।

गतिपरिणाम के अन्य प्रकार से भी दो भेद किए गए हैं—दीर्घगति-परिणाम और ह्रस्वगतिपरिणाम। इनका अर्थ क्रमशः दूरक्षेत्र एवं निकटक्षेत्र तक गति करना है।

पुद्गलों के इस गतिपरिणाम के कारण से ही रेडियो द्वारा दूर-दूर देशों के समाचार सुनाई देते हैं। आगम में कहा है[1] कि शब्द के पुद्गल एक समय में लोक के अन्त तक पहुंच सकते हैं।

३. **संस्थानपरिणाम**—आकारविशेष को संस्थान कहते हैं। पुद्गलों का परिमण्डल-वृत्त आदि आकारों में परिणत होना संस्थानपरिणाम है। (संस्थानों का वर्णन पुञ्ज ४, प्रश्न १० में संस्थाननामकर्म के साथ किया जा चुका है।)

४. **भेदपरिणाम**—पुद्गलों में भेद होना भेदपरिणाम है। भेद पांच प्रकार का है—(१) खण्डभेद, (२) प्रतरभेद, (३) अनुतटिकाभेद, (४) चूर्णभेद, (५) उत्कारिकाभेद। (इनका अर्थ लोकप्रकाश, पुञ्ज १, प्रश्न २४ में आ चुका है।)

५. **वर्णपरिणाम**—पुद्गलों का कृष्ण, नील, रक्त, पीत एवं श्वेत रंग के रूप में परिणत होना वर्णपरिणाम कहलाता है।

---

१. प्रज्ञापना ११।

६. गन्धपरिणाम—पुद्गलों का सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध के रूप में परिणत होना गन्धपरिणाम कहलाता है।

७. रसपरिणाम—पुद्गलों का तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल एवं मधुर रस के रूप में परिणत होना अर्थात् तीखा, कड़वा आदि होना रसपरिणाम है।

८. स्पर्शपरिणाम—पुद्गलों का कर्कश आदि स्पर्शयुक्त होना स्पर्श-परिणाम है। स्पर्श आठ हैं—(१) कर्कश, (२) मृदु, (३) गुरु, (४) लघु, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध, (८) रूक्ष।

९. अगुरुलघुपरिणाम—जो न तो इतना भारी हो कि एकदम नीचे चला जाए और न इतना हल्का हो कि ऊपर की ओर उड़ जाए—ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म-परमाणु अगुरुलघुपरिणाम कहलाता है। भाषा, मन, कर्म आदि के परमाणु अगुरुलघु होते हैं। अगुरुलघुपरिणाम के ग्रहण से यहां गुरुलघुपरिणाम भी समझ लेना चाहिए। जो एक वस्तु की अपेक्षा से हल्का और दूसरी वस्तु की अपेक्षा से भारी हो, वह गुरुलघुपरिणाम है। औदारिकादि शरीर गुरुलघुपरिणामवाले होते हैं।

१०. शब्दपरिणाम—शब्द के रूप में पुद्गलों का परिणत होना शब्दपरिणाम है। जो कड़ी-कंवाड़ आदि जड़पदार्थ शब्द करते हैं, वह शब्दपरिणाम का ही फल है।

प्रश्न ९—जीव के दस परिणामों में लेश्यापरिणाम कहा है, अतः लेश्या का स्वरूप समझाइए!

उत्तर—आत्मा के जिन शुभ-अशुभ परिणामों से आत्मा के साथ शुभाशुभकर्मों का श्लेष-सम्बन्ध होता है अर्थात् कर्म बंधते हैं, उन परिणामों का नाम लेश्या है। इसके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या।

द्रव्यलेश्या के विषय में तीन मत हैं—पहले मत का आशय है कि द्रव्यलेश्या कर्मवर्गणा से बनी हुई है और कर्म रूप होते हुए भी कार्मणशरीर के समान आठों कर्मों से भिन्न है।

दूसरे मत का आशय है कि द्रव्यलेश्या कर्मनिष्यन्द अर्थात् कर्मप्रवाह-

रूप है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म होने पर भी उनका प्रवाह (नये कर्मों का आगमन) न होने से वहां लेश्या के अभाव की संगति हो जाती है।

तीसरे मत का आशय है कि जब तक योग रहता है तब तक लेश्या रहती है, योग के अभाव में लेश्या भी नहीं रहती। जैसे—चौदहवें गुणस्थान में। इसीलिए लेश्या योगपरिणाम रूप है। इस मत के अनुसार लेश्या योगान्तर्गत द्रव्यरूप है अर्थात् मन-वचन-काया के अन्तर्गत शुभाशुभ-परिणाम के कारणभूत कृष्णादिवर्णवाले पुद्गल ही द्रव्यलेश्या है। आत्मा में रही हुई, कषायों को लेश्या बढ़ाती है। योगान्तर्गत-पुद्गलों में कषाय को बढ़ाने की शक्ति रहती है। जैसे—पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है।[1]

योगान्तर्गत-पुद्गलों के वर्णों (रंगों) की अपेक्षा लेश्याएं छः हैं—(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कापोतलेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्मलेश्या, (६) शुक्ललेश्या।

द्रव्यलेश्याएं पुद्गलमय हैं अतः उनमें कृष्णादि वर्ण होते हैं। जहां वर्ण होंगे वहां रस-गन्ध स्पर्श भी अवश्य होंगे—इसीलिए जैनशास्त्रों में लेश्याओं के वर्ण-रस-गन्ध एवं स्पर्श बतलाए हैं। उनका रहस्य अगले पृष्ठ पर दिए यन्त्र से समझिए।[2]

---

१. प्रज्ञापना १७, कर्मग्रन्थ भा० ४ तथा उत्तरा० ३४।

२. प्रज्ञापना १७।४ तथा उत्तरा० ३४।३-२०।

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	कज्जलादिवत् काला	नीमादिक से अनंतगुणा कड़वा	मृतगाय-श्वान-सर्प आदि की गंध से अनन्तगुण अनिष्ट गन्ध	करवत (आरी से अनन्तगुण कर्कश-खुरदरा
नील	नीलम आदिवत् नीला	सोंठ आदि से अनन्तगुण तीक्ष्ण-तीखा	"	"
कापोत	कबूतर की गर्दन के समान कबूतरिया रंग	कच्चे आम आदि के रस से अनन्तगुण तिक्त-कसैला	"	"
तेजस्	हिंगुल-सिन्दूर आदि के समान लाल	पके आम आदि के रस से अनन्त-गुण खट्टा-मीठा	सुगंधित पुष्प एवं पीसे जा रहे सुगंधित पदार्थ की गन्ध से अनन्त-गुण इष्ट गन्ध	मक्खन आदि से अनन्तगुण मृदु-कोमल
पद्म	हल्दी आदि के समान पीला	मधु आदि से अनन्तगुण मिष्ट	"	"
शुक्ल	शंख आदि के समान धोला	मिसरी आदि से अनन्तगुण मिष्ट	"	"

प्रश्न १०—अब भावलेश्या समझाइए !

उत्तर—उपर्युक्त कृष्णादि द्रव्यलेश्या-सम्बन्धी वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-युक्त पुद्गलों के ग्रहण करने से आत्मा में जो शुभाशुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं—उन परिणामों का नाम भावलेश्या है। आगम में कहा है[1] कि जीव जिस लेश्या के पुद्गल लेता है, उसमें उसी लेश्या का शुभ या अशुभ-परिणाम हो जाता है। व्यावहारिक जगत् में भी इस बात की पुष्टि मिलती है। देखिए—प्राकृतिकचिकित्साप्रणाली में मानसरोगी (पागल) का दिमाग ठीक करने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योगप्रणाली में भी पृथ्वी-जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तनानुसार मानसपरिवर्तन का क्रम बतलाया है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि द्रव्यलेश्या और भावलेश्या का गहरा सम्बन्ध है। भावलेश्या दो प्रकार की होती हैं—प्रशस्त (अच्छी) और अप्रशस्त (बुरी)। कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं और तेजस्, पद्म, शुक्ल—ये तीन लेश्याएँ प्रशस्त हैं। अप्रशस्त लेश्याएँ दुर्गति की ओर ले जानेवाली हैं तथा प्रशस्त लेश्याएँ सद्गति देनेवाली हैं।[2] प्रशस्त लेश्याएँ मोहकर्म के उपशम-क्षय एवं क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं एवं अप्रशस्त लेश्याएँ मोहकर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं।[3] तत्त्व यह निकला कि मोहकर्म के उदय से जीव अशुभवर्णादि ग्रहण करता है एवं उनके सहयोग से उसके दुष्टपरिणाम होते हैं तथा मोहकर्म के उपशम-क्षय एवं क्षयोपशम होने से जीव शुभवर्णादि ग्रहण करता है और फलस्वरूप उसके शुभपरिणाम हो जाते हैं।

प्रश्न ११—हम कैसे जान सकते हैं कि किस जीव में कौन-

---

१. जल्लेसाइं दव्वाइं ⋯आदियन्ति तल्लेसे परिणामे भवइ (प्रज्ञापना १७)

२. प्रज्ञापना. १७।४ तथा उत्तरा. ३४।५६-५७

३. उत्तरा. ३४ वृत्ति

सी लेश्या के परिणाम हैं ?

उत्तर—आगम में कृष्णादिलेश्या वाले जीवों का विवरण इस प्रकार है :

(१) जो मनुष्य पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करनेवाला है, इहलोक-परलोक के बुरे परिणामों से नहीं डरनेवाला है, क्रूर है, अजितेन्द्रिय है—वह व्यक्ति कृष्णलेश्या के परिणामवाला है अर्थात् कृष्णलेश्यावाले जीव के ऐसे दुष्ट परिणाम होते हैं।

(२) जो जीव ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करनेवाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है, आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है एवं बिना विचारे कार्य करनेवाला है—वह व्यक्ति नीललेश्या के परिणामवाला है।

(३) जो जीव वचन से वक्र है, आचरण से वक्र है, कपट करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छिपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है, हंसोड़ है, दुष्ट वचन बोलनेवाला है, चोर है एवं मत्सरी है—वह कापोतलेश्या के परिणामवाला है।

(४) जो जीव नम्रता से वर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने में निपुण है, दान्त है, समाधियुक्त है, उप-धान (श्रुत-अध्ययन करते समय तप) करनेवाला है, धर्म में प्रेम रखता है, धर्म में दृढ़ है, पापभीरु है, मुक्ति का गवेषक है—वह तेजोलेश्या के परिणामवाला है।

(५) जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्तचित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समाधियुक्त है, उपधान करनेवाला है, अत्यल्पभाषी है, उपशान्त एवं जितेन्द्रिय है—वह व्यक्ति पद्मलेश्या के परिणामवाला है।

(६) जो मनुष्य आर्त और रौद्र—इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्म और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, प्रशान्तचित्त है, अपनी

आत्मा का दमन करता है, समितियों से समित है, गुप्तियों से गुप्त है, उपशान्त एवं जितेन्द्रिय है—वह सराग हो या वीतराग, शुक्ललेश्या के परिणामवाला है।[1]

छः लेश्याओं का स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों ने दो दृष्टान्त दिए हैं। वे नीचे लिखे अनुसार हैं।[2] छः पुरुषों ने फलों से लदा हुआ एक जामुन का वृक्ष देखा। उन्हें फल खाने की इच्छा हुई। एक ने कहा—इसे जड़ से काटकर नीचे गिरा दो और सुख से बैठकर फल खा लो! दूसरा बोला—केवल बड़ी-बड़ी डालियाँ काट लो! तीसरे ने सलाह दी कि छोटी-छोटी डालियाँ काट लो क्योंकि फल तो उन्हीं पर हैं! चौथे का कहना था कि डालियों को नष्ट न करके सिर्फ फलों के गुच्छे तोड़ लो! पाँचवें का विचार था—गुच्छे न तोड़कर मात्र पके हुए फल तोड़ लेने चाहिए! यह सुनकर छठे पुरुष ने कहा—भाई! नीचे भी काफी फल पड़े हैं, उन्हीं से भूख मिटा लो! तोड़ो मत!

दूसरा दृष्टान्त—एक गाँव में डाका डालने के लिए छः क्रूरकर्मी डाकू आए। उनमें से एक ने कहा—गाँव में सभी मनुष्यों एवं पशुओं को मार डालो! दूसरे ने कहा—पशुओं ने हमारा क्या बिगाड़ा है, केवल मनुष्यों को मारो! तीसरे ने सलाह दी—स्त्री-हत्या महापाप है अतः केवल पुरुषों को मारो! चौथा बोला—जिन-जिनके पास शस्त्र हों, उन्हीं को मारो, शस्त्रविहीनों को नहीं! पाँचवें ने परामर्श दिया—शस्त्र लेकर जो हमारा मुकाबला करें, उन्हीं को मारो, अन्यों को नहीं! अन्त में छठे ने कहा—हम तो धन के भूखे हैं अतः जिससे धन मिले—वह उपाय करो, किसी को मारने से क्या फायदा! लूट-खसोट का पाप ही काफी है, मनुष्य-हत्या का महापाप क्यों कर रहे हो!

दोनों दृष्टान्तों में पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे—इस प्रकार आगे-

---

१. उत्तरा: ३४।२१-३२

२. कर्मग्रन्थ, भाग ४, पृ० ३३ तथा आवश्यक, हरिभद्रीय, अ. ४, पृ० ६४४ के आधार से।

आगे के पुरुषों के परिणाम क्रमशः अधिकाधिक शुभ हैं। इन परिणामों में उत्तरोत्तर संक्लेश की कमी एवं मृदुता की अधिकता है। छहों में पहले पुरुष के परिणाम को कृष्णलेश्या यावत् छठे के परिणाम को शुक्ललेश्या समझनी चाहिए।

प्रश्न १२—किन-किन जीवों में कौन-कौन-सी लेश्याएँ होती हैं ?

उत्तर—सात नारकों में तीन लेश्याएँ होती हैं—कृष्ण, नील और कापोत। देवताओं में लेश्याएँ छह होती हैं। पृथ्वी, पानी, वनस्पति तथा युगलिकों में लेश्याएँ चार प्रथम होती हैं। तैजस्काय, वायुकाय, तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञिमनुष्य व असंज्ञितिर्यञ्च में लेश्याएँ प्रथम तीन होती हैं। संज्ञिमनुष्य और संज्ञितिर्यञ्च में छहों लेश्याएँ हो सकती हैं।[1] (नारकी-देवता का वर्णन द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से समझना चाहिए)।

प्रश्न १३—लेश्या के साथ योग अवश्य होते हैं, इसलिए योगों की व्याख्या बतलाइए!

उत्तर—वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से तथा शरीरनामकर्म के उदय से मन, वचन और कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशों में होनेवाले स्पन्दन-कंपन या हलन-चलन को **योग** कहते हैं। सीधे-सादे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मन-वचन-काया की क्रिया, प्रवृत्ति एवं व्यापार का नाम योग है। प्रज्ञापनासूत्र में योग के स्थान में **प्रयोग** शब्द आया है। आलम्बन-भेद से योग के तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके क्रमशः चार-चार एवं सात भेद होने से योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। विवेचन नीचे पढ़िए।[2]

मनोयोग—मनोवर्गणा के पुद्गलों द्वारा होनेवाला आत्मा का परिस्पन्दन मनोयोग है। मनोयोग अर्थात् मन के विचार। मनोयोग के चार

---

१. प्रज्ञापना १७।२

२. प्रज्ञापना. १६।२०२, भगवती २५।१।७१९, प्रज्ञापना. ११।१६५ तथा स्था० १०।७४१, द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग, ३, पृ० ३५८ तथा कर्मग्रंथ, भाग ४ गा० २४

भेद हैं—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) मिश्रमनोयोग, (४) व्यवहारमनोयोग।

(१) मन का जो व्यापार सत्य अर्थात् सज्जन पुरुषों के लिए हितकारी हो एवं उन्हें मोक्ष की तरफ ले जानेवाला हो, उसे **सत्यमनोयोग** कहते हैं **अथवा** जीवादिपदार्थों के विषय में अनेकान्तस्वरूप—यथार्थविचार सत्यमनोयोग कहलाता है।

(२) सत्य से विपरीत अर्थात् आत्मा को संसार की ओर ले जानेवाले मन के व्यापार को **असत्यमनोयोग** कहते हैं **अथवा** जीवादिपदार्थ नहीं हैं या एकान्तसत् हैं—इत्यादि एकान्तरूप मिथ्याविचार असत्यमनोयोग है।

(३) व्यवहारनय से ठीक होने पर भी निश्चयनय से जो विचार पूर्णसत्य न हो—उसमें कुछ असत्य का अंश भी विद्यमान हो—वह विचार **मिश्रमनोयोग** कहलाता है। जैसे—किसी उपवन में धव-खदिर-पलाशादि के कुछ वृक्ष होने पर भी अशोकवृक्ष की अधिकता होने से, उसके विषय में यह अशोकवन ही है—ऐसा विचार करना। वन में अशोकवृक्ष हैं अतः यह विचार सत्य है और धव-खदिरादि भी हैं अतः असत्य है। आगमों में मिश्र के स्थान पर **सत्यमृषामनोयोग** कहा गया है—इसका अर्थ होता है मिश्रमनोयोग।

(४) जो विचार सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं है, उसे **असत्यामृषा** (न सांच—न झूठ) **मनोयोग** अर्थात् **व्यवहारमनोयोग** कहते हैं। किसी विषय में विवाद खड़ा होने पर सर्वज्ञभगवान के सिद्धान्तानुसार विचार करनेवाला आराधक है एवं उसका विचार सत्य है तथा जो सर्वज्ञसिद्धान्त से विपरीत विचरता है, जीवादिपदार्थों को एकान्तनित्य आदि बताता है, वह विराधाक है एवं उसका विचार असत्य है।

जहाँ वस्तु को सत्य-असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो, केवल वस्तु का स्वरूपमात्र दिखाया जाए। जैसे—**देवदत्त! घड़ा लाओ!** इत्यादि चिन्तन में वहाँ सत्य या असत्य कुछ नहीं होता। आराधक-विराधक की कल्पना भी वहाँ नहीं होती। इस प्रकार का आदेश-

उपदेशात्मक विचार व्यवहारमनोयोग है। यह भी व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय से तो इसका भी सत्य या असत्य में समावेश हो जाता है।

वचनयोग—वचनवर्गणा के पुद्गलों द्वारा आत्मा में जो परिस्पन्दन होता है, उसे **वचनयोग** कहते हैं। वचनयोग अर्थात् वचन का व्यापार—बोलना। इसके चार भेद हैं—(१) सत्यवचनयोग, (२) असत्यवचनयोग, (३) मिश्रवचनयोग, (४) व्यवहारवचनयोग। इनका विवेचन मनोयोग के समान ही है—केवल इतना-सा अन्तर है कि मनोयोग में सच्चा, झूठा, मिश्र एवं व्यावहारिक विचार-चिन्तन है और वचनयोग में सत्य-असत्यादि बोलना है।

सत्यवचन के दस भेद हैं—(१) जनपदसत्य, (२) सम्मतसत्य, (३) स्थापनासत्य, (४) नामसत्य, (५) रूपसत्य, (६) प्रतीत्यसत्य, (७) व्यवहारसत्य, (८) भावसत्य, (९) योगसत्य, (१०) उपमासत्य।

असत्यवचन के दस भेद हैं—(१) क्रोधनिःसृत, (२) माननिःसृत, (३) मायानिःसृत, (४) लोभनिःसृत, (५) प्रेमनिःसृत, (६) द्वेष-निःसृत, (७) हास्यनिःसृत, (८) भयनिःसृत, (९) आख्यायिकानिःसृत, (१०) उपघातनिःसृत।

मिश्रवचन के दस भेद हैं—(१) उत्पन्नमिश्रित, (२) विगतमिश्रित, (३) उत्पन्न-विगतमिश्रित, (४) जीवमिश्रित, (५) अजीवमिश्रित, (६) जीवाजीवमिश्रित, (७) अनन्तमिश्रित, (८) प्रत्येकमिश्रित, (९) अद्धामिश्रित, (१०) अद्धाद्धामिश्रित।

व्यवहारवचन अर्थात् व्यवहारभाषा के बारह प्रकार हैं—(१) आमन्त्रणी, (२) आज्ञापनी, (३) याचनी, (४) प्रच्छनी, (५) प्रज्ञापनी, (६) प्रत्याख्यानी, (७) इच्छानुलोमा, (८) अनभिगृहीता, (९) अभि-गृहीता, (१०) संशयकारिणी, (११) व्याकृत, (१२) अव्याकृत। (वचन-योग के इन ४२ भेदों का सरल अर्थसहित वर्णन **चारित्रप्रकाश**, पुञ्ज १, प्रश्न ७ तथा पुञ्ज २, प्रश्न ४ में किया गया है।

काययोग—कायवर्गणा के पुद्गलों द्वारा आत्मप्रदेशों में जो कम्पन

होता है, वह **काययोग** है। काययोग यानी शरीरसम्बन्धी सभी प्रकार की क्रियाएँ। इसके सात भेद हैं :

(१) **औदारिककाययोग**—शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद औदारिक-शरीर से जो भी हलन-चलनादि क्रिया होती है, उसे (**औदारिककाययोग**) कहते हैं। यह शरीर-पर्याप्तियुक्त मनुष्यों-तिर्यञ्चों में होता है।

(२) **औदारिकमिश्रकाययोग**—औदारिक के साथ कार्मण, वैक्रिय एवं आहारक की सहायता से होनेवाली शरीर की हलन-चलनादि क्रिया को **औदारिकमिश्रकाययोग** कहते हैं। यह चार प्रकार से होता है :

(क) औदारिकशरीर में उत्पन्न होनेवाला जीव आहार लेकर जब तक शरीरपर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर लेता, तब तक कार्मण के साथ औदारिक-मिश्रकाययोग होता है।

(ख) वैक्रियलब्धिवाले मनुष्य-तिर्यञ्च वैक्रियरूप बनाते हैं लेकिन जब तक वह पूरा नहीं बनता, तब तक वैक्रिय के संयोग से औदारिकमिश्र-काययोग होता है।

(ग) आहारकलब्धिवाले मुनि आहारकशरीर (पुतला) बनाते हैं। जब तक वह पूरा नहीं बनता, तब तक आहारक के साथ औदारिकमिश्र-काययोग होता है।

(घ) केवलिसमुद्घात के दूसरे, छठे एवं सातवें समय कार्मण के संयोग से औदारिकमिश्रकाययोग होता है। क्योंकि तीसरे, चौथे और पाँचवें समय कार्मणकाययोग रहता है।

(३) **वैक्रियकाययोग**—देवता-नारकी में शरीरपर्याप्ति की पूर्णता के बाद और वैक्रियलब्धिवाले मनुष्यों-तिर्यञ्चों में लब्धिजन्य वैक्रियशरीर बनने के बाद वैक्रियशरीर की जो क्रिया-प्रवृत्ति होती है, वह **वैक्रियकाय-योग** है।

(४) **वैक्रियमिश्रकाययोग**—वैक्रिय के साथ कार्मण और औदारिक के सहयोग से जो क्रिया होती है, वह **वैक्रियमिश्रकाययोग** है। यह दो प्रकार से होता है :

(क) देवता-नारकी में उत्पन्न होनेवाला जीव आहार लेकर जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं करता, तब तक कार्मण-वैक्रिय के संयोग से वैक्रिय-मिश्रकाययोग होता है।

(ख) औदारिकशरीरवाले मनुष्य-तिर्यञ्च वैक्रियलब्धि द्वारा जब वैक्रियशरीर बनाते हैं एवं अपना कार्य करके पुनः उसे समेटते हैं, उस समय जब तक पुनः औदारिकशरीर पूर्णरूप से नहीं बनता, तब तक औदारिक-वैक्रिय के संयोग से **वैक्रियमिश्रकाययोग** होता है।

(५) **आहारककाययोग**—लब्धि द्वारा बनाया गया आहारकशरीर पूर्ण बनकर जो गमनागम आदि क्रिया करता है, वह **आहारककाययोग** है।

(६) **आहारकमिश्रकाययोग**—आहारकशरीर (पुतला) अपना कार्य करके जब औदारिकशरीर में प्रवेश करता है, उस समय आहारक-औदारिक के संयोग से **आहारकमिश्रकाययोग** होता है।

(७) **कार्मणकाययोग**—केवल कार्मणशरीर से जो क्रिया-व्यापार होता है, वह कार्मणकाययोग है। यह अनाहारक अवस्था में ही होता है। जीव एक भव से दूसरे भव में जाता है, तब वह दो प्रकार की गति करता है—ऋजुगति और वक्रगति। वक्रगति करनेवाला जीव मार्ग में दो समय तक अनाहारक रह सकता है, उस वक्त होनेवाली क्रिया-व्यापार कार्मण-काययोग है। इसी प्रकार केवलिसमुद्घात में भी जीव तीसरे, चौथे एवं पांचवें समय अनाहारक रहता है अतः वहां भी कार्मणकाययोग होता है।

कार्मणकाययोग की तरह तैजसकाययोग इसलिए अलग नहीं माना गया कि तैजस-कार्मण सदा एक साथ ही रहते हैं अर्थात् औदारिकवैक्रिय-आहारकशरीर तो कार्मण को कभी-कभी छोड़ भी देते हैं, परन्तु तैजस-शरीर उसे कभी नहीं छोड़ता तथा वीर्य (शक्ति) का जो व्यापार कार्मण-शरीर द्वारा होता है, नियम से वही तैजसशरीर द्वारा भी होता रहता है अतः कार्मणकाययोग में ही तैजसकाययोग का समावेश हो जाता है।

प्रश्न १४—किस जीव में कितने योग होते हैं ?

उत्तर—सातनारकी—सर्वदेवता में योग ११ होते हैं—चार मन के,

चार वचन के, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र एवं कार्मण।

वायुकाय के सिवा चार स्थावर और असंज्ञी—मनुष्य में तीन योग होते हैं—औदारिक, औदारिकमिश्र एवं कार्मण। वायुकाय में पांच योग होते हैं—औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र एवं कार्मण। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीतिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय में चार योग होते हैं—औदारिक, औदारिकमिश्र, व्यवहारभाषा और कार्मण। सर्वयुगलिकों में योग ग्यारह होते हैं—चार मन के, चार वचन के, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण। गर्भजतिर्यञ्च एवं मनुष्यणी में योग तेरह होते हैं (आहारक, आहारकमिश्र को छोड़कर)। गर्भजमनुष्य में योग पन्द्रह होते हैं—चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं होते।[1]

प्रश्न १५—द्रव्ययोग-भावयोग का क्या अर्थ है ?

उत्तर—मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के लिए जो मन-वचन-काय-वर्गणा के पुद्‌गल लिए जाते हैं, उन पुद्‌गलों को **द्रव्ययोग** कहते हैं—वे अजीव हैं। द्रव्ययोग की सहायता से जो चिन्तन-मनन, भाषण एवं शारीरिक हलन-चलनादि क्रियाएं होती हैं, उन क्रियाओं को **भावयोग** कहते हैं एवं वे जीव हैं। भावयोग अर्थात् मन-वचन-काया की प्रवृत्तियां। प्रवृत्तियां दो प्रकार की होती हैं—सावद्य और निरवद्य। निरवद्यप्रवृत्तियां मोहकर्म का उपशम-क्षायिक-क्षयोपशम है और सावद्य-प्रवृत्तियां मोहकर्म का उदय है, उससे पाप लगता है। वास्तव में वीर्य-शक्ति का मिलना क्षायिक-क्षयोपशमभाव है और उस शक्ति का सावद्यकार्यों में उपयोग करना मोहकर्म का उदय है एवं निरवद्यकार्यों में उपयोग करना मोहकर्म का उपशम- क्षायिक-क्षयोपशम है।

सावद्य-निरवद्ययोग—१५ योगों में ६ योग सावद्य हैं—असत्यमन, असत्यवचन, मिश्रमन, मिश्रवचन, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र। शेष योग सावद्य-निरवद्य दोनों प्रकार के हैं।[2]

---

१. प्रज्ञापना. १६

२. बावनबोल बोल ४८ के आधार से।

प्रश्न १६—समुद्घात का क्या अर्थ है ?

उत्तर—वेदना आदि के साथ एकाकार हुए आत्मा का कालान्तर से उदय में आनेवाले वेदनीय आदि-कर्मप्रदेशों को उदीरण-करण द्वारा उदय में लाकर उनकी वलपूर्वक निर्जरा करना अर्थात् आत्मा से दूर करना **समुघात** कहलाता है। वह सात प्रकार का है—(१) वेदनीय-समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजससमुद्घात, (६) आहारकसमुद्घात, (७) केवलिसमुद्घात।[1]

(१) **वेदनीयसमुद्घात**—यह असातावेदनीयकर्म के आश्रित है। वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त-कर्मस्कन्धों से व्याप्त अपने प्रदेशों को वाहर निकालता है और उनसे मुख-उदर आदि छिद्रों तथा कान एवं स्कन्धादि अन्तरालों को पूर्ण करके लम्बाई-चौड़ाई में शरीरपरिमाणक्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक ठहरता है—उस अन्तर्मुहूर्त काल में प्रभूत असातवेदनीयकर्म-पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(२) **कषायसमुद्घात**—यह क्रोधादिकषायों के कारण से होता है। तीव्रकषायवेदनीय के उदय से व्याकुल जीव कर्मस्कन्धों से व्याप्त आत्म-प्रदेशों को वाहर निकालता है एवं पूर्ववत् क्रिया करता हुआ कषायकर्म-पुद्गलों की निर्जरा करता है। (कषायसमुद्घात तीव्रक्रोधादि की उत्पत्ति के समय होता है।)

(३) **मारणान्तिकसमुद्घात**—यह मरण के काल में होता है एवं अन्तर्मुहूर्त शेषआयु के आश्रित होता है। अन्तर्मुहूर्तआयु के शेष रहने पर कोई जीव आत्मप्रदेशों को वाहर निकालकर उनसे मुख-उदरादि छिद्रों एवं कान तथा स्कन्धादि अन्तरालों को पूर्ण करके विष्कम्भ (घेरा) और मोटाई में शरीरपरिमाण तथा लम्वाई में जघन्य अपने शरीर के अंगुल के असंख्यातवेंभाग परिमाण और उत्कृष्ट एक दिशा में असंख्ययोजनक्षेत्र

---

१. प्रज्ञापना. ३६।३३१, स्था० ७।५८६, द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग ३, पृ० १२४ तथा प्रवचनसारोद्धार द्वार २३१ गाथा १३११-१३१६।

को व्याप्त करता है एवं आयुकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(४) वैक्रियसमुद्घात—यह वैक्रियशरीरनामकर्म के आश्रित है एवं वैक्रिय का आरम्भ करते समय होता है। इसमें वैक्रियलब्धिवाला जीव वैक्रियरूप बनाते समय आत्मप्रदेशों को अपने शरीर से बाहर निकालकर विष्कम्भ एवं मोटाई में शरीरपरिमाण और लम्बाई में संख्यातयोजन-परिमाण दण्ड निकालता है तथा पूर्वबद्ध वैक्रियशरीरनामकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(५) तैजससमुद्घात—यह तेजोलेश्या[1] निकालते समय में रहनेवाले तैजसशरीरनामकर्म के आश्रित है अर्थात् तेजोलब्धिवाला व्यक्ति सात-आठ कदम पीछे हटकर विष्कम्भ और मोटाई में शरीरपरिमाण और लम्बाई में असंख्यातयोजनपरिमाण जीवप्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकालकर क्रोध के विषयभूत (जिस पर वह क्रुद्ध होता है उस) जीवादि को जलाता है और प्रभूत तैजसशरीरनामकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(६) आहारकसमुद्घात—यह आहारकशरीर बनाते समय होता है एवं आहारकशरीरनामकर्म को विषय करता हुआ अर्थात् आहारक-लब्धिवाला साधु आहारकशरीर बनाने की इच्छा करता हुआ पूर्ववत् चौड़ा-लम्बा आत्मप्रदेशों का दण्ड निकालकर यथास्थूल पूर्वबद्ध—आहारकनामकर्म के प्रभूत पुद्गलों की निर्जरा करता है। (आहारकलब्धि-वाला साधु इसी समुद्घात द्वारा अपने शरीर से एक पुतला निकालकर, उसे भगवान के पास भेजकर अपने प्रश्न का उत्तर मंगवाता है।)

(७) केवलिसमुद्घात—यह अन्तर्मुहूर्त में मोक्षप्राप्ति करनेवाले उस केवलज्ञानी के होता है, जिसके वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है तथा आयुकर्म की स्थिति कम रह जाती है। इससे कर्म-स्थितियों की विषमता मिट जाती है—इस समुद्घात में आठ समय लगते हैं।

पहले समय केवली के आत्मप्रदेश दण्ड के आकार बनते हैं। वह दण्ड

---

१. तेजोलेश्या के भेद देखो पुञ्ज ४ प्रश्न ५ तैजसशरीर के विवेचन के नोट में।

मोटा तो अपने शरीर जितना एवं लम्बा लोकपर्यन्त चौदहरज्जू का होता है। दूसरे समय में वह दण्ड पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण लोकपर्यन्त फैल-कर कपाट का रूप लेता है। तीसरे समय में वह कपाट उत्तर-दक्षिण या पूर्व-पश्चिम में फैलकर मथानी के तुल्य वनता है। ऐसा होने से लोक का अधिक भाग केवली के आत्मप्रदेशों से व्याप्त हो जाता है, फिर भी मथानी की आकृति होने से आकाश के कुछ अन्तराल-प्रदेश खाली रह जाते हैं अतः चौथे समय में उन खाली रहे हुए सव आकाश प्रदेशों पर केवली के आत्म-प्रदेश पहुंच जाते हैं। उस समय प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेशों पर केवली के आत्मप्रदेश होते हैं एवं उनकी आत्मा समूचे लोक में व्याप्त हो जाती है क्योंकि एक जीव के असंख्य प्रदेश और लोकाकाश के असंख्य प्रदेश वरावर हैं।

इस क्रिया के वाद आत्मप्रदेशों का वापिस संकोच होने लगता है। जैसे—पांचवें समय में अन्तराल-प्रदेश खाली होकर पुनः मथानी वन जाती है, छठे समय कपाट वन जाता है, सातवें समय दण्ड वन जाता है एवं आठवें समय केवली अपने मूलरूप में आ जाता है।

यह समुद्घात की क्रिया स्वाभाविक होती है क्योंकि व्यक्ति का किया हुआ कोई भी काम असंख्य समयों के विना नहीं हो सकता जवकि इसमें मात्र आठ समय लगते हैं। इस समुद्घात की क्रिया से वेदनीयकर्म की स्थिति, जो आयुष्यकर्म से अधिक है, उसकी निर्जरा हो जाती है। फिर वे केवली अन्तर्मुहूर्त के अन्दर ही (अपने लाए हुए पीठ-फलक-शय्या-संथारा आदि वापस सौंपकर) मोक्ष चले जाते हैं।

इस समुद्घात की क्रिया में मन-वचन के योगों की प्रवृत्ति नहीं होती, केवल काययोग होता है। उसमें भी पहले-आठवें समय औदारिककाययोग; दूसरे-छठे-सातवें समय औदारिकमिश्रकाययोग एवं तीसरे-चौथे-पांचवें समय कार्मणकाययोग होता है। केवलिसमुद्घात सामान्यकेवलियों के ही होता है, लेकिन तीर्थंकरों के नहीं होता।

प्रश्न १७—कर्म कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर—यद्यपि जिनके अधीन होकर जीव संसार में भ्रमण करता है, उन्हें **कर्म** कहते हैं लेकिन यहां कर्म शब्द से कर्मपुद्‌गल कार्य-क्रिया-करणी व्यापार आदि सभी लिए गए हैं। इसके दस भेद हैं।[1]

(१) **नामकर्म**—गुण न होने पर भी किसी सजीव या निर्जीव वस्तु का नाम कर्म रख देना नामकर्म है। जैसे—किसी वालक का नाम **कर्मचन्द** रख दिया जाता है। उसमें कर्म के लक्षण और गुण कुछ भी नहीं पाये जाते, फिर भी लोग उसको कर्मचन्द कहते हैं।

(२) **स्थापनाकर्म**—कर्म के गुण तथा लक्षण से शून्य पदार्थ में कर्म की कल्पना करना स्थापनाकर्म है। जैसे—पत्र या पुस्तक वगैरह में कर्म की स्थापना करना, **अथवा** अपने पक्ष में आए हुए दूषण को दूर करने के लिए जहां अन्य अर्थ की स्थापना कर दी जाती हो, उसे भी स्थापनाकर्म कहते हैं।

(३) **द्रव्यकर्म**—इसके दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और नोद्रव्यकर्म।

(क) **द्रव्यकर्म**—कर्मवर्गणा के पुद्‌गल, जो वंधने वाले हैं, वंध रहे हैं और पहले वंधे हुए होने पर भी उदय और उदीरणा में नहीं आए हैं, वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

(ख) **नोद्रव्यकर्म**—किसान आदि का कर्म नोद्रव्यकर्म कहलाता है क्योंकि वह क्रियारूप है। कर्म-पुद्‌गलों के समान द्रव्यरूप नहीं है।

(४) **प्रयोगकर्म**—वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली वीर्य-शक्तिविशेष प्रयोगकर्म कहलाती है, **अथवा** प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) योग को प्रयोग कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद हैं (देखो इसी पुन्ज के प्रश्न १३ में)।

जिस प्रकार तपा हुआ तवा अपने ऊपर गिरनेवाली जल की बूंदों को सव प्रदेशों से एक साथ खींच लेता है, उसी प्रकार आत्मा इन पन्द्रह योगों के सामर्थ्य से अपने सभी प्रदेशों द्वारा कर्मदलिकों को खींचता है। आत्मा

---

१. आचाराङ्ग २/१ टीका गाथा १८३-१८४।

द्वारा इस प्रकार कर्मपुद्गलों का ग्रहण करना और उन्हें कार्मणशरीर के रूप में परिणत करना प्रयोगकर्म है।

(५) **समुदानकर्म**—सामान्य रूप से बंधे हुए आठ कर्मों का देशघाती और सर्वघाती रूप से तथा स्पृष्ट, निधत्त और निकाचित आदि रूप से विभाग करना समुदानकर्म है।

(६) **ईर्यापथिककर्म**—गमनागमन आदि तथा शरीर की हलन-चलनादि क्रिया **ईर्या** है। इस क्रिया से लगनेवाला कर्म ईर्यापथिककर्म कहलाता है। उपशान्त-मोह, क्षीणमोह और सयोगिकवली इन तीन गुण-स्थानवर्ती जीवों को गति-स्थिति आदि के निमित्त से यह कर्म लगता है। इसकी स्थिति दो समय की होती है।

(७) **आधाकर्म**—कर्मवन्ध के निमित्त को आधाकर्म कहते हैं। कर्म-वन्ध के निमित्त-कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि हैं, इसलिए ये आधाकर्म कहे जाते हैं।

(८) **तपःकर्म**—वद्ध, स्पृष्ट, निधत्त और निकाचित रूप से बंधे हुए आठ कर्मों की निर्जरा करने के लिए छः प्रकार के वाह्यतप (अनशन, ऊनो-दरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता) और छः प्रकार के आभ्यन्तर तप (प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग) का आचरण करना तपःकर्म कहलाता है।

(९) **कृतिकर्म**—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि को नमस्कार करना कृतिकर्म है।

(१०) **भावकर्म**—अवाधाकाल के पूर्ण होने पर स्वयमेव उदय में आए हुए अथवा उदीरण के द्वारा उदय में लाए गए कर्मपुद्गल जीव को जो फल देते हैं, उन्हें भावकर्म कहते हैं।

प्रश्न १८—तेरह क्रियास्थान कौन-कौन से हैं?

उत्तर—कर्मवन्ध के कारणों को **क्रियास्थान** कहते हैं। इसके अर्थदण्ड-प्रत्ययिक आदि तेरह भेद हैं[1]:

---

१. सूत्र. श्रु. २ अ. २

(१) **अर्थदण्डप्रत्ययिक**—कुछ अर्थ अर्थात् प्रयोजन से होनेवाले पाप को अर्थदण्डप्रत्ययिकक्रियास्थान कहते हैं। जैसे—कोई अपने या अपने सम्बन्धियों के लिए त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करे, कराए या उसकी अनुमति दे।

(२) **अनर्थदण्डप्रत्ययिक**—विना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप। जैसे—कोई अविवेकी विना किसी प्रयोजन के त्रस-स्थावरजीवों की हिंसा करे, कराए या उसकी अनुमति दे।

(३) **हिंसादण्डप्रत्ययिक**—प्राणियों की हिंसा रूप पाप। जैसे—'अमुक प्राणी ने मुझे, मेरे सम्वन्धियों को या अन्य किसी इष्ट-मित्र को कष्ट दिया है, देता है या देगा'—यह सोचकर कोई मनुष्य स्थावर या त्रसजीवों की हिंसा करता है।

(४) **अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक**—विना जाने होनेवाला पाप। जैसे—मृगादि का शिकार करके आजीविका चलानेवाला व्यक्ति मृग के भ्रम से किसी दूसरे प्राणी को मार डाले, अथवा खेत में घास काटता हुआ कोई व्यक्ति अनजान में अनाज के पौधे को काट डाले।

(५) **दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक**—नजर चूक जाने के कारण होने-वाला पाप। जैसे—गांव में चोर आने पर भ्रमवश साधारण पुरुष को चोर समझकर मार डालना।

(६) **मृषावादप्रत्ययिक**—झूठ बोलने से लगनेवाला पाप। जैसे—कोई पुरुष अपने लिए या अपने किसी इष्ट व्यक्ति के लिए झूठ बोले, बोलावे. बोलनेवाले का अनुमोदन करे।

(७) **अदत्तादानप्रत्ययिक**—चोरी करने से होनेवाला पाप। जैसे—कोई मनुष्य अपने लिए या अपने इष्ट व्यक्ति के लिए चोरी करे, कराए या करते हुए को भला जाने।

(८) **अध्यात्मप्रत्ययिक**—क्रोधादिकषायों के कारण से होनेवाला पाप। जैसे—कोई मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभ के वशीभूत होकर किसी के द्वारा कष्ट न दिए जाने पर भी दीन, हीन, खिन्न और अस्वस्थ

होकर शोक तथा दुःखसागर में डूबा रहता है।

(६) **मानप्रत्ययिक**—मान या अहंकार के कारण होनेवाला पाप। जैसे—कोई पुरुष अपनी जाति, कुल, वल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य या प्रज्ञादि से मदमत्त होकर दूसरों की अवहेलना या तिरस्कार करता है। अपनी प्रशंसा करता है। ऐसा मनुष्य क्रूर, घमण्डी, चपल और अभिमानी होता है। मरने के बाद एक योनि से दूसरी योनि तथा नरकों में भटकता है।

(१०) **मित्रदोषप्रत्ययिक**—अपने कुटुम्बियों के प्रति विना कारण क्रूरता दिखाने से लगनेवाला पाप। जैसे—कोई मनुष्य अपने माता, पिता, भाई, वहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू आदि को छोटे-छोटे अपराधों के लिए वहुत अधिक दण्ड दे, उन्हें ठण्डे पानी में डुवोए, उन पर गर्म पानी डाले, आग से डांव दे, रस्सी आदि से मारकर उनकी चमड़ी उधेड़ दे या उन्हें लकड़ी आदि से पीटे। ऐसा मनुष्य जव तक घर में रहता है, सव लोग वड़े दुःखी रहते हैं। उसके वाहर जाने पर प्रसन्न होते हैं। वह वात-वात में नाराज होने लगता है एवं ऐसे कटुवचन वोलता है, जिससे सुननेवाला जल उठता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तथा दूसरों को अशान्त तथा दुःखी करता है।

(११) **मायाप्रत्ययिक**—माया अर्थात् छल-कपट से लगनेवाला पाप। जो मनुष्य मायावी और कपटी होता है, उसका कोई काम पूरा नहीं होता। उसकी नीयत हमेंशा दूसरों को धोखा देने की रहती है। उसकी प्रवृत्ति कभी स्पष्ट नहीं होती। अन्दर द्वेष रखने पर भी वह वाहर से मित्र होने का ढोंग रचता है। आर्य होने पर भी अनार्य-भाषा में वोलता है ज़िससे कोई दूसरा न समझ सके। पूछी हुई वात का उत्तर न देकर और कुछ कहने लगता है। उसका कपटी मन कभी निर्मल नहीं होता। वह कभी अपना दोष स्वीकार नहीं करता। उसे अपने पाप पर कभी पश्चात्ताप नहीं होता। न वह उसके लिए दुःख प्रकट करता है और न प्रायश्चित्त लेता है। ऐसे मनुष्य का इस लोक में कोई विश्वास नहीं करता एवं वह मरकर वार-वार नरकादि नीच गतियों में जाता है।

(१२) **लोभप्रत्ययिक**—कामभोगों में आसक्ति के कारण होनेवाला पाप। वहुत से तापस अथवा साधु अरण्य में, आश्रम में अथवा गांव के वाहर रहते हैं, अनेक गुप्त साधनाएं करते हैं परन्तु वे पूर्णसंयमी नहीं होते। सांसारिक कामनाओं तथा प्राणियों की हिंसा से सर्वथा विरक्त नहीं होते। वे कामभोगों में आसक्त और मूर्च्छित रहते हैं। अपना प्रभाव जमाने के लिए वे सच्ची-झूठी वातें दूसरों को कहते फिरते हैं। वे चाहते हैं—दूसरे मारे जाएं, स्वयं नहीं। दूसरों पर हुक्म चले, उन पर नहीं। दूसरों को दण्ड मिले, उन्हें नहीं। कुछ समय कामभोग भोगकर मरने के वाद वे असुर आदि नीच गतियों में जन्म लेते हैं। वहां से छूटने पर वार-वार जन्म से अन्धे, लूले, लंगड़े, वहरे, गूंगे आदि होते हैं। मोक्ष को चाहनेवाला जीव —इन वारह स्थानों को समझ-वूझकर छोड़ दे। ये सव पाप के स्थान हैं।

(१३) **ईर्यापथिकी**—निर्दोषसंयमधारी, कषायरहित-मुनि को यतनापूर्वक गमनागमनादि से जो क्रिया लगती है, उसको ईर्यापथिकी-क्रियास्थान कहते हैं। आत्मभाव में लीन रहते हुए मन, वचन और काया की यतनापूर्वक प्रवृत्ति करते हुए, इन्द्रियों को वश में रखते हुए, सव दोषों से वचकर चलनेवाले संयमी के भी हिलना-डुलना, चलना, फिरना आदि क्रियाएं होती रहती हैं। उन क्रियाओं से सावारण कर्मवन्ध होता है। ऐसे कर्म पहले समय में वंधते हैं, दूसरे समय में भोगे जाते हैं और तीसरे समय में छूट जाते हैं। फिर भिक्षु अपने-आप निर्मल हो जाता है। वास्तव में प्रवृत्तिमात्र से कर्मवन्ध होता है। ये ही प्रवृत्तियां कपायसहित होने पर कर्मों के गाढ़-वन्ध का कारण हो जाती हैं। कषायों द्वारा कर्म आत्मा से चिपक जाते हैं। विना कषायों के वे अपने-आप झड़ जाते हैं। यह क्रियास्थान संसार-परिभ्रमण का कारण नहीं होता, इसलिए शुभ माना गया है।

प्रश्न १९—कर्मकाठियों का क्या रहस्य है ?

उत्तर—धर्मश्रवण आदि में अन्तराय डालनेवाले कर्मों को **कर्म-**

काठिया कहते हैं। वे तेरह माने गए हैं[1]—(१) आलस्य, (२) मोह, (३) अवज्ञा, (४) मान, (५) क्रोध, (६) प्रमाद (निद्रा-विकथा आदि) (७) कृपणता, (८) भय, (९) शोक, (१०) अज्ञान, (११) व्याक्षेप, (व्याकुलता), (१२) कुतूहल (नटादि के खेल देखने का आकर्षण), (१३) रमण (ताश-चौपड़-शतरंज आदि क्रीड़ा)। इन तेरह कारणों से अतिदुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर भी यह जीव आत्म-हितकारी एवं संसार-समुद्र से पार करनेवाले धर्म का श्रवण नहीं कर सकता।

प्रश्न २०—दण्डक का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जीव अपनी प्रवृत्ति द्वारा शुभ-अशुभ कर्म बांधता है एवं उनका फल भोगने के लिए चार गतियों में परिभ्रमण करता है। शास्त्रकारों ने चार गतियों के चौबीस स्थानों-विभागों की कल्पना की है। बस, वे ही चौबीस स्थान २४ दण्डक कहलाते हैं। उनमें नरकगति का एक, तिर्यञ्चगति के नौ, मनुष्यगति का एक और देवगति के तेरह स्थान हैं। क्रम इस प्रकार है[2]—(१) सात नारकियों का दण्डक पहला, दस भवनपति देवों के दस (२ से ११ तक), पांच स्थावर-जीवों के पांच (१२ से १६ तक), विकलेन्द्रियों के तीन (१७ से १९ तक), तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय का २०वां, मनुष्यपञ्चेन्द्रिय का २१वां, व्यन्तरदेवों का २२वां, ज्योतिषीदेवों का २३वां और वैमानिकदेवों का २४वां दण्डक है। जैन शास्त्रों में इन दण्डकों के क्रम से ही प्रायः प्रश्न पूछे गए हैं अर्थात् नारकी से प्रश्न का प्रारम्भ हुआ है एवं वैमानिक देवों में प्रश्न की समाप्ति।

---

१ आलस्स मोहऽवण्णा, थंभा कोहा पमाये किवणत्ता।
भय सोगा अण्णाणा, वक्खेवे कुतूहला रमणा॥
एतेहिं कारणेहिं, लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं।
ण लहइ सुतिं हियकरिं, संसारुत्तारणिं जीवो॥
(विशेषवाश्यक भाषान्तर भा० २, पृ० ३५७ गा० ८४१-८४२ तथा हरिभद्रीयावश्यक-निर्युक्ति गाथा ८४१-८४२)

२. स्था १।५१ टीका तथा भगवती, १।१ टीका

सातवां पुञ्ज

प्रश्न १——आस्रव का क्या स्वरूप है ?

उत्तर——जिसके द्वारा आकृष्ट होकर शुभ-अशुभकर्म आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् आत्मा के साथ बंधते हैं, उसका नाम **आस्रव** है[1]। आस्रव कर्म आने का द्वार——प्रवेशमार्ग है[2]——इसलिए आगमों में इसे **आस्रवद्वार** भी कहा है।[3] जैसे——नाले द्वारा तालाब में पानी आता है, छिद्रों द्वारा नाव में पानी घुसता है एवं प्रवेशमार्ग द्वारा मनुष्यादि मकान में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में कर्मों के आगमन का मार्ग आस्रव है[4]। यह नवपदार्थों में पांचवां पदार्थ माना गया है।[5]

प्रश्न २——कर्म और आस्रव एक हैं या भिन्न-भिन्न ?

उत्तर——भिन्न-भिन्न हैं। जैसे——पानी और नाला (पानी आने का मार्ग) भिन्न हैं, पानी और नाव का छिद्र भिन्न हैं तथा मनुष्य और मकान

---

१. स्था. १।१३ टीका

२. तत्त्वार्थ १।४ सर्वार्थसिद्धि

३. स्था. ५।२।४१८, समवायाङ्ग ५, प्रश्नव्याकरण प्रथमश्रुतस्कन्ध तथा उत्तरा० २६।१३

४. समवायाङ्ग ५ टीका

५. उत्तरा. २८।१४, स्था. ६।६६५, पञ्चास्तिकाय १०८ तथा द्रव्यसंग्रह २।२८

का द्वार भिन्न हैं, उसी प्रकार कर्म एवं आस्रव एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। आस्रव कर्मआगमन का हेतु है और जो आते हैं, वे कर्म हैं। कर्म इसलिए कर्म हैं कि वे जीव द्वारा मिथ्यात्वादि-आस्रवरूप हेतुओं से किए जाते हैं। मिथ्यात्वादि आस्रव इसलिए हेतु हैं कि उनके द्वारा जीव कर्मों को आत्मप्रदेशों में ग्रहण करता है[1]। आस्रव साधन-कारण है और कर्म कार्य। आस्रव जीव के परिणाम हैं या उसकी क्रियाएँ हैं और कर्म उन परिणामों एवं क्रियाओं के फल हैं। जीव के यदि शुभ परिणाम हों तो पुण्यों का आस्रव-आगमन होता है और यदि अशुभपरिणाम हों तो पापों का आस्रव होता है अर्थात् पुण्य-पाप जीव के साथ बंध जाते हैं।

प्रश्न ३—आस्रव के कितने भेद हैं ?

उत्तर—जैनशास्त्रों के अनुसार आस्रव के मूल भेद पांच हैं[2]। पच्चीस बोल के थोकड़े में कई आगमों का आधार लेकर आस्रव के बीस भेद किए गए हैं। दिगम्बराचार्य श्रीकुन्दकुन्द ने समयसार ४।१६४-१६५ में प्रमाद के सिवा चार आस्रव माने हैं तथा वाचक **उमास्वाति** आदि के मतानुसार आस्रव के ४२ भेद हैं[3]। सर्वप्रथम पांच आस्रवों का स्वरूप समझिए। पांच आस्रव इस प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अव्रत, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग।

(१) **मिथ्यात्वआस्रव**—देव-गुरु-धर्मसम्बन्धी तत्त्व जिस रूप में है, उसे उसी रूप में न समझना या विपरीत रूप में समझना मिथ्यात्व है एवं वही मिथ्यात्वआस्रव है।

मिथ्यात्व बड़ा भारी रोग है। घोर अन्धकार है, उत्कृष्ट शत्रु है और हलाहल ज़हर है[4]। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करने का मुख्य

---

१. कर्मग्रंथ, भाग १ गाथा ६२

२. स्थानाङ्ग ५।२।४१८ तथा समवायाङ्ग ५

३. तत्त्वार्थ. ६।६

४. योगशास्त्र

कारण यही है। यह प्राणी की मति को इस प्रकार मोह लेता है कि जिससे उसे हिताहित का यथार्थज्ञान नहीं हो सकता। वह अपने स्वरूप को सही रूप में नहीं समझ सकता। पारमार्थिक विषयों में उसकी दृष्टि उल्टी ही होती है। मिथ्यात्व का उत्कृष्ट उदय होने पर प्राणी की दशा जड़-मुर्दे के समान वन जाती है। इसी दशा में उसे अनन्तकाल तक नरक-निगोदादि के घोर दुःख सहने पड़ते हैं। उत्कृष्ट स्थिति में सत्तरकोटा-कोटि सागर तक धर्म का नाम तक नहीं सुहाता।

प्रश्न ४—मिथ्यात्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर—दस भेद माने गए हैं—

(१-२) अधर्म को धर्म समझना और धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है। यहां अधर्म का अर्थ मिथ्याश्रुत है और धर्म का अर्थ सम्यक्-श्रुत है। अथवा अधर्म का अर्थ हिंसा आदि आस्रव है और धर्म का अर्थ संवर-निर्जरा रूप धर्म है। तत्त्व यह निकला कि मिथ्याशास्त्रों को सत्य और सच्चे शास्त्रों को मिथ्या समझना मिथ्यात्व है। अथवा हिंसा आदि कार्यों को धर्म समझना एवं संवर-निर्जरा रूप धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है।

(३-४) उन्मार्ग को सन्मार्ग एवं सन्मार्ग को उन्मार्ग समझना मिथ्यात्व है। ज्ञान-दर्शन-चरित्र और तप सन्मार्ग अर्थात् मोक्ष के मार्ग हैं एवं अज्ञान-मिथ्यात्वादि उन्मार्ग-संसार में भटकानेवाले हैं।

(५-६) अजीव को जीव समझना और जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है। कई लोग अज्ञानवश आकाश एवं परमाणु पुद्गलों को जीव मानते हैं एवं पृथ्वी-पानी आदि को अजीव मानते हैं।

(७-८) असाधु को साधु समझना और साधु को असाधु समझना मिथ्यात्व है। समिति-गुप्ति एवं महाव्रतों से रहित वेशधारी साधु असाधु होते हैं और समिति-गुप्ति आदि से सम्पन्न साधु साधु होते हैं।

(९-१०) अमुक्त को मुक्त समझना और मुक्त को अमुक्त समझना मिथ्यात्व है। आठ कर्मों का नाश करके जो व्यक्ति मोक्ष चले गए,

वे मुक्त हैं एवं जिन्होंने कर्मों का नाश नहीं किया, वे मोक्ष नहीं गए अतः अमुक्त हैं। वहुत से अज्ञानी अमुक्त देवों को मुक्त (परमात्मा) और मुक्त-सिद्धों को अमुक्त मान रहे हैं। इन दस भेदों का समावेश देव-गुरु-धर्म सम्वन्धी मिथ्यात्व में ही हो जाता है। जैसे—नौवां-दसवां भेद देव सम्वन्धी मिथ्यात्व है। सातवां-आठवां गुरु-सम्वन्धी मिथ्यात्व है तथा शेष छहों भेद धर्मतत्त्व सम्वन्धी मिथ्यात्त्व हैं।

आगमवर्णित इन दस भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व के आभिग्रहिकादि ५ तथा लौकिकादि १० ऐसे पन्द्रह भेद भी मिलते हैं। वे स्वतन्त्र न होकर इन्हीं दस प्रकार के मिथ्यात्वों का स्पष्टीकरण करने वाले हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **आभिग्रहिक**—तत्त्व की परिभाषा किए विना पक्षपातपूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना एवं अन्य पक्ष का खण्डन करना **आभिग्रहिक-मिथ्यात्व** है। जैसे—धर्म की कट्टरता का प्रदर्शन करते हुए कई लोग कह दिया करते हैं कि हमारे देव-गुरु-धर्म ही सच्चे हैं, उनके सिवा सब झूठे हैं।

(२) **अनाभिग्रहिक**—गुण-दोष की परीक्षा किए विना सभी मतों-पन्थों को वरावर समझना **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व** है। जैसे—कई अज्ञानी इस प्रकार कहते हैं कि अपने लिए तो सभी देव, सभी गुरु एवं सभी धर्म समान हैं और वन्दना-नमस्कार करने योग्य हैं।

(३) **आभिनिवेशिक**—अपने सिद्धान्त को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना के लिए अभिमानवश **जमालिवत्** दुराग्रह करते रहना **आभिनि-वेशिकमिथ्यात्व** है। अभिनिवेश का अर्थ अभिमान है।

(४) **सांशयिक**—देव-गुरु-धर्म के विषय में शंकाशील वने रहना अर्थात् ये सच्चे हैं या वे सच्चे हैं—इस प्रकार डगमगाते रहना **सांशयिक-मिथ्यात्व** है।

(५) **अनाभोगिक**—विचारशून्य एकेन्द्रियादि—असंज्ञीजीवों के तथा विशेषज्ञानविकल-संज्ञीजीवों के ज्ञानावरणीयादि कर्मों के उग्रतम-उदय से घोर अज्ञान रूप मिथ्यात्व होता है, वह **अनाभोगिकमिथ्यात्व**

कहलाता है।[1]

(६) लौकिकमिथ्यात्व—छद्मस्थ, राग-द्वेषयुक्त एवं मिथ्यादृष्टि-देवताओं को पूजना तथा चारित्रहीन-वेशधारी साधु को या गृहस्थ को गुरु मानना लौकिकमिथ्यात्व है।

आज त्योहार, विवाह एवं मृत्यु के प्रसंगों पर लौकिकमिथ्यात्व का सेवन अनेक प्रकार से हो रहा है और वह भी अपने आपको सच्चे जैन माननेवाले कर रहे हैं।

त्योहार—जिस प्रकार अजैन लोग नवरात्रि और दशहरा मनाते हैं, उसी प्रकार अनेक जैनवन्धु भी नवरात्रि का व्रत रखते हैं एवं **दुर्गा** या **कालीमाता** का पूजा-पाठ करते हैं एवं उनसे अपनी समृद्धि की कामना रखते हैं।

होली के दिनों में होली का पूजन एवं दहन (होली मंगालना) करते हैं। **शीतलामाता** को मनाने के लिए बच्चों को लेकर गीत गाती हुई बहनें शीतला के स्थान जाकर धोक मारती हैं। निःसन्तान स्त्रियां माता से बच्चा मांगती हैं और बच्चोंवाली अपने बालकों को चेचकादि रोगों से बचाने की प्रार्थना करती हैं एवं उस दिन ठंडा-बासी खाती हैं। यह परम्परागत अज्ञान का फल है।

गनगोर के त्योहार पर बहुत दिनों पूर्व ही कुंवारी कन्याएं गीत गाती हुई जंगलों में जाने लगती हैं एवं वहां से फुलड़ा (फोग—दूब आदि) लाकर गोर (पार्वती) की पूजा करती हैं एवं उसके सामने अच्छा पति मिलने की मांग रखती हैं। नवविवाहित स्त्रियां गोर का व्रत एवं पूजन करके उससे सोहाग-पति का सुख मांगती हैं। यह मिथ्या परंपरा है।

दीवाली यद्यपि जैनों का धार्मिक त्योहार है, उस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ था, फिर भी अन्य लोगों की तरह जैनवन्धु भी उस दिन धन की कामना से कल्पित लक्ष्मी-गजानन तथा वही-दवात-कलम आदि

---

१. योगशास्त्र २, श्लो ३ के अन्तर में तथा धर्मरत्नसंग्रह अधि. २

की पूजा करते हैं। यह जैनों पर जैनतर रूढ़ियों का प्रभाव है।

विवाह—वैवाहिक कार्य का प्रारम्भ भी गणपतिपूजन करके किया जाता है। महिलाएं विवाह के गीत में पहले गणपति की ही स्तुति करती हैं। आमन्त्रणपत्रिका भी सर्वप्रथम गणपति की ही लिखी जाती है। इसके सिवा देश-भेद से छोटे-मोटे अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन किया जाता है।

विवाह की विधि में कई मिथ्यात्वीदेवों की साक्षी से ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत भाषाओं में निवद्ध कुछ मन्त्र और श्लोकों के उच्चारण से हवन-पूजन आदि किया जाता है तथा विवाह के वाद भैरव, भवानी चण्डी, शीतला, हनुमान आदि कितने ही देवी-देवताओं की वर-वधू से पूजा करवाई जाती है। यह भी परंपरागत कुरूढ़ियों का परिणाम है।

मृत्यु—मरणासन्न मनुष्य को घोर वेदना के समय पलंग से उतारकर गोवर से लिपी हुई पृथ्वी पर सुलाया जाता है एवं माना जाता है कि पृथ्वी की गोद में मृत्यु होने से जीव को सद्गति मिलती है (यह मान्यता जैन-सिद्धान्त के विरुद्ध है)।

मरने के वाद प्रचलित रूढ़ि के अनुसार रोने के लिए भी विवश किया जाता है। न रोने पर कहा जाता है कि इसने तो धर्मदाढ़ (दहाड़ मारकर रोना) भी नहीं दी। दाहसंस्कार के वाद फूल (अस्थि) चुगकर उन्हें हरिद्वार-स्थित गंगा में वहाया जाता है। मृत आत्मा को लक्ष्य करके तीसरा-वारहवां-तेरहवां किया जाता है तथा वारह दिन तक कागोल रखा जाता है, जिसमें मृतक के शौक की सव चीज़ें होती हैं। ऐसी मान्यता है कि वारह दिनों तक मृत आत्मा घर के आसपास चक्कर काटती रहती है एवं स्वजनों का दिया हुआ भोजनादि ग्रहण करती है।

ब्राह्मणादि को दिया हुआ द्रव्य मृत आत्मा को पहुंचता है, ऐसा मान-कर आसोज महीने में श्राद्ध भी किये जाते हैं। इस प्रकार कुछ भिन्नता के साथ मृत्यु के वाद अनेक कुरूढ़ियों का सेवन होता है।

जैन मान्यता के अनुसार त्योहारों एवं विवाहों में मिथ्यादृष्टि देवों की

पूजा आदि करना तथा मृतकों के पीछे गलत परंपराओं का सेवन करना लौकिकमिथ्यात्व माना गया है। जैन वन्धुओं को चाहिए कि अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु और केवलिभाषितधर्म में दृढ़विश्वास रखते हुए उपरोक्त लौकिकमिथ्यात्व से वचने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें।

(७) **लोकोत्तरमिथ्यात्व**—सांसारिक लाभ के लिए देव-गुरु-धर्म की आराधना करना अथवा गोशालक जैसे व्यक्ति को भगवान् एवं निह्नवों (शासन के निन्दकों) को गुरु मानना।[1]

(८) **कुप्रावचनिकमिथ्यात्व**—निर्ग्रन्थप्रवचनों के अतिरिक्त मिथ्या-प्रवचनों पर विश्वास करना।[2]

(९) **न्यूनमिथ्यात्व**—सर्वज्ञभाषिततत्त्वों को पूरा न मानकर कुछ कम मानना। जैसे—कई कह देते हैं कि इतनी-सी वात न मानें तो क्या है! लेकिन आचार्यों का कहना है कि आगम के एक अक्षर पर भी अरुचि करने से व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

(१०) **अधिकमिथ्यात्व**—सर्वज्ञभाषितत्त्वों में अपनी वुद्धि से अधिक मिलाकर मानने लग जाना।[3]

(११) **विपरीतमिथ्यात्व**—जिनागमों से विपरीत प्ररूपणा करना।

(१२) **अक्रियामिथ्यात्व**—सम्यक्चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी वनकर आत्मा को अक्रिय मानना तथा चारित्रवानों को क्रिया-जड़ कहकर, उनका तिरस्कार करना।

(१३) **अज्ञानमिथ्यात्व**—ज्ञान को वन्ध और पाप का कारण मान-कर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना।

(१४) **अविनयमिथ्यात्व**—पूजनीय देव-गुरु-धर्म का विनय न करके उल्टा अविनय करना, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना एवं उन्हें असत्

---

१. दर्शनशुद्धि-प्रकरण ३५

२. अनुयोगद्वार

३. स्था० २।१

कहना।[1]

(१५) आशातनामिथ्यात्व—देव-गुरु-धर्म की आशातना करना। उनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिससे ज्ञानादि गुणों और ज्ञानियों को ठेस पहुंचे।[2] पूर्वोक्त १०+१५=२५ प्रकार के मिथ्यात्वों का संक्षेप करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के दो भेद किए हैं—नैसर्गिकमिथ्यात्व और परोपदेशपूर्वकमिथ्यात्व।[3]

(१) दूसरे के उपदेश बिना मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों के प्रति अश्रद्धानरूप भाव होना नैसर्गिकमिथ्यात्व है।

(२) अन्यदर्शनियों के उपदेश के निमित्त से होने वाला मिथ्यात्व परोपदेशपूर्वकमिथ्यात्व है। वह चार प्रकार का होता है—(१) क्रिया-वादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी, (४) विनयवादी।

प्रश्न ५—क्रियावादी-अक्रियावादी आदि का विवेचन कीजिए।

उत्तर—इन चारों का विवेचन इस प्रकार है[4]—

क्रियावादी—इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएं हैं। यथा—

(१) कर्त्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है। इसलिए क्रिया के कर्त्ता रूप से आत्मा के अस्तित्व को माननेवाले क्रियावादी हैं।

(२) क्रिया ही प्रधान है और ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार क्रिया को प्रधान माननेवाले क्रियावादी हैं।

(३) जीव-अजीव आदि पदार्थों के अस्तित्व को एकान्त रूप से मानने-वाले क्रियावादी हैं। क्रियावादी के १८० प्रकार हैं—

---

१. स्था. ३।३

२. आवश्यकसूत्र

३. तत्त्वार्थ ८।१ सर्वार्थसिद्धि

४. भगवती ३०।१।८२४ टीका, आचाराङ्ग १।१।३ टीका तथा सूत्र, १२ टीका

जीव, अजीव, आश्रव, वन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष— इन नवपदार्थों के स्व और पर से १८ भेद हुए। इन अठारह के नित्य, अनित्य रूप से ३६ भेद हुए। इनमें से प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा पांच-पांच भेद करने से १८० भेद हुए। जैसे—जीव, स्व-रूप से काल की अपेक्षा नित्य है। जीव, स्व-रूप से काल की अपेक्षा अनित्य है। जीव, पर-रूप से काल की अपेक्षा नित्य है। जीव, पर-रूप से काल की अपेक्षा अनित्य है। इस प्रकार काल की अपेक्षा से चार भेद हुए। काल की तरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा से भी जीव के चार-चार भेद होंगे। इस प्रकार जीव आदि नवतत्त्वों के प्रत्येक के वीस-वीस भेद हुए और कुल मिलकर १८० भेद हो गए।

अक्रियावादी—अक्रियावादी की भी अनेक व्याख्याएं हैं। यथा—

(१) किसी भी अनवस्थित पदार्थ में क्रिया नहीं होती। यदि क्रिया होगी तो वह पदार्थ अनवस्थित न होगा। इस प्रकार पदार्थों को अनवस्थित मानकर उनमें क्रिया का अभाव माननेवाले अक्रियावादी कहलाते हैं।

(२) क्रिया की क्या जरूरत है? केवल चित्त की पवित्रता होनी चाहिए। इस प्रकार ज्ञान ही से मोक्ष की मान्यतावाले अक्रियावादी कहलाते हैं।

(३) जीवादि के अस्तित्व को न माननेवाले अक्रियावादी कहलाते हैं। अक्रियावादी के ८४ भेद हैं।

जीव, अजीव, आश्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों के स्व और पर के भेद से १४ भेद हुए। काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा—इन छहों की अपेक्षा १४ भेदों का विचार करने से ८४ भेद होते हैं। जैसे—जीव स्वतः काल से नहीं है एवं परतः काल से नहीं है—इस प्रकार काल की अपेक्षा जीव के दो भेद हैं। काल की तरह यदृच्छा, नियति आदि की अपेक्षा से भी जीव के दो-दो भेद होंगे। इस प्रकार जीव के १२ भेद हुए। जीव की तरह शेष तत्त्वों के भी वारह-

बारह भेद होने से कुल ८४ भेद हो जाएंगे।

अज्ञानवादी—जीवादि अतीन्द्रिय पदार्थों को जाननेवाला कोई नहीं है। न उनके जानने से कुछ सिद्धि ही होती है। इसके अतिरिक्त समान अपराध में ज्ञानी को अधिक दोष माना है और अज्ञानी को कम। इसलिए अज्ञान ही श्रेय रूप है। ऐसा माननेवाले अज्ञानवादी हैं। अज्ञानवादी के ६७ भेद हैं। यथा—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन नवतत्त्वों के सद्, असद्, सदसद्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य—इन सात भागों से ६३ भेद हुए और उत्पत्ति के सद्, असद्, सद्सद् और अवक्तव्य की अपेक्षा से चार भंग हुए। इस प्रकार ६७ भेद अज्ञानवादी के होते हैं। जैसे— जीव सत् है—यह कौन जानता है? और इसके जानने का क्या प्रयोजन है?

विनयवादी—स्वर्ग, अपवर्ग आदि के कल्याण की प्राप्ति विनय से ही होती है। इसलिए विनय ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार विनय को प्रधान रूप से माननेवाले विनयवादी कहलाते हैं। विनयवादी के ३२ भेद हैं—

देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता—इन आठों का मन, वचन, काया और दान—इन चार प्रकारों से विनय होता है। इस प्रकार आठ को चार से गुणा करने से ३२ भेद होते हैं। ये चारों वादी मिथ्यादृष्टि हैं।

क्रियावादी जीवादिपदार्थों के अस्तित्व को ही मानते हैं। इस प्रकार एकान्त अस्तित्व को मानने से इनके मत में पर-रूप की अपेक्षा नास्तित्व नहीं माना जाता। पर-रूप की अपेक्षा वस्तु में नास्तित्व न मानने से वस्तु में स्व-रूप की तरह पर-रूप का भी अस्तित्व रहेगा एवं प्रत्येक वस्तु में सभी वस्तुओं का अस्तित्व रहने से एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जायेगी, जो कि प्रत्यक्ष-वाधित है। इस प्रकार क्रियावादियों का मत मिथ्यात्वपूर्ण है।

अक्रियावादी जीवादि पदार्थ नहीं हैं—इस प्रकार असद्भूत अर्थ का

प्रतिपादन करते हैं। इसलिए वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। एकान्त रूप से जीव के अस्तित्व का प्रतिषेध करने से उनके मत में निषेधकर्ता के अभाव से सभी का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अज्ञानवादी अज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए वे भी मिथ्यादृष्टि हैं और उनका कथन स्ववचन वाधित है। क्योंकि, **अज्ञान श्रेष्ठ** है—यह बात भी वे विना ज्ञान के कैसे जान सकते हैं? और विना ज्ञान के वे अपने मत का समर्थन भी कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार अज्ञान की श्रेष्ठता बताते हुए उन्हें ज्ञान का आश्रय लेना ही पड़ता है।

केवल विनय से ही स्वर्ग-मोक्ष पाने की इच्छा रखनेवाले विनयवादी भी मिथ्यादृष्टि हैं। क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, केवल ज्ञान या केवल क्रिया से नहीं। ज्ञान को छोड़कर एकान्त रूप से केवल क्रिया के एक अंग विनय का आश्रय लेने से वे सत्यमार्ग से परे हैं।

प्रश्न ६—मिथ्यात्वआस्रव तो समझ में आ गया, अब अविरतिआस्रव समझाइए!

उत्तर—विरति का अर्थ त्याग है और त्याग नहीं करने की भावना अविरति (अव्रत) है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि अठारह पाप, भोग-उपभोग की वस्तुएं तथा सावद्यकार्य—इन सवसे विरत न होना अर्थात् प्रत्याख्यानपूर्वक इनका त्याग न करना अविरति है।[1]

जिन पापों, पदार्थों एवं सावद्यकार्यों का प्राणी त्याग नहीं करता, उनके प्रति उनकी इच्छाएं खुली रहती हैं एवं उस इच्छाओं के खुलेपन से प्रतिसमय अशुभकर्मों का आस्रव-आगमन होता है। वस्तुतः जीव द्वारा अत्यागभाव रूप इच्छाओं से अशुभकर्मों का ग्रहण करना ही **अविरति-आस्रव** है।

आचार्य पूज्यपाद ने अविरति के १२ भेद माने हैं—पृथ्वी आदि छः काय के जीवों की हिंसा का अत्यागभाव तथा छः इन्द्रियों (पांच इन्द्रियां

1. तत्त्वार्थ. ७।१ तथा ८।१ सर्वार्थसिद्धि

और मन) के विषयों के प्रति असंयमभाव।

ज्ञान का यही फल है कि जिन-जिन पापों, पदार्थों और इच्छाओं को व्यक्ति त्याग सके, उनका अविलम्ब त्याग कर दे, अन्यथा प्रतिसमय अविरति का पाप लगता ही रहेगा।

यहां कइयों का तर्क है कि जिस पाप को हम करते नहीं एवं जिस पदार्थ को हम भोगते नहीं, फिर उनका पाप हमें कैसे लग सकता है?

समाधान यह है कि द्वार खुला रहने पर जैसे हर कोई आ सकता है एवं द्वार वन्द कर देने के वाद कोई नहीं आ सकता, उसी प्रकार जव तक त्याग नहीं किया जाता, तव तक आशा-वांछा रूप अविरति का द्वार खुला है अतः उसके निमित्त से आनेवाला पाप नहीं रुक सकता।

प्रश्न ७—प्रमादआस्रव का क्या रहस्य है?

उत्तर—धर्म के प्रति आत्मा के आन्तरिक अनुत्साह-आलस्य भाव का नाम **प्रमादआस्रव** है[1]। शुभ उपयोग का अभाव या शुभकार्य में उद्यम न करना प्रमाद है **अथवा** जिससे जीव सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग के प्रति उद्यम करने में शिथिलता करता है, वह प्रमाद है[2]। **आचार्य पूज्यवाद** ने कहा है कि कुशलों में, (कल्याण के कार्यों में) अनादर-भाव-अनुत्साह रखना प्रमाद है[3]। (१) भावशुद्धि, (२) कायशुद्धि, (३) विनय-शुद्धि, (४) ईर्यापथशुद्धि, (५) शयनासनशुद्धि, (६) भिक्षाशुद्धि, (७) परिष्ठापनशुद्धि, (८) वाक्‌शुद्धि—ये आठ तो शुद्धियां तथा उत्तम-क्षमा, आर्जव, मार्दव, शौच, सत्य, तप, त्याग, अकिंचन्य और ब्रह्मचर्य-रूप दस प्रकार का धर्म—ये कुशल कहलाते हैं[4]।

कई विद्वानों ने अविरति एवं प्रमाद—इन दोनों को एक मानने की

---

१. तेराद्वार-द्वार ५

२. स्था. ५।२।४१८ तथा समवायाङ्ग ५

३. तत्त्वार्थ ८।१। सर्वार्थसिद्धि

४. तत्त्वार्थ-वार्तिक ८।१।३०

चेष्टा की है लेकिन अविरति अत्यागभाव है एवं प्रमाद अनुत्साहभाव है तथा अविरति के अभाव में भी प्रमत्तसंयत प्रमादयुक्त होता है अत: दोनों आस्रव अपने स्वभाव से भिन्न हैं।[1]

कई मद-विषय-कषाय-निद्रा और विकथा को प्रमादआस्रव मानते हैं, लेकिन यहां प्रमाद का अर्थ आत्मप्रदेशवर्ती-अनुत्साह है, मद-विषय आदि नहीं। क्योंकि क्रियारूप मद आदि मनवचन-काययोग के व्यापार हैं, उनका समावेश योगआस्रव में होता है, प्रमादआस्रव में नहीं हो सकता।[2]

प्रश्न ८—कषायआस्रव का क्या रहस्य है ?

उत्तर—जो शुद्ध स्वरूपवाली आत्मा को कलुषित-मलिन करता है, वह कषाय है **अथवा** कषायवेदनीय के उदय से होनेवाला जीव का क्रोध-मान-माया-लोभ रूप तप्तपरिणाम कषाय है।[3]

क्रोधादि करना कषायआस्रव नहीं है, वह तो अशुभयोगों की प्रवृत्ति रूप होने से योगआस्रव में आता है। **श्री जयाचार्य** ने कहा है कि जो उदीर कर क्रोध करता है, उसके अशुभयोग होता है। आत्मप्रदेशों का निरन्तर कषाय-कलुषित रहना कषायआस्रव है। आठवें-नौवें गुणस्थान में शुभलेश्या और शुभयोग होने पर भी कषायआस्रव कहा गया है। इसका कारण क्रोधादि से कलुषित आत्मप्रदेश हैं। जैसे—अग्नि से तपे हुए लाल लोहे को यदि संडास से वाहर निकाल लिया जाता है तो कुछ समय वाद उसकी ललाई दूर हो जाती है लेकिन उष्णता वनी रहती है, उस पर रखा हुआ रूई का फोहा तुरन्त भस्म हो जाता है; उसी तरह क्रोधादि योगों का रक्तभाव सातवें गुणस्थान से आगे नहीं जाता। किन्तु क्रोधादि के उदय से आत्मप्रदेशों में जो उष्णता विद्यमान रहती है, वह कषायआस्रव है। ग्यारहवें गुणस्थान में क्रोधादि का उपशम हो जाने से जव उदय का कर्तव्य

---

१. तत्त्वार्थ-वार्तिक ८।१।३६

२. जयाचार्य-कृत-झीणीचर्चा ढाल २२ गाथा २८-३०-३३

३. स्था. ५।२।४१८ तथा समवायाङ्ग ५

पूरा हो जाता है, तब अकषाय संवर होता है।[1] (क्रोधादिकषायों का विवेचन देखो पुञ्ज ४ प्रश्न ४ से ११)

प्रश्न ९—योगआस्रव का स्वरूप समझाइए!

उत्तर—मन-वचन-काया की प्रवृत्ति-क्रिया को **योग** कहते हैं। योग के निमित्त से आत्मा जो कर्मों का ग्रहण करती है, वह **योगआस्रव** है।[2] मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद एवं कषायआस्रव प्रवृत्तिरूप न होकर भावरूप हैं। किन्तु योगआस्रव प्रवृत्तिरूप है—इससे आत्मप्रदेशों में स्पन्दन-कम्पन होता है, मिथ्यात्व आदि में वह नहीं होता।

मन-वचन-काया के योग दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। अशुभयोग एकान्तरूप से आस्रव हैं, उनके पापों का आगमन होता है। शुभयोग के दो भेद हैं—शुभयोगनिर्जरा और शुभयोगआस्रव। शुभयोगों से अशुभकर्मों की निर्जरा होती है—इसलिए शुभयोग निर्जरा है तथा निर्जरा के साथ-साथ पुण्यों का आगमन होता है यानी पुण्य बंधते हैं अतः शुभयोग आस्रव हैं[3]। वास्तव में शुभयोग अथवा शुभअध्यवसाय के बिना निर्जरा भी नहीं हो सकती और पुण्य भी नहीं बंध सकते।

आत्मा की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—एक बाह्यरूप से और दूसरी आभ्यन्तररूप से। बाह्यप्रवृत्ति का नाम **योग** है और आभ्यन्तर-प्रवृत्ति का नाम **अध्यवसाय** है—ये दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—शुभ एवं अशुभ। अशुभ से पाप बंधते हैं एवं आत्मा मलिन होती है तथा शुभ से निर्जरा होती है, आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य का बन्ध होता है। **एक ही कारण से दो कार्य कैसे?**—इस शंका का समाधान यह है[4] कि शुभयोग मोहनीयकर्म का क्षायिक या क्षयोपशमनिष्पन्न भी है और शुभ-

---

१. झीणीचर्चा ढाल २२

२. योगों का विवरण देखो पुञ्ज ६ प्रश्न १३ में

३. जयाचार्य

४. झीणीचर्चा

नामकर्म का उदयनिष्पन्न भी है। क्षायिक-क्षयोपशम-निष्पन्न होने के कारण शुभयोग से निर्जरा होती है तथा उदयनिष्पन्न होने से उसके द्वारा पुण्यों का वन्ध होता है। व्यावहारिकदृष्टि से यद्यपि निर्जरा एवं पुण्यवन्ध का कारण एक ही लगता है लेकिन तात्त्विक दृष्टि से शुभयोग के दो स्वभाव हैं—निर्जरा का कारण क्षायिक-क्षायोपशमिकस्वभाववाला शुभयोग है, और पुण्यवन्ध का कारण औदयिकस्वभाववाला शुभयोग है।

जैसे दीपक प्रकाश भी करता है और काजल भी बनाता है। प्रकाश का कारण तेजोमय अग्नि है और काजल का कारण तेल-वत्ती का जलना है।

शुभयोग धान्य (गेहूँ आदि) के वीजवत् निर्जरारूप धान्य तो पैदा करता ही है लेकिन साथ-साथ पुण्यरूप घास (तूड़ी-पूला आदि) भी अवश्य उत्पन्न करता है। जैसे—धान्य से पहले पान (घास) उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पुण्यवन्ध पहले होता है और पापों की निर्जरा पीछे होती है। यह सूक्ष्मदृष्टि का कथन है।

प्रश्न १०—यदि निर्जरा के साथ पुण्य बंधते ही रहेंगे तो फिर जीव की मुक्ति कैसे होगी ?

उत्तर—ज्यों-ज्यों निर्जरा का वल वढ़ता जाएगा पुण्यवन्ध की प्रक्रिया कमज़ोर होती जाएगी। कर्मों का वन्ध वास्तव में कषाय और योग के निमित्त से होता है। अकषाय अवस्था (११-१२-१३ गुणस्थान) में यद्यपि शुभयोगों की प्रवृत्ति से शुभकर्म आते हैं, पर अधिक ठहरते नहीं। आत्मप्रदेशों का स्पर्श करके शीघ्र ही झड़ जाते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में योग भी नहीं रहता अतः नए कर्म आने विलकुल वंद हो जाते हैं एवं अवशिष्ट चार कर्मों के अंशों को (पिछली योगों की प्रेरणा से) खपाकर जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न ११—आस्रव के मूल पांच भेद तो समझ में आ गए, अव वीस भेद समझाइए !

उत्तर—आस्रव के वीस भेद, जो पचीसवोल के थोकड़े में आए हैं, उनमें मिथ्यात्वादि पांच आस्रव पूर्ववत् हैं। शेष पन्द्रह का विवेचन इस प्रकार है—

(६) **प्राणातिपातआस्रव**—पृथ्वीकाय आदि छः काय के जीवों के प्राणों का तीनकरण-तीनयोग से अतिपात—नाश करना प्राणातिपातआस्रव है। (करना, करवाना एवं अनुमोदन करना—ये तीनकरण हैं और मन, वचन, काया—ये तीनयोग हैं)

(७) **मृषावादआस्रव**—क्रोध, लोभ, भय आदि कारणों द्वारा तीनकरण—तीनयोग से झूठ वोलना मृषावादआस्रव है। झूठ के चार तथा दस भेद हैं (देखो पुञ्ज ६, प्रश्न १३)।

(८) **अदत्तादानआस्रव**—ग्राम, नगर या वन में थोड़ी या ज्यादा, छोटी या वड़ी, सचित्त या अचित्त—किसी भी प्रकार की वस्तु तीनकरण—तीनयोग से मालिक की आज्ञा के विना (चोरी की भावना से) लेना अदत्तादानआस्रव है।

(९) **मैथुनआस्रव**—स्त्री-पुरुष-युगल का नाम मिथुन है और मिथुन की कामरागजनितचेष्टा-स्पर्श आदि करना मैथुन है एवं वही मैथुनआस्रव है। मैथुनआस्रव अर्थात् तीनकरण—तीनयोग से अब्रह्मचर्य का सेवन करना।

(१०) **परिग्रहआस्रव**—वाह्य धन-धान्यादि एवं आभ्यन्तर मोह-रागादि मूर्च्छाभाव होना परिग्रह है। इच्छा, प्रार्थना, काम, अभिलाषा, कांक्षा, गृद्धि, मूर्च्छा—ये सव परिग्रह के ही पर्यायवाची नाम हैं[1]। हां, तो वाह्य एवं आभ्यन्तर पदार्थों में ममत्व-मूर्च्छाभाव रखना परिग्रहआस्रव है। भगवान की आज्ञा के अनुसार साधु जो वस्त्र-पत्रादि रखते हैं, वे परिग्रह नहीं हैं। यदि उनमें मूर्च्छाभाव आ जाए तो उन्हें पाप लग जाता है[2]।

---

१. तत्त्वार्थ ७।१२ भाष्य

२. दशवै. ६।२०-२१

(११) **श्रोत्रेन्द्रियआस्रव**—जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों को सुने, वह श्रोत्रेन्द्रिय है। कान में पड़े हुए शब्दों पर राग-द्वेष करना श्रोत्रेन्द्रियआस्रव है

(१२) **चक्षुरिन्द्रियआस्रव**—जो अच्छे-बुरे रूपों को देखती है, वह चक्षुरिन्द्रिय है। रूपों पर राग-द्वेप करना चक्षुरिन्द्रियआस्रव है।

(१३) **घ्राणेन्द्रियआस्रव**—जो सुगन्ध-दुर्गन्ध को ग्रहण करे—सूंघे, वह घ्राणेन्द्रिय है। सूंघकर राग-द्वेष करना घ्राणेन्द्रियआस्रव है।

(१४) **रसनेन्द्रियआस्रव**—जो रस का आस्वादन करे, वह रसनेन्द्रिय है। स्वाद-अस्वाद पर राग-द्वेप करना रसनेन्द्रियआस्रव है।

(१५) **स्पर्शनेन्द्रियआस्रव**—जो शीत-उष्णादि स्पर्शों का अनुभव करे, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। स्पर्शों के प्रति राग-द्वेष करना स्पर्शनेन्द्रियआश्रव है।

वास्तव में पांचों इन्द्रियां दर्शनावरणीयकर्म का क्षयोपशमनिष्पन्न-भाव है। शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श का अनुभव-ज्ञान करना—इनका स्वभाव है। अच्छे-बुरे शब्द आदि पर राग-द्वेष का अत्यागभाग अविरति-आस्रव है, त्याग संवर है तथा शब्दादि के प्रति राग-द्वेष करना इन्द्रिय-आस्रव है एवंअशुभयोग है। राग-द्वेप को टालने का प्रयत्न करना शुभ-योग है एवं **इन्द्रियप्रतिसंलीनता** नामक निर्जरा का भेद है।[1]

(१६) **मनआस्रव**—मन को नाना प्रकार के शुभ-अशुभ विचारों में प्रवृत्त करना—लगाना मनआस्रव है।

(१७) **वचनआस्रव**—नाना प्रकार के शुभ-अशुभ वचन वोलना वचनआस्रव है।

(१८) **कायआस्रव**—काया द्वारा नाना प्रकार की शुभ-अशुभ क्रिया करना कायआस्रव है।

कई यहां मन-वचन-काया की अशुभप्रवृत्ति का ही ग्रहण करते हैं।

---

१. श्री भिक्षुस्वामीकृत पांच इन्द्रिय—ओलखावण की ढाल—तथा नवपदार्थ—निर्जरापदार्थ ढाल २ गाथा १६ के आधार से।

उनका कहना है कि योगों की अशुभप्रवृत्ति ही आस्रव है, शुभ प्रवृत्ति का तो शुभयोग संवर में समावेश हो जाता है। शुभयोग को संवर मानने वाले पांच चारित्रों को भी शुभयोगसंवर में लेते हैं।[1] लेकिन **भिक्षुस्वामी** के मतानुसार योगों की शुभप्रवृत्ति शुभयोगआस्रव है और अशुभप्रवृत्ति अशुभयोगआस्रव है तथा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के योगों का निरोध करना अयोगसंवर है। जैन आगमों में अयोगसंवर पाठ है न कि शुभयोगसंवर।

(१९) **उपकरणआस्रव**—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को अयतना-पूर्वक रखना-उठाना यानी उनसे अजयणा करना उपकरणआस्रव है।

(२०) **सूचि-कुशाग्रआस्रव**—सूई-तृणाग्र आदि के सेवन जितनी भी प्रवृत्ति करना सूचिकुशाग्रआस्रव है[2]।

उपरोक्त वीस आस्रवों में प्रथम पांच को छोड़कर शेष पन्द्रह प्रवृत्ति-रूप हैं अतः ये योग आस्रव के ही भेद माने जाते हैं।

प्रश्न १२—आस्रव के बयालीस भेद कौन-कौन से हैं ?

---

१. टीकम—डोसी की चर्चा।

२. स्थानांग १०।७०९ के आधार से १९-२० इन दो आस्रवों का विवेचन इस प्रकार भी किया गया है।

उपकरणआस्रव—आगम में इसे उपकरणअसंवर कहा गया है। वस्त्र-पत्रादि जो उपकरण काम में लेकर गृहस्थ को वापिस नहीं दिए जा सकें वे 'औघिक' कहलाते हैं और जो सूई-तृण-दण्ड-पदादि काम में लेकर गृहस्थ को वापिस दिए जा सकें वे "औपग्रहिक' कहे जाते हैं। साधु द्वारा नियत और कल्पनीय औघिक उपकरणों का यतनापूर्वक सेवन पुण्य-आस्रव है। उसके द्वारा अनियत और अकल्पनीय उपकरणों का अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ के द्वारा सर्व उपकरणों का सेवन पापास्रव है।

सूचिकुशाग्रआस्रव—इसे आगम में सूचिकुशाग्र असंवर कहा गया है। सूचि-कुशाग्र उपलक्षण रूप है। ये समस्त औपग्रहिक उपकरणों के सूचक हैं। साधु द्वारा कल्पनीय सूई-तृणाग्र आदि का यतनापूर्वक सेवन पुण्यास्रव है और अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ द्वारा इन सबका सेवन पापास्रव है। (नवपदार्थ, पृ० ४५९)

उत्तर—५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अविरति, ३ योग, २५ क्रियाएँ—ऐसे ४२ आस्रव माने गए हैं।[1]

(१-५) **इन्द्रियआस्रव**—श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना।

(६-९) **कषायआस्रव**—क्रोध, मान, माया एवं लोभ—इन चारों कषायों में प्रवृत्त होना अर्थात् क्रोधादि करना।

(१०-१४) **अविरतिआस्रव**—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह रूप अविरति में प्रवृत्त होना अर्थात् हिंसा आदि पांच पापों का सेवन करना।

(१५-१७) **योगआस्रव**—तीनों योगों (मन, वचन, काया) की प्रवृत्ति करना।

(१८-४२) **पच्चीसक्रियाएँ**—कायिकी आदि।

प्रश्न १३—क्रियाओं का भेद एवं स्वरूप समझाइए!

उत्तर—कर्मबन्ध में कारण बननेवाली चेष्टा **अथवा** मन, वचन, काया की दुष्ट प्रवृत्ति का नाम **क्रिया** है।

क्रिया दो प्रकार की होती है[2]—जीवक्रिया और अजीवक्रिया। जीवक्रिया के दो भेद हैं—सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया। वास्तव में, जीव की क्रिया चेतना का व्यापार है, वह दो प्रकार का है—सम्यक् और मिथ्या। सम्यक् व्यापार से होनेवाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया है और मिथ्या व्यापार से होनेवाली क्रिया मिथ्यात्वक्रिया है।

पांच भावों में क्षायिक-पारिणामिक को छोड़कर तीनों भाव (उदय-उपशम-क्षयोपशम) अजीव-कर्म से सम्बन्धित हैं और कर्म से सम्बन्धित आत्मा द्वारा ही कायिकी आदि २५ क्रियाएं होती हैं तथा इन क्रियाओं से पुनः अजीव-कर्मों का बन्धन होता है। अजीव से सम्बन्धित होने के कारण

---

१. नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्तसूरिकृत)

२. स्था. २।१।६०, स्था. ५।२।११९, प्रज्ञापना २२।२८४ तथा हरिभद्रीय आवश्यक—अ. ४ क्रियाधिकार।

कायिकी आदि क्रियाओं का अजीवक्रिया में समावेश किया गया है।

अजीवक्रिया दो प्रकार की है—ईर्यापथिकी और साम्परायिकी।

ईर्यापथिकीक्रिया—यह अकषायी (११-१२-१३ वें) गुणस्थान-वर्ती—महामुनियों के केवल शुभयोग के निमित्त से होती है। साम्प-रायिकीक्रिया दसवें गुणस्थान तक के जीवों में होती है। इसके कायिकी आदि २४ भेद हैं—

(१) **कायिकी**—काया-शरीर से होनेवाली क्रिया। यह दो प्रकार की है—अनुपरतकायिकी और दुष्प्रयुक्तकायिकी। आरम्भ-समारम्भ का सर्वथा त्याग न करनेवाले व्यक्ति की काया **अनुपरत** कहलाती है। अनु-परतकाय से वर्तमान काल में आरम्भादि न करने पर भी जो प्रतिसमय अत्यागभावरूप क्रिया लगती रहती है वह **अनुपरतकायिकी** क्रिया है तथा वर्तमान में हिंसादि करते हुए शरीर से जो क्रिया लगती है वह **दुष्प्रयुक्त-कायिकी** क्रिया है।

(२) **अधिकरणकी**—जिस हिंसादिमय अनुष्ठान-विशेष से या आरम्भ-समारम्भ के पौद्‌गलिकसाधन (चाकू-तलवार आदि शस्त्र) से जीव नरकादिदुर्गति का अधिकारी होता है,उस अनुष्ठान या शस्त्र को **अधिकरण** कहते हैं। अधिकरण से होनेवाली क्रिया अधिकरणकी है। इसके दो भेद हैं—

(क) **संयोजनाधिकरणकी**—टूटे हुए या बिखरे हुए हिंसात्मकसाधनों को ठीक व एकत्रित करके कामलायक बनाना।

(ख) **निर्वर्तनाधिकरणकी**—नए साधन बनाकर उनसे हिंसादि करना।

(३) **प्राद्वेषिकी**—कर्मबन्ध के कारणभूत मत्सर-ईर्ष्यारूप जीव के अशुभपरिणाम को **प्रद्वेष** कहते हैं। प्रद्वेष से होनेवाली क्रिया प्राद्वेषिकी है। यह दो प्रकार की है—

जीवप्राद्वेषिकी—जीवों पर ईर्ष्या-द्वेष करना तथा **अजीवप्राद्वेषिकी**—वस्त्र, पात्र, आसन, मकान आदि पर प्रद्वेष करना (जैसे—नहीं चलने से

क्रुद्ध होकर कई लोग कलम-पैन आदि को तोड़ डालते हैं।)

प्राद्वेषिकी क्रिया तीन कारणों से होती है—अपने निमित्त से, दूसरे के निमित्त से एवं दोनों के निमित्त से। जैसे—काम विगड़ जाने पर कई खुद को गाली देने लगते हैं, कई अपने छाती-माथा आदि कूटने लगते हैं एवं कई आत्महत्या कर लेते हैं। इसी प्रकार कई दूसरे लोगों पर प्रद्वेष करते हैं, उन्हें पीटते हैं अथवा जान से मार देते हैं तथा कई स्व-पर दोनों पर प्रद्वेप आदि का प्रयोग करते हैं।

(४) **पारितापनिकी**—मार-पीट आदि से किसी को परिताप-दुःख देना पारितापनिकीक्रिया है। इसके दो भेद हैं—

स्वहस्तपारितापनिकी—अपने हाथ या वचन से दुःख पहुंचाना। **परहस्तपारितापनिकी**—दूसरों के द्वारा दुःख पहुंचाना। दूसरी प्रकार से इसके तीन भेद हैं—अपने आप दुःखी होना, दूसरों को दुःखी करना एवं दोनों को दुःखी करना।

(५) **प्राणातिपातिकी**—जीवहिंसा करने से जो क्रिया लगती है, वह प्राणातिपातिकीक्रिया है।[1] इसके भी पूर्ववत् दो और तीन भेद हैं।

जिस जीव को प्राणाति पातिकीक्रिया लगती है, उसे पिछली चार क्रियाएं अवश्य लगती हैं। जिसे पारितापनिकी लगती है, उसे पिछली तीन अवश्य लगती हैं। जिसे प्राद्वेषिकी लगती है, उसे पिछली दो अवश्य लगती हैं, अर्थात् प्रथम तीन क्रियाएं एक साथ लगती ही हैं (ये पाँचों क्रियाएं चारों गति के जीवों को लगती हैं।)

(६) **आरम्भिकी**–आरम्भ से लगनेवाली क्रिया आरम्भिकी कहलाती है। यह दो प्रकार से होती है—**जीवआरम्भिकी**—छः काय के जीवों का आरम्भ हिंसा करने से और **अजीवआरम्भिकी**—कपड़ा, कागज़, आटा,

---

१. जिस प्रहार के कारण छः मास के भीतर प्राणान्त हो जाए, तो उसमें उस प्रहार करनेवाले को प्राणातिपातिकीक्रिया लगती है (भगवती १।८)।

चीनी आदि से बने हुए जीव की आकृतिवाले पदार्थ या मृतकलेवर का आरम्भ करने से।

(७) **पारिग्रहिकी**—परिग्रह-ममत्वभाव से लगनेवाली क्रिया पारिग्रहिकी कहलाती है। यह भी दो प्रकार से लगती है : **जीवपारिग्रहिकी**—कुटुम्ब-परिवार, दास-दासी, गाय-भैंसादि पशु, शुकादि-पक्षी एवं धान्य-फल आदि स्थावरजीवों पर ममत्वभाव रखने से तथा **अजीवपारिग्रहिकी**—सोना-चांदी-मकान-वस्त्र-आभूषण-शयन-आसन आदि निर्जीव वस्तुओं पर ममत्वभाव रखने से।

(८) **मायाप्रत्यया**—माया-कपट से लगनेवाली क्रिया मायाप्रत्यया है। इसके दो भेद हैं—

आत्मभाववक्रता—हृदय की कुटिलता अर्थात् अन्तर में और एवं बाहर में कुछ और—इस प्रकार आत्मा में ठगाई का भाव होना तथा **परभाववक्रता**—खोटे तोल-मोपों से दूसरों को ठगना।

(९) **अप्रत्याख्यानिकी**—प्रत्याख्यान-विरति न करने रूप अत्यागभाव से लगनेवाली क्रिया अप्रत्याख्यानिकी है। यह दो प्रकार से होती है—सजीव-वस्तुओं का प्रत्याख्यान न करने से तथा निर्जीव-वस्तुओं का प्रत्याख्यान न करने से। प्रज्ञापना-टीकाकार का मत है कि संसाररूपी जंगल में भटकते हुए जीवों ने पूर्वभवों में वोसिराए (त्याग किए) बिना जहां-जहां अपने शरीर या उपधि (मकान-शस्त्र आदि) छोड़े हैं, उनके द्वारा यदि अन्य जीवों को परितापना आदि होती हैं, तो भवान्तर में गए हुए जीवों को भी उनसे संबंधित क्रिया लगती है।[1]

धनुषबाण का प्रयोग करनेवालों को तो हिंसादि की क्रिया लगती ही है लेकिन जिन जीवों के शरीरों से धनुष-बाण आदि बने हुए हैं, उन जीवों को भी पाप की क्रिया लगती है।[2]

---

१. प्रज्ञापना २२ टीका

२. भगवती ५।६ मूल तथा टीका के आधार से

यहां प्रश्न होता है कि यदि ऐसे पाप की क्रिया लगती है तो जिन जीवों के शरीर से साधुओं के वस्त्र-पात्रादि उपकरण बने हैं, उन जीवों को अथवा जिनके बनाए हुए मकान में साधु ठहरते हैं या सामायिक-संवर आदि धर्म-ध्यान होता है, उनको पुण्य की क्रिया भी लगनी चाहिए।

इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि पाप की क्रिया तो अविरति अर्थात् अत्यागभाव से अपने-आप लग जाती है। परन्तु पुण्य की क्रिया उसके हेतुभूत विवेक आदि (शुभयोग की प्रवृत्ति) के विना नहीं लगती। (मरते समय यदि कोई जीव, शरीर एवं उपधि का व्युतसर्जन (त्याग) कर दे तो फिर भवान्तर में उसको अविरति की क्रिया नहीं लगती)

(१०) **मिथ्यादर्शनप्रत्यया**—सम्यक्त्व के अभाव में तत्त्वसम्बन्धी अश्रद्धा अथवा विपरीतश्रद्धा से लगनेवाली क्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया है। यह दो प्रकार की है—**न्यूनाधिकमिथ्यादर्शनप्रत्यया**—जिनेश्वरदेव के वचन से कम या अधिक में श्रद्धा करना तथा **तद्व्यतिरिक्तमिथ्यादर्शन-प्रत्यया**—आत्मा के अस्तित्व को ही न मानना अथवा न्यूनाधिकमिथ्यात्व के सिवा सभी प्रकार की मिथ्यामान्यता रखना (इसमें शेष सभी मिथ्यात्वों का समावेश हो जाता है)।

किस गुणस्थान तक कौन-कौन-सी क्रियाएं हैं ?—आरम्भिकीक्रिया छठे गुणस्थान तक लगती है। पारिग्रहिकी पांचवें तक, मायाप्रत्यया दसवें तक, अप्रत्याख्यानिकी चौथे (देशरूप से पांचवें) तक तथा मिथ्या-दर्शनप्रत्यया पहले और तीसरे—इन दो गुणस्थानों में लगती है।

जिस जीव के मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया लगती है, उसे आरम्भिकी आदि पांचों क्रियाएं निश्चित रूप से लगती हैं। जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है, उसे प्रथम चार अवश्य लगती हैं। जिसे पारिग्रहिकी क्रिया लगती है, उसे प्रथम दो जरूर लगती हैं तथा जिसे आरम्भिकीक्रिया लगती है उसे भी प्रथम दो लगती ही हैं।

किस मनुष्य में कितनी क्रियाएं ?—मनुष्य तीन प्रकार के

हैं[1]—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के पांचों क्रियाएं लगती हैं। सम्यग्दृष्टिमनुष्य तीन प्रकार के हैं—संयत, संयतासंयत और असंयत।

संयत दो प्रकार के होते हैं—सरागसंयत (दसवें गुणस्थान तक के साधु) और वीतरागसंयत (ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें तक के साधु)। वीतरागसंयत क्रियारहित होते हैं। सरागसंयत के दो भेद हैं—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। प्रमत्तसंयत के दो क्रियाएं होती हैं—आरम्भजा और मायाप्रत्यया। अप्रमत्तसंयत के एक मायाप्रत्ययक्रिया होती है।

संयतासंयत (श्रावक) के संपूर्ण रूप से तीन क्रियाएं (आरम्भजा, मायाप्रत्यया और पारिग्रहिकी) होती हैं और आंशिकरूप से चौथी अप्रत्याख्यानिकीक्रिया भी होती है क्योंकि जिन-जिन पदार्थों का त्याग नहीं है, उन-उन से सम्बन्धित अव्रत की क्रिया लगती है, इसीलिए तो श्रावक को संयतासंयत, व्रताव्रती[2], प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानी[3] एवं धर्मा-धर्मी[4] कहा गया है। (कई लोग श्रावक के तीन ही क्रियाएं मानते हैं।)

असंयत दो प्रकार के होते हैं—सम्यग्दृष्टि (अव्रतीश्रावक) और मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टिअसंयत में प्रथम चार क्रियाएँ होती हैं और मिथ्यादृष्टिअसंयत में पांचों क्रियाएं होती हैं।

(११) **दृष्टिजा**—जीव (घोड़ा-हाथी आदि) एवं अजीव (चित्र-कारी आदि) को देखने से जो रागद्वेषात्मक-परिणाम होते हैं, उनसे लगने-वाली क्रिया दृष्टिजा है।

(१२) **स्पर्शजा**—जीव-अजीव के स्पर्श से पैदा होनेवाले रागद्वेष-मय भावों से लगनेवाली क्रिया स्पर्शजा है अथवा जीव-अजीव के विषय में

---

१. भगवती १।२।२१

२. पंचाशक-टीका विवरण ६

३. भगवती ६।४

४. स्या. ३।४

प्रश्न पूछने से लगनेवाली क्रिया **पृष्टिजा** है।

(१३) **प्रातीत्यकी**—जीव-अजीव के निमित्त से उत्पन्न रागद्वेषात्मक-परिणाम से लगनेवाली क्रिया प्रातीत्यकी (पाडुच्चिया) है।

(१४) **सामन्तोपनिपातिकी**—सजीव (हाथी-घोड़ा आदि) एवं निर्जीव (रथ आदि) वस्तु के किए हुए (मेले या प्रदर्शनी में) संग्रह को देखकर लोग प्रशंसा करते हैं एवं अपनी चीजों की प्रशंसा सुनकर स्वामी मन में हर्षित होते हैं, इस प्रकार हर्षित होने पर जो क्रिया लगती है, वह सामन्तोपनिपातिकी कहलाती है।

(१५) **स्वहस्तिकी**—अपने हाथों में ग्रहण किए हुए जीव-अजीव की प्रतिकृति (मूर्ति-चित्र आदि) को मारने-पीटने आदि से जो क्रिया लगती है, वह स्वहस्तिकीक्रिया कहलाती है। यदि जीव को मारा-पीटा जाए तो **जीवस्वहस्तिकी** एवं अजीव को मारा-पीटा जाए तो **अजीवस्वहस्तिकी-क्रिया** मानी जाती है।

(१६) **नैसृष्टिकी**—किसी एक वस्तु को फेंकने से यह क्रिया लगती है। इसके दो भेद हैं—**जीवनैसृष्टिकी**—खटमल-जूं-सांप आदि को फेंकना या फव्वारे आदि से जल फेंकना तथा **अजीवनैसृष्टिकी**—वाण चलाना एवं लकड़ी-वस्त्र आदि को फेंकना।

(१७) **आज्ञापनिका**—जीवसम्वन्धी-अजीवसम्वन्धी कोई भी काम आज्ञा देकर दूसरे के पास करवाने से एवं दूसरे से निर्जीव या सजीव वस्तु मंगवाने से यह क्रिया लगती है।

(१८) **विदारणिका**—जीव अथवा अजीव को विदारण करने से लगनेवाली क्रिया विदारणिका है **अथवा** जीव-अजीव के व्यवहार में व्यापारियों की भाषा में या भाव में असमानता होने पर दुभाषिया या दलाल जो सौदा करा देता है, उससे लगनेवाली क्रिया **विचारणिका** है। **अथवा** लोगों को ठगने के लिए कोई पुरुष किसी जीव-अजीव की प्रशंसा करता है। इस वञ्चना (ठगाई) से लगनेवाली क्रिया **वितारणिका** है (उक्त क्रिया के इस प्रकार तीन अर्थ किए गये हैं)।

(१९) **अनाभोगप्रत्यया**—अनुपयोग से वस्त्रादि को ग्रहण करने से या पात्रादि को पूंजने से लगनेवाली क्रिया अनाभोगप्रत्यया है।

(२०) **अनवकाङ्क्षाप्रत्यया**—स्व-पर के शरीर की अपेक्षा न करते हुए स्व-पर को हानि पहुँचाने से लगनेवाली क्रिया अनवकाङ्क्षाप्रत्यया है।

(२१) **प्रेमप्रत्यया**—प्रेम-राग अर्थात् माया और लोभ के कारण से लगनेवाली क्रिया प्रेमप्रत्यया है अथवा प्रेम-राग उत्पन्न करनेवाले वचन कहने से होनेवाली क्रिया प्रेमप्रत्यया है।

(२२) **द्वेषप्रत्यया**—क्रोध-मान का अर्थ द्वेष है। स्वयं द्वेष करने से या दूसरों में द्वेष उत्पन्न करने से जो क्रिया होती है, वह द्वेषप्रत्यया है।

(२३) **प्रायोगिकीक्रिया**—आर्तध्यान-रौद्रध्यान करने से तीर्थंकरों के प्रति निन्दित-सावद्यवचन बोलने से तथा प्रमादपूर्वक गमनागमन-आकुञ्चन प्रसारण आदि करने से अर्थात् मन-वचन-काया की सावद्यप्रवृत्ति करने से जो क्रिया लगती है, वह प्रायोगिकी है।

(२४) **सामुदानिकी**—बहुत-से लोग मिलकर एक साथ एक ही प्रकार की क्रिया करें (नाटक-सिनेमा आदि देखें या अन्य आरम्भजन्यकार्य करें) उसे सामुदानिकीक्रिया कहते हैं। इस क्रिया से उपार्जित कर्मों का उदय भी प्रायः एक साथ होता है। भूकम्प-भूस्खलन-जलप्लावन-अग्निदाह एवं मोटर-रेल-जहाज आदि के ऐक्सीडेंटों से जो एक साथ अनेक व्यक्तियों का मरण हो जाता है वह इसी प्रकार की क्रिया से बंधे हुए कर्मों का फल समझना चाहिए।

सामूहिक रूप से सामायिक-पौषध-तप-जप-ध्यान आदि धार्मिकक्रिया करने से सामुदानिक पुण्यों का उपार्जन भी होता है।

(२५) **ईर्यापथिकीक्रिया**—उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगी-केवली—इन तीन गुणस्थानों में रहे हुए अप्रमत्तसाधु को केवल शुभयोगों के निमित्त से जो सातावेदनीयरूप शुभकर्म बंधता है, उसका नाम ईर्या-पथिकीक्रिया है (विशेष विवेचन देखो पुञ्ज ६ प्रश्न १८)।

यह पचीस क्रियाओं का विवेचन हुआ। जैसे—आस्रव के बीस भेदों

में से अन्तिम पन्द्रह का योगआस्रव में समावेश हो जाता है, उसी प्रकार इन पचीस क्रियाओं का भी अन्तर्भाव योगआस्रव में हो जाता है। यद्यपि सभी क्रियाओं में जीव का व्यापार अवश्य होता है, फिर भी पुद्गल-व्यापार की प्रधानता होने से इनका अजीवक्रिया में समावेश किया गया है। किन्तु इसे देखकर आस्रव को अजीव मानने की भूल न करनी चाहिए।

प्रश्न १४—क्या आस्रव जीव है ?

उत्तर—आस्रव के विषय में तीन मान्यताएँ प्राप्त होती हैं—कई आचार्य आस्रव को जीव-अजीव का परिणाम मानते हैं, कई अजीव मानते हैं और कई जीव मानते हैं।

आस्रव को जीव-अजीव का परिणाम माननेवालों का कथन है कि[1] मोह-राग-द्वेषरूप जीव के परिणामों के निमित्त से मन-वचन-काया रूप योगों द्वारा पुद्गल-कर्मवर्गणाओं का जो आगमन होता है, वह आस्रव है। इस परिभाषा के अनुसार मोह-राग-द्वेषपरिणाम **भावआस्रव** हैं और उनसे होनेवाला कर्मों का ग्रहण द्रव्यआस्रव है। भावआस्रव जीवपरिणाम है और द्रव्यआस्रव अजीवपरिणाम है। स्थानकवासी पूज्यश्री जवाहिरलालजी ने अपने **सद्धर्ममण्डन** ग्रन्थ में इसी मान्यता का मण्डन किया है।

आस्रव को अजीव माननेवाले कहते हैं कि[2] जलान्तर्गत नौका में तथाविध छिद्रों द्वारा जल का प्रवेश द्रव्यआस्रव है एवं जीवरूपी नौका में इन्द्रियादिछिद्रों द्वारा कर्मजल का संचय भावआस्रव है।

आस्रव को जीव माननेवाले आस्रव की परिभाषा इस प्रकार करते हैं[3] जिसके द्वारा जीव भवभ्रमण के हेतु-कर्म का प्रतिसमय आस्रवण-ग्रहण करता है, वह आस्रव है। स्था० ९।६६५ टीका में कहा है कि आस्रव मिथ्या-

---

१. पंचास्तिकाय २।१०८ टीका

२. स्था० १।१३ टीका

३. नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह-नवतत्त्वप्रकरण गा० १३

दर्शनादिरूप जीवपरिणाम है।

तेरापंथ के संस्थापक श्री **भिक्षुस्वामी** इसी मान्यता के अनुगामी हैं। वे आस्रव को जीव मानते हैं। उनका कहना है कि आस्रव कर्मों का कर्त्ता है, कर्मों का ग्रहण करनेवाला है, कर्मों के आगमन का हेतु है एवं जीव का ही परिणाम (भाव) अथवा व्यापार है। जैसे—मिथ्यात्वीजीव का भाव **मिथ्यात्व** है, अविरतिजीव का भाव **अविरति** है, अनुत्साही-जीव का भाव **प्रमाद** है, कषायीजीव का भाव कषाय है और योगयुक्त जीव का व्यापार **योग** है। इसीलिए आस्रव को जीव माना गया है।[1]

आगम में जीवपरिणाम के दस भेद कहे हैं[2]। उनमें कषायपरिणाम और योगपरिणाम का कथन है। आठ आत्माओं में कषायआत्मा और योगआत्मा का कथन है[3] तथा जीवोदयनिष्पन्न के ३३ भेदों में लेश्या, कषाय, मिथ्यात्व एवं अविरति का ग्रहण हुआ है[4]—आगम के इन सब प्रमाणों द्वारा आस्रव निश्चितरूप से जीव सिद्ध होता है

प्रश्न १५—आस्रव रूपी है या अरूपी ?

उत्तर—अरूपी है[5] क्योंकि मिथ्यात्वआस्रवजीव की विपरीत श्रद्धा विचारधारा है, अविरतिआस्रवजीव की अत्यागभाव एवं आशा-वाञ्छा है, प्रामदआस्रव जीव का अनुत्साहभाव है, कषायआस्रव आत्मा की कलुषितभावना है और योगआस्रव आत्म-प्रदेशों की चंचलता है—ये सभी आत्मा के परिणामस्वरूप हैं अतः अरूपी है, इनमें पांचों वर्ण नहीं पाते।

प्रश्न—१६ आस्रव सावद्य है या निरवद्य ?

उत्तर—मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय—ये चार आस्रव तो

---

१. तेरहद्वार द्वार पांच के आधार से

२. देखो पुञ्ज ६ प्रश्न ७

३. भगवती १२।१०।४६७

४. देखो पुञ्ज ६ प्रश्न २

५. तेरहद्वार द्वार ६ के आधार से

एकान्तसावद्य हैं। योगआस्रव के दो भेद हैं—शुभयोग और अशुभयोग। अशुभयोग एकान्त सावद्य है लेकिन शुभयोग से निर्जरा होती है अतः वह निरवद्य है।[1]

प्रश्न १७—पांचों आस्रवों की शक्ति तुल्य है या न्यूनाधिक ?

उत्तर—तुल्य नहीं है, उनमें काफी न्यूनाधिकता है। मिथ्यात्व की सबसे अधिक और योग की सबसे कम। इस विषय को समझाने के लिए आचार्यों ने पांचों आस्रवों की पांच अंकों में स्थापना की है। जैसे—मिथ्यात्व का एका (१), अव्रत का दूआ (२), प्रमाद का तीया (३), कषाय का चौका (४) और योग का पांचा (५)। हां तो ! इन सब अंकों को जोड़ने से १२३४५ हुए। मान लीजिए कि जिन जीवों ने मिथ्यात्व को हटाकर सच्ची श्रद्धा प्राप्त नहीं की, उन सब के सिर पर १२३४५ का ऋण (कर्जा) है।

यदि जीव प्रयत्न करके **एका** को हटा दे अर्थात् मिथ्यात्व को हृदय से निकाल दे तो शेष २३४५ का ऋण रह जाता है। दस हजार कम हो जाते हैं। (मिथ्यात्व की शक्ति दस हजार जितनी है)। यदि **दूआ** को हटा दे यानी सर्वविरति-साधु बन जाये तो दो हज़ार और घट गए, ३४५ रहे। यदि साधु अप्रमत्तदशा को प्राप्त कर ले तो **तीया** उड़ गया, ४५ रहे। फिर यदि उपशम-क्षपक श्रेणी लेकर दसवें गुणास्थान से ऊपर पहुँच जाए, तो कषाय का **चौका** गया एवं सिर्फ पांच का ऋण रहा जो चौदहवें गुणस्थान में जाते ही खत्म हो जाएगा।

इस गणित की युक्ति पर गौर करके जल्दी से जल्दी मिथ्यात्व को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। मिथ्यात्व दूर होने पर शेष अविरति आदि भी कमज़ोर होकर क्रमशः नष्ट हो जाएंगे। अस्तु !

---

१. तेरहद्वार द्वार सात के आधार से

आठवां पुञ्ज

प्रश्न १—संवरतत्त्व का स्वरूप समझाइए!

उत्तर—आस्रव का निरोध करना संवर है[1]। संवर-अवस्था में समस्त आत्मप्रदेश स्थिर हो जाते हैं। आत्मप्रदेशों की चंचलता आस्रव है और उनकी स्थिरता संवर है[2]। आस्रव से आत्मा में नए-नए कर्मों का प्रवेश होता है और संवर में वह रुक जाता है।[3] जैसे—नाला बन्द करने पर तालाब में जल नहीं आता, द्वार बन्द करने पर मकान में कोई व्यक्ति नहीं आता तथा छिद्रों को बन्द करने पर नौका में जल का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार आस्रव का निरोध होने पर आत्मा में शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकते।

संवर आत्मा का निग्रह करने से होता है। यह निवृत्तिपरक है, प्रवृत्ति-परक नहीं। प्रवृत्तिमात्र आस्रव है और निग्रहमात्र संवर है।

जिस उपाय से जो आस्रव रुक सके, उस आस्रव को रोकने के लिए वही उपाय काम में लाना उचित है। मनुष्य को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध का, मृदुता से मान का, ऋजुता से माया का और निःस्पृहता से लोभ

---

१. तत्त्वार्थ ६।१

२. टीकमडोसी की चर्चा

३. तत्त्वार्थ ६।१ सर्वार्थसिद्धि

का निग्रह करे। असंयम से हुए विषसदृश्य विषयों को अखण्ड संयम से नष्ट करे। तीन गुप्तियों से तीन योगों को, अप्रमाद से प्रमाद को और सावद्ययोग के त्याग से विरति को साधे तथा सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व को एवं मन की शुभस्थिरता द्वारा आर्त्त-रौद्र ध्यान को जीते।[1]

प्रश्न २—संवर के कितने भेद हैं ?

उत्तर—संवर के भेदों की संख्या का निश्चय करनेवाली अनेक परम्पराएं उपलब्ध हैं। उनमें से पांच परम्पराएं नीचे दी गई हैं—

१. सत्तावन संवर की परम्परा—इसके अनुसार पांच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं (भावनाएं), बाईस परीषह और पांच चारित्र—इस तरह कुल मिलाकर संवर के ५७ भेद होते हैं।

इस परम्परा का उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है लेकिन आगमों में कहीं नहीं मिलता। वास्तव में संवर आस्रव का प्रतिपक्षी पदार्थ है। यदि इसके ५७ भेद हैं तो आस्रव के भी ५७ भेद होने चाहिए लेकिन वे प्राप्त नहीं होते।

२. चार संवर की परम्परा—इसके अनुसार (१) सम्यक्त्व-संवर, (२) देशव्रत-महाव्रत, रूप विरतिसंवर, (३) अकषाय-संवर, (४) योगाभावसंवर—ये चार संवर हैं।[2]

३. चार संवर की दूसरी परम्परा—इसके अनुसार मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग—इन आस्रवों के निरोध रूप चार संवर हैं।[3] ये दोनों परम्पराएं आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा समर्थित हैं।

४. पांच संवर की परम्परा—इसके अनुसार संवर पांच हैं—(१) सम्यक्त्वसंवर, (२) विरतिसंवर, (३) अप्रमादसंवर, (४) अकषाय-

---

१. नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह—श्री हेमचन्द्रसूरिकृत—सप्ततत्त्वप्रकरण ११३-१७

२. द्वादशानुप्रेक्षा—संवरानुप्रेक्षा

३. समयसार-संवरअधिकार १९०-९१

संवर, (५) अयोग संवर[1]।

५. वीस संवर की परम्परा—इसके अनुसार वीस संवर ये हैं[2]—(१) सम्यक्त्वसंवर, (२) विरतिसंवर, (३) अप्रमादसंवर, (४) अकषायसंवर, (५) अयोगसंवर, (६) प्राणातिपात-विरमणसंवर (७) मृषावाद-विरमणसंवर, (८) अदत्तादान-विरमणसंवर, (९) अब्रह्मचर्य-विरमणसंवर, (१०) परिग्रह-विरमण संवर, (११) श्रोत्रेन्द्रियसंवर, (१२) चक्षुरिन्द्रियसंवर, (१३) घ्राणेन्द्रियसंवर, (१४) रसनेन्द्रिय-संवर, (१५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर, (१६) मनसंवर, (१७) वचनसंवर, (१८) कायसंवर, (१९) उपकरणसंवर, (२०) सूची-कुशाग्रसंवर।

चौथी-पांचवीं दोनों परम्पराएं जैन-आगमों द्वारा समर्थित हैं—इनमें आस्रवों की संख्या के अनुसार ही प्रतिपक्षी रूप संवरों की संख्या है। जैसे—आस्रव पांच हैं, तो उनके प्रतिपक्षी संवर भी पांच हैं तथा आस्रव बीस हैं, तो संवर भी वीस हैं।

प्रश्न ३—आगम-प्रतिपादित पांच तथा वीस संवरों का रहस्य बतलाइए !

उत्तर—सम्यक्त्व संवर आदि नाम पहले आ चुके हैं अतः यहां उनका रहस्य समझिए !

(१) **सम्यक्त्वसंवर**—यह मिथ्यात्वआस्रव का प्रतिपक्षी है। जीवादि-नवपदार्थों में यथातथ्यश्रद्धा करने से एवं विपरीतश्रद्धा का त्याग करने से इसकी निष्पत्ति होती है। सम्यक्त्वसंवर का ज्ञान करने के साथ सम्यक्त्व के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद का ज्ञान करना परम आवश्यक है।

प्रश्न ४—सम्यक्त्व का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद समझाइए !

उत्तर—दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से आत्मा में जो यथार्थतत्त्व-श्रद्धानरूप परिणाम उत्पन्न होता है, उस आत्मा के परि-

---

1. स्था. ५।२।४१८ तथा समवायाङ्ग ५
2. प्रश्नव्याकरण-संवरद्वार तथा स्था. १०।७०९

णाम को **सम्यग्दर्शन** या **सम्यक्त्व** कहते हैं।

यद्यपि सर्वज्ञभाषित तत्त्वों में यथार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन एक ही है किन्तु अपेक्षा से उसके निम्नलिखित पांच भेद किए गए हैं[1]—(१) औपशमिक, (२) सास्वादन, (३) क्षायोपशमिक, (४) वेदक, (५) क्षायिक।

(१) **औपशमिकसम्यक्त्व**—अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां—इन सातों का उपशम होने से आत्मा की जो तत्त्व में रुचि होती है, वह औपशमिकसम्यक्त्व है। इसमें मिथ्यात्वप्रेरक–कर्मपुद्गल सत्ता में रहकर भी राख में दबी हुई अग्नि की तरह कुछ समय उपशान्त रहते हैं। इसके दो भेद हैं—ग्रन्थिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी।

ग्रन्थिभेदजन्य-औपशमिकसम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्यजीवों को प्राप्त होता है। प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—ऐसे तीन करण (प्रयत्नविशेष) किए जाते हैं। उनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है[2]—

जीव अनादिकाल से संसार में घूम रहा है और तरह-तरह के दुःख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पड़ा हुआ पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दुःख सहते-सहते कोमल-शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम-शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवा शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम एक कोड़ाकोड़ीसागरोपम जितनी कर देता है। इस परिणाम को **यथाप्रवृत्तिकरण** कहते हैं। यथा-प्रवृत्तिकरणवाला जीव राग-द्वेष की मजबूत गांठ तक पहुंच जाता है, किंतु

---

१. भगवती ८।२।३२० तथा स्था. ३।३।१८४
२. कर्मग्रंथ १ गाथा १५
३. कर्मग्रंथ ४ गाथा ६ से १४

उसे भेद नहीं सकता, इसको **ग्रंथिदेशप्राप्ति** कहते हैं। कर्म और राग-द्वेष की यह गांठ क्रमशः दृढ़ और गूढ़ रेशमी गांठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्यजीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति कोड़ाकोड़ीसागरोपम के अन्दर करके वे भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उसे भेद नहीं सकते।

भव्यजीव जिस परिणाम से राग-द्वेष की दुर्भेद्य-ग्रन्थि को तोड़कर लांघ जाता है, उस परिणाम को **अपूर्वकरण** कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम जीव को वार-वार नहीं आता, कदाचित् ही आता है, इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्यजीवों को भी अनन्त वार आता है किन्तु अपूर्वकरण भव्यजीवों को भी अधिक वार नहीं आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किए विना नहीं लौटता। इसीलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर **अन्तरकरण** की क्रिया शुरू होती है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आनेवाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त वीतने के वाद उदय में आनेवाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के वाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीय का कोई कर्मदलिक नहीं रहता। अतएव जिसका अवाधाकाल पूरा हो चुका है—ऐसे मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह, जो अनिवृत्तिकरण के चरमसमय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह, जो अनिवृत्तिकरण के वाद एक अन्तर्मुहूर्त वीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को **मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति** और दूसरे को **मिथ्यात्व की द्वितीयस्थिति** कहते हैं। अन्तरकरण-क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो

मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नहीं रहता।

अनिवृत्तिकरण के बीत जाने पर औपशमिकसम्यक्त्व होता है। औपशमिकसम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एवं असंदिग्ध प्रतीति होने लगती है, जैसे—जन्मान्ध पुरुष को नेत्र मिलने पर। मिथ्यात्वरूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे—किसी पुराने एवं भयंकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। औपशमिकसम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल, जिन्हें अन्तकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय होनेवाले बताया है, वे उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिए जाते हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व के काल को **उपशान्ताद्धा** कहते हैं। उपशान्ताद्धा के पूर्व अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत (औपशमिकसम्यक्त्व के बाद उदय में आनेवाले) मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदों नाम के धान्य) का एक भाग औषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने-वाले को बिलकुल नशा नहीं आता, दूसरा भाग अर्धशुद्ध और तीसरा भाग अशुद्ध रह जाता है उसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत-मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुञ्जों में से एक पुञ्ज इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्व-घातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ति) नहीं रहता। दूसरा पुञ्ज आधा शुद्ध और तीसरा अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिकसम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है, उससे सम्यक्त्व का घात नहीं होता। उस समय प्रकट होनेवाले सम्यक्त्व को **क्षायोपशमिकसम्यक्त्व** कहते हैं। जीव के परिणाम अर्धविशुद्ध रहने पर दूसरे पुञ्ज का उदय होता है और जीव **मिश्रदृष्टि** कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध-पुञ्ज का उदय होता है और उस समय जीव **मिथ्यादृष्टि** हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द होता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाएं शेष रहने पर किसी-किसी औपशमिकसम्यक्त्व वाले जीव के चढ़ते परिणामों में विघ्न पड़ जाता है अर्थात् उसकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय होने से जीव सम्यक्त्वपरिणाम को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। जब तक वह मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाओं तक **सास्वादनभाव** का अनुभव करता है, उस समय जीव **सास्वादनसम्यग्दृष्टि** कहा जाता है। औपशमिकसम्यक्त्ववाला जीव ही सास्वदनसम्यग्दृष्टि हो सकता है, दूसरा नहीं (यह ग्रन्थिभेदजन्य-औपशमिकसम्यक्त्व का विवेचन हुआ)।

यहां कर्मग्रन्थ के अनुसार पहले औपशमिकसम्यक्त्व की प्राप्ति कही है। किन्तु सभी जीवों के लिए यह नियम लागू नहीं होता। कोई जीव औपशमिकसम्यक्त्व को प्राप्त किए विना ही अपूर्वकरण से मिथ्यात्व-दलिकों के तीन पुञ्ज (शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध) बनाकर शुद्धपुञ्ज के पुद्गलों का अनुभव करता हुआ क्षायोपशमिकसम्यक्त्व को प्राप्त करता है और कोई-कोई मिथ्यात्व का समूल नाश कर क्षायिकसम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेता है[1]।

उपशमश्रेणी भावी[2]—औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पांचवें, छठे या सातवें में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है, परन्तु आठवें गुणस्थान में तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। औपशमिकसम्यक्त्व के समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी कषाय-बन्ध तथा उसका उदय—ये चार बातें नहीं होतीं किन्तु उससे गिरने पर सास्वादनभाव के समय

---

१. जैन सिद्धान्तदीपिका ५।८ विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५३० टीका तथा बृहत्कल्प-भाष्य ३१ की गाथा ११३ एवं १२५ की टीका।

२. उपशमश्रेणी का वर्णन देखो पुञ्ज १२ प्रश्न १३ में।

उक्त चारों बातें हो सकती हैं।

(२) **सास्वादनसम्यक्त्व**—सास्वादन में स-आ-स्वादन—ये तीन शब्द हैं। 'स' का अर्थ सहित है, 'आ' का अर्थ थोड़ा है और 'स्वादन' का अर्थ स्वाद है अर्थात् जीव का जो परिणाम सम्यक्त्व के थोड़े-से स्वादसहित है उसे सास्वादनसम्यक्त्व कहते हैं। यह औपशमिकसम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व के अभिमुख होनेवाले जीव में होता है।

इस सम्यक्त्व में गुणस्थान दूसरा होता है तथा तत्त्व के प्रति अरुचि अप्रकट रूप से रहती है जबकि मिथ्यात्व में वह अरुचि प्रकट रूप से रहती है—बस, इतना-सा अन्तर है।

जिस प्रकार खीर का भोजन करने के बाद वमन होने पर भी कुछ समय तक खीर का स्वाद जबान पर रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का वमन होने पर भी, नष्ट होता हुआ उसका कुछ प्रभाव आत्मा पर रहता है।

इस दशा को वृक्ष से टूटकर पृथ्वी पर गिरनेवाले फल की मध्य अवस्था के समान कहा गया है। फल वृक्ष से टूट चुका एवं नीचे की ओर आ रहा है किन्तु अभी पृथ्वी पर नहीं पहुंचा। यह मध्य की दशा जैसी स्थिति सास्वादनसम्यक्त्व की है।

(३) **क्षायोपशमिकसम्यक्त्व**—अनन्तानुबन्धिकषाय तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व को क्षय करके अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए या उसे सम्यक्त्व रूप में परिणत करते हुए तथा वेदते हुए जीव की जो तत्त्वरुचि होती है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाती है।

यद्यपि क्षायोपशमिकसम्यक्त्व में दर्शनमोह की (मिथ्यात्वमोह और मिश्रमोह) दो प्रकृतियों का तथा अनन्तानुबन्धिकषाय के चोक का—यों छः प्रकृतियों का क्षयोपशम होता है और सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय चालू रहता है यानी मिथ्यात्व के शुद्धदलिक उदय में रहते हैं, फिर भी वे इतने सबल नहीं होते कि सम्यक्त्व का घात कर सकें। उनसे विपाकोदय (रसोदय) नहीं होता, केवल प्रदेशोदय होता है अतः इस सम्यक्त्व में अतिक्रम,

व्यतिक्रम एवं अतिचार रूप दोष लगने की संभावना रहती है। (अनाचार में तो विपाकोदय होता है)।

उपशमसम्यक्त्व में न तो विपाकोदय होता है और न प्रदेशोदय होता है, किन्तु क्षयोपशमसम्यक्त्व में प्रदेशोदय होता है—यही इन दोनों में अन्तर है।

(४) **वेदकसम्यक्त्व**—क्षपकश्रेणी अथवा क्षायकसम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व, अनन्तानुबन्धिचोक मिथ्यात्ववेदनीय एवं मिश्रवेदनीय का क्षय कर चुकने पर तथा सम्यक्त्ववेदनीय के अधिकांश दलिकों को खपा चुकने पर, जो पुद्‌गलांश शेष रहते हैं, उन्हें नष्ट करता हुआ जीव अन्तिम एक समय में जो सम्यक्त्ववेदनीय को वेदता है, वह वेदकसम्यक्त्व है अर्थात् क्षायक-सम्यक्त्व होने से ठीक अव्यवहित पहले क्षण में होनेवाले क्षयोपशमसम्यक्त्वधारी जीव के परिणाम वेदकसम्यक्त्व हैं। (गुणस्थान-द्वार में इसके तीन भेद भी किए हैं—क्षयोपशमवेदक, उपशमवेदक और क्षायिकवेदक, किन्तु वे शास्त्रसंगत नहीं हैं।)

(५) **क्षायिकसम्यक्त्व**—उपरोक्त सातों प्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाने से जो तत्त्वरुचि होती है, वह क्षायिकसम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व सर्वथा निर्मल-दोषरहित होता है और होने के बाद सदाकाल स्थायी रहता है[१]।

क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति जिनकालिक अर्थात् तीर्थंकर भगवान् के समय में होनेवाले मनुष्यों को ही होती है। क्षायिकसम्यक्त्वी उसी भव में मोक्ष चले जाते हैं, कदाच न जाएं तो तीसरे भव में अवश्य ही जाते हैं। तत्त्व यह है कि जो जीव आयुबन्ध करने के बाद इसे प्राप्त करते हैं, वे तीसरे भव में मोक्ष पाते हैं। अगले भव की आयु बांधने से पहले जो जीव क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं, वे उसी भव में मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न ५—पाँचों सम्यक्त्वों की प्राप्ति, स्थिति एवं अन्तर

---

१. उत्तरा. २८।१ तथा कर्मग्रन्थ, भाग ४, पृष्ठ ६६ के आधार से।

समझाइए !

उत्तर—उपशम एवं सास्वादनसम्यक्त्व एकभव में जघन्य एक वार और उत्कृष्ट दो वार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो वार और उत्कृष्ट पाँच वार आ सकते हैं।

क्षयोपशमसम्यक्त्व एकभव में जघन्य एक वार-उत्कृष्ट पृथक् (दो से नौ) हज़ार वार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो वार-उत्कृष्ट असंख्य वार आ सकता है। वेदक और क्षायिकसम्यक्त्व एक ही वार प्राप्त होते हैं।

स्थिति—उपशमसम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है, और सास्वादन-सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट छः आवलिका है (एक मुहूर्त्त में १,६७,७७,२१६, आवलिकाएँ होती हैं)। क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। ये ६६ सागर यदि विजयादि चार अनुत्तरविमान के भव हों तो दो वार में और यदि अच्युतकल्प के भव हों तो तीन वार में पूरे होते हैं। इनमें जो मनुष्य के भव होते हैं वह काल अधिक होता है। वेदकसम्यक्त्व की स्थिति एक समय है और क्षायिकसम्यक्त्व की स्थिति सदाकाल है। इसकी आदि तो है किंतु अन्त नहीं है अर्थात् यह आने के वाद नहीं जाता।

अन्तर—उपशम, सास्वादन एवं क्षयोपशमसम्यक्त्व का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट अर्धपुद्गलपरावर्तन (अनन्तकाल) है अर्थात् इन सम्यक्त्वों को खोकर जीव अनन्तकाल के लिए संसार में भटक जाता है। वेदक और क्षायिकसम्यक्त्व का अन्तर नहीं होता।[1]

ये पाँचों सम्यक्त्व यदि **मरुदेवी माता** और **असोच्चाकेवली** की भाँति स्वाभाविक रूप से प्राप्त हों तो **नैसर्गिक** कहलाते हैं। यदि गुरु आदि के उपदेश द्वारा हों तो इन्हें **आधिगामिक** कहते हैं।

प्रश्न ६—क्या सम्यक्त्व के दस भेद भी हैं ?

---

१. कर्मग्रंथ, भाग १ गा. १५

उत्तर—हां। सम्यक्त्व-प्राप्ति में कारण-भेद से उसके **निसर्गरुचि** आदि दस भेद किए गए हैं। यथा[1]—

(१) **निसर्गरुचि**—मिथ्यात्वमोहनीय का क्षयोपशम, क्षय या उपशम होने पर गुरु आदि के उपदेश विना स्वयमेव जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जीवादितत्त्वों पर श्रद्धा होना निसर्गरुचि है। इसका नाम नैसर्गिक-सम्यक्त्व भी है।

(२) **उपदेशरुचि**—सर्वज्ञ भगवान अथवा छद्मस्थ-गुरुओं का उपदेश सुनकर तत्त्वों पर श्रद्धा करना उपदेशरुचि है, इसे **अधिगमरुचि** भी कहते हैं।

(३) **आज्ञारुचि**—वीतराग भगवान या गुरु की आज्ञा से तत्त्वों पर श्रद्धा करना आज्ञारुचि है। मन्द-कषायी जीवों को गुरुओं की आज्ञा मात्र से श्रद्धा हो जाती है।

(४) **सूत्ररुचि**—आचाराङ्गादि अङ्गप्रविष्ट तथा औपपातिक आदि अङ्गवाह्य सूत्रों के अध्ययन से तत्त्वरुचि होना सूत्ररुचि है।

(५) **वीजरुचि**—जिस प्रकार एक वीज से अनेक वीज उत्पन्न होते हैं और जल में डाली हुई तेल की बूंद फैल जाती है, उसी तरह क्षयोपशम के वल से एक पद, हेतु या दृष्टान्त द्वारा वहुत पद हेतु एवं दृष्टान्तों को समझ लेना और उन पर श्रद्धा करना वीजरुचि है।

(६) **अभिगमरुचि**—ग्यारह अङ्ग, दृष्टिवाद तथा अन्य सूत्र-ग्रन्थों को अर्थ-युक्त पढ़ने से श्रद्धा होना अभिगमरुचि है।

(७) **विस्ताररुचि**—द्रव्यों के सभी भावों को प्रमाणों तथा नयों द्वारा जानने के वाद जो श्रद्धा होती है, वह विस्ताररुचि है।

(८) **क्रियारुचि**—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, विनय, वेयावच्च, सत्य, समिति, गुप्ति आदि रूप क्रिया करते हुए श्रद्धा होना या इन क्रियाओं में श्रद्धा होना क्रियारुचि है।

(९) **संक्षेपरुचि**—जो जिनवाणी को विस्तार से नहीं जानता और मन्दवुद्धि होने से विशेष समझ नहीं सकता, किन्तु जिसने मिथ्यात्व को

---

१. उत्तरा. २८ गाथा १६ से २७, स्था. १०।७५१ तथा प्रज्ञापना. १।३७

भी ग्रहण नहीं किया एवं केवल इतना ही जानता है कि **जो जिनेश्वर-भगवान के वचन हैं वे सर्वथा सत्य हैं** इस तरह माननेवाले की श्रद्धा संक्षेपरुचि है।

(१०) **धर्मरुचि**—सर्वज्ञभाषित धर्मास्तिकायादि द्रव्य और श्रुत-चारित्रधर्म की प्रतीति होना, धर्मरुचि है।

प्रश्न ७—कारक आदि सम्यक्त्व समझाइए !

उत्तर—कारकादि सम्यक्त्वों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **कारकसम्यक्त्व**—जिस सम्यत्व के होने पर जीव सदनुष्ठान में श्रद्धा करता है, स्वयं सदनुष्ठान का आचरण करता है एवं दूसरों से करवाता है वह कारकसम्यक्त्व है। कारकसम्यक्त्व विशुद्धचारित्रवान व्यक्ति में होता है।

(२) **रोचकसम्यक्त्व**—जिसके होने पर जीव सदनुष्ठान में केवल रुचि रखता है लेकिन उसका आचरण नहीं कर सकता, वह रोचकसम्यक्त्व है। यह श्रीकृष्ण या महाराज श्रेणिक जैसे अव्रतीसम्यग्दृष्टि जीवों में होता है।

(३) **दीपकसम्यक्त्व**—जिस प्रकार दीपक स्वयं अंधेरे में रहकर भी दूसरों को प्रकाश देता है, उसी प्रकार जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ले किन्तु उपदेशदाता स्वयं उससे वंचित रहे—ऐसे जीव यद्यपि अन्तरंग में मिथ्यादृष्टि अथवा अभव्य होते हैं, किन्तु वाहर से जिन-वाणी के अनुसार यथार्थ-उपदेश देकर दूसरे को सम्यक्त्वी वना देते हैं। उनके परिणाम दूसरों में सम्यक्त्व प्राप्ति के कारणभूत होने से कारण को उपचार से कार्य मानकर आचार्यों ने उनके परिणामों को **दीपकसम्यक्त्व** की संज्ञा दी है। लेकिन इसका स्वामी वास्तव में मिथ्यात्वी ही है।[1]

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २६७५, पृ० १०६४; द्रव्यलोकप्रकाश, तीसरा सर्ग, गाथा ६६८ से ६७०; धर्मसंग्रहअधिकार २, श्लोक २२, टीका पृ० ३६ तथा श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा ४९-५०

(४) **द्रव्यसम्यक्त्व**—विशुद्ध किए हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों को द्रव्य-सम्यक्त्व कहते हैं।

(५) **भावसम्यक्त्व**—जैसे चश्मे द्वारा आंखें पदार्थों को स्पष्टरूप से देख लेती हैं, उसी तरह विशुद्ध किए हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों का निमित्त पाकर आत्मा को केवलिप्ररूपिततत्त्वों में जो श्रद्धा होती है, वह भाव-सम्यक्त्व है।[1]

(६) **निश्चयसम्यक्त्व**—जिसके कारण आत्मा का ज्ञानगुण निर्मल हो, जीव अपनी आत्मा को ही देव-गुरु-धर्म रूप माने, अनन्त गुणों का भण्डार समझे और आत्मा को ही सामायिक-संवर आदि रूप स्वीकार करे वह निश्चयसम्यक्त्व है।

(७) **व्यवहारसम्यक्त्व**—अरिहन्त भगवान मेरे देव हैं, जीवनभर के लिए शुद्धसाधु मेरे गुरु हैं और सर्वज्ञप्ररूपित तत्त्व मेरा धर्म है—इस प्रकार संकल्प करके श्रुत-चारित्र रूप धर्म की तथा जीव-अजीव आदि नवतत्त्वरूप जिन-प्रवचन की यथार्थ श्रद्धा करना व्यवहारसम्यक्त्व है।[2]

व्यवहारसम्यक्त्व के ६७ अंग—बोल बतलाए हैं, जो अवश्य ध्यान देने योग्य हैं।

प्रश्न ८—६७ बोल कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—५ लक्षण, ३ लिंग, ३ शुद्धि, ५ दूषण, ५ भूषण, ८ प्रभावना, ४ श्रद्धान, ६ स्थान, ६ भावना, १० प्रकार का विनय, ६ यतना, ६ आगार। विवेचन इस प्रकार है—

(१-५) सम्यक्त्व के पांच लक्षण[3]—

१. **शम**—अनन्तानुबन्धिकषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) का उपशम अथवा क्षय होना शम है—यह सम्यक्त्व का पहला लक्षण है। चाहे कितनी ही बाह्यक्रियाएं की जाएं लेकिन जब तक अनन्तानुबन्धिकषाय का नाश

१. प्रवचनसारोद्धार द्वार १४६ गाथा ९४२ टीका

२. कर्मग्रंथ, भाग १, गाथा १५ तथा आवश्यक।

३. धर्मसंग्रह अधिकार २, श्लोक २२, पृ. ४३ तथा योगशास्त्र. २।१५

नहीं होता, तब तक सम्यक्त्व नहीं आ सकता। आने के वाद भी यदि इस कपाय का उदय हो तो सम्यक्त्व वापस चला जाता है। चाहे कितनी ही अनवन एवं लड़ाई-झगड़े हो जाएं, संवत्सरीमहापर्व के अवसर पर तो सव जीवों से खमतखामना कर ही लेना चाहिए। यदि उस समय निःशल्य होकर क्षमायाचना न की जाए तो आत्मा सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाती है क्योंकि एक साल के वाद रहनेवाले क्रोधादि अनन्तानुवन्धिकषाय कहलाते हैं।

यहां एक वात विशेष ध्यान देने की है कि जिनके साथ अनवन हो, उनसे मिलकर विशेपरूप से क्षमा मांगनी चाहिए अथवा अपराधी क्षमा मांगे तो उसे प्रसन्न होकर क्षमा देनी चाहिए। **महाराज उदायन** एवं **अभीचिकुमार** के जीवनचरित्र पढ़कर क्षमा-याचना के महत्त्व को समझना प्रत्येक मुमुक्षु के लिए परम आवश्यक है।

२. संवेग—आत्मा में मोक्षप्राप्ति की अभिलापा—इच्छा का रहना संवेग है। यह सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण है। जैसे—पतिव्रता स्त्री का ध्यान पति में रहता है, नन्हे वच्चे का ध्यान अपनी माता में रहता है, मणिधर सांप का ध्यान अपनी मणि में रहता है, पनिहारी का ध्यान अपने घड़े में रहता है, नट का ध्यान अपनी प्राणरक्षा में रहता है और निशानेवाज़ का ध्यान अपने निशाने पर रहता है—उसी प्रकार संसार के हजार काम करते हुए भी सम्यक्त्वी का ध्यान हर वक्त मोक्ष की ओर जुड़ा रहता है।

३. निर्वेद—संसार से उदासीनता रूप वैराग्य का होना निर्वेद है। यह सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहकर राज्य एवं कुटुम्व का भरण-पोपण करता हुआ भी धाय-माता अथवा कमल की तरह निर्मोह तथा निर्लेप रहता है। इस विषय में **भरत चक्रवर्ती** का इतिहास पढ़ने योग्य है।

४. अनुकम्पा—प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों पर दया-भाव रखना अर्थात् अपनी तरफ से उन्हें किसी भी प्रकार की पीड़ा न पहुंचाना अनुकम्पा है। **अथवा** राग-द्वेष रूप रोग से पीड़ित प्राणियों को उक्त रोग से मुक्त करने

की भावना अनुकम्पा है। यह सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। सम्यग्दृष्टि को कदम-कदम पर हिंसा से डरते रहना चाहिए तथा दयालु होकर अज्ञानियों एवं पापियों को सन्मार्ग चढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

५. आस्तिक्य—जिनेन्द्र भगवान के बतलाए हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आत्मा परमात्मा, एवं परलोक आदि अतीन्द्रिय (इन्द्रियों द्वारा नहीं दीखनेवाले) पदार्थों पर पूर्ण आस्था—श्रद्धा रखना आस्तिक्य-आस्तिकता है। यह सम्यक्त्व का पांचवां लक्षण है। इसके अभाव में सम्यक्त्व नहीं रह सकता है। उपरोक्त पांच लक्षणों से सम्यग्दृष्टि जीव पहचाना भी जाता है।

इन पांचों लक्षणों को पश्चानुपूर्वी-ढंग से समझना और भी उपयुक्त होगा। जैसे—सबसे पहले सर्वज्ञभाषित जीव-अजीवादि तत्त्वों पर आस्था होती है। फिर जीवों पर अनुकम्पाभाव उत्पन्न होता है। फिर जीवहिंसा से कांपता हुआ वह संसार से विरक्त होता है। (विरक्त होना निर्वेद है) संसार से विरक्त होते ही संवेग—मोक्ष की अभिलाषा जागृत हो जाती है एवं उसके जागृत होने पर जीव कषाय से हटकर शमभाव में रमण करने लगता है।

६-८. सम्यक्त्व के तीन लिंग[1]—

(१) **श्रुतधर्म-अनुराग**—जैसे—तरुण-व्यक्ति रंग-राग में अनुरक्त होता है, श्रुतधर्म अर्थात् शास्त्रश्रवण-स्वाध्याय-धर्मचर्चा आदि कार्यों में उससे भी अधिक अनुरक्त होना श्रुतधर्मअनुराग है।

(२) **चारित्रधर्म अनुराग**—जिस प्रकार तीन दिन का भूखा व्यक्ति खीर आदि का भोजन अत्यधिक रुचि से करता है, उसी प्रकार अणुव्रत-महाव्रत रूप चारित्र-धर्म के पालन में विशेष रुचि रखना चारित्रधर्मअनुराग है।

(३) **देव-गुरुवैयावृत्यनियम**—देव-गुरु में पूज्य भाव रखना एवं उनका आदर-सत्कार रूप वैयावच्च करने का दृढ़ संकल्प करना देव-गुरु

---

१. प्रवचनसारोद्धार-द्वार १५८, गाथा ९२९

वैयावृत्यनियम है।

(९-११) **तीन शुद्धियां**—सम्यक्त्व की तीन शुद्धियां हैं[1]—मनः-शुद्धि, वचनशुद्धि, और कायशुद्धि।

जिनेश्वरदेव, उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म और उनकी आज्ञानुसार चारित्र पालनेवाले शुद्ध साधु—इन तीनों को विश्व में सारभूत मानना **मनःशुद्धि** है, इनके गुणग्राम करना **वचनशुद्धि** है और काया से इन्हें नमस्कार करना **कायशुद्धि** है। उक्त कार्य करने से सम्यक्त्व निर्मल होती है।

(१२-१६) **सम्यक्त्व के पांच दूषण[2]-अतिचार**—

(१) **शङ्का**—अरिहन्त भगवान के बताए हुए जीव-अजीव आदि तत्त्वों में सन्देह करना शङ्का है। जैसे—पानी की एक बूंद में असंख्यजीव एवं निगोद के एक सूक्ष्म-शरीर में अनन्तजीव कैसे समा सकते हैं, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अरूपी-निराकार है फिर भी जीव-पुद्गल की गति में सहायक कैसे हो सकते हैं तथा बनाए बिना जगत् कैसे बन सकता है, आदि-आदि विचार करना।

(२) **काङ्क्षा**—बाह्य आडम्बर देखकर अन्य दर्शनों-मतों की अभिलाषा करना काङ्क्षा है।

(३) **विचिकित्सा**—युक्ति तथा आगमसंगत धर्म-क्रिया के फलों में सन्देह करना विचिकित्सा है। जैसे—नीरस-तप आदि क्रिया का भविष्य में फल मिलेगा या नहीं? (शङ्का तत्त्वों के विषय में होती है और विचिकित्सा क्रियाफल के विषय में होती है। यही दोनों में अन्तर है)।

(४) **परपाखण्डप्रशंसा**—अन्यमतावलम्बियों की प्रशंसा करना परपाखण्डप्रशंसा है। जिम्मेदार श्रावक के मुंह से प्रशंसा सुनकर अनेक भोले-भाले अन्यमत की तरफ आकृष्ट हो जाते हैं।

---

१. प्रवचनसारोद्धार. द्वार १५८ गाथा, ९३२

२. उपासकदशा, अ० १

(५) परपाखण्डसंस्तव—अन्यमतियों के साथ विशेष परिचय-संवास एवं आलाप-संलाप करना परपाखण्डसंस्तव है। (नन्द मणिकार इसी अतिचार का सेवन करके समकित से भ्रष्ट हुआ था[1])

(१७-२१) सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं[2]—

(१) स्थिरता—धर्म से गिरते हुए व्यक्तियों को उपदेशादि द्वारा स्थिर करना।

(२) प्रभावना—जैनशासन की प्रभावना हो—शोभा बढ़े, ऐसे कार्य करना।

(३) भक्ति—अरिहन्त, साधु-साध्वियों एवं गुणीजनों की निरवद्य-भक्ति-सेवा करना।

(४) कुशलता—अज्ञानियों को धर्म समझाने में विचक्षण होना।

(५) तीर्थसेवा—चार तीर्थों की निरवद्य सेवा करना। इन पांचों कार्यों से सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है।

(२२-२६) आठ प्रभावना—जैनशासन की प्रभावना आठ प्रकार से की जाती है एवं प्रभावना करनेवाले शासनप्रभावक या धर्मप्रभावक कहलाते हैं। उनके आठ प्रकार हैं[3]—

(१) प्रावचनी—ये अङ्ग-उपाङ्गादि जैनआगमों के विशेषज्ञान के द्वारा शासन की प्रभावना करते हैं।

(२) धर्मकथी—ये चार प्रकार की धर्मकथा के द्वारा शासन की प्रभावना करते हैं।

(३) वादी—ये सभाओं में चर्चा करके जैनशासन की विजयध्वजा फहराते हैं।

(४) नैमित्तिक—ये निमित्त द्वारा भूत-भविष्यत-वर्तमान को जानकर

---

१. ज्ञाता. अ. १३

२. योगशास्त्र २।१६

३. प्रवचनसारोद्धार-द्वार १४८, गाथा ९३४

आनेवाली आपत्तियों से शासन को बचाकर उसकी रक्षा करते हैं।

(५) **तपस्वी**—ये उग्रतपस्या करके शासन की शोभा बढ़ाते हैं।

(६) **विद्यावान**—ये प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याओं से युक्त होते हैं।

(७) **सिद्ध**—ये अञ्जन-पादलेप आदि सिद्धियों के जानकार होते हैं। (विद्याओं एवं सिद्धिओं का सावद्यप्रयोग करने की आगम में मनाही है।)

(८) **कवि**—ये गद्य, पद्य, कथ्य (कथामय) और गेय (गीतरूप) इन चार प्रकार के काव्यों की रचना द्वारा शासन की प्रभावना करते हैं।

सभी सम्यग्दृष्टियों का कर्तव्य है कि जिनसे जिस रूप में बन सके निरवद्यप्रयत्नों द्वारा जैनशासन की प्रभावना करें।

(३०-३३) **सम्यक्त्व के चार श्रद्धान**—सम्यक्त्व के श्रद्धान अर्थात् आराधना के चार मार्ग हैं[1]—

(१) **परमार्थसंस्तव**—परमार्थ का अर्थ है मोक्ष। हां तो! मोक्ष के कारणभूत देव-गुरु-धर्म एवं निर्ग्रन्थप्रवचन-सर्वज्ञवाणी का अन्तर्मन से, समादर करना—गुणकीर्तन करना परमार्थसंस्तव है।

(२) **सुदृष्टपरमार्थसेवन**—जो सम्यग्दृष्टि परमार्थमोक्ष की आराधना करनेवाले हैं—उन आचार्य-उपाध्याय एवं साधु-साध्वियों की सेवा करना।

(३) **व्यापन्नदर्शनवर्जन**—जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो चुके—ऐसे निह्नवों—जैनशासन के निन्दकों की संगति का त्याग करना।

(४) **कुदर्शनवर्जन**—नास्तिकादि-कुदर्शनियों की संगति का त्याग करना।

इन चार श्रद्धानों में पहले दो तो सम्यक्त्व को सुदृढ़ बनानेवाले हैं और शेष दो सम्यक्त्व की रक्षा करनेवाले हैं।

सम्यक्त्व की रक्षा के लिए आठ बातें और भी बतलाई हैं जो **सम्यक्त्व**

---

१. उत्तरा २८।२८

के आठ आचार कहलाती हैं[1]—

(१) **निःशङ्कित**—सर्वज्ञ भगवान के प्ररूपित तत्त्वों में निःसन्देह रहना एवं सोचना कि **तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।** अथवा शङ्का, भय और शोक से रहित होकर विचरना।

(२) **निःकाङ्क्षित**—निर्ग्रन्थप्रवचन में विशेष दृढ़ रहना एवं परदर्शन की विशेष-ऋद्धि देखकर उसकी आकाङ्क्षा—अभिलाषा न करना एवं चिन्तन करते रहना कि **अयमाउसो निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे** अर्थात् यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ एवं परमार्थ है, शेष सभी अनर्थ हैं।

(३) **निर्विचिकित्सा**—संयम तप रूप धर्म के फल की प्राप्ति के विषय में शङ्काशील न होना एवं निश्चित रूप से मानना कि करनी का फल अवश्य मिलेगा, वर्तमान में जो दुःख प्राप्त हो रहा है, वह पूर्वसञ्चित निकाचित कर्मों का उदय है।

(४) **अमूढ़दृष्टि**—अनेक मत-मतान्तरों के विवादास्पद विचारों को सुनकर अपनी श्रद्धा को डाँवाडोल न करना अथवा संसार और कर्मों का वास्तविक स्वरूप समझकर अपनी आत्मा का हित हो, उसी मार्ग पर चलना **अथवा** स्त्री-पुत्र-धन आदि में आसक्त न होना।

(५) **उपबृंहण**—गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करना, उनके गुणों में वृद्धि करना तथा उनके गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

(६) **स्थिरीकरण**—धर्म से डिगते हुए व्यक्ति को धर्म में स्थिर करना एवं स्वयं भी धर्म में स्थिर होना।

(७) **वात्सल्य**—स्वधार्मिकबन्धुओं के प्रति वात्सल्य (हित की भावना) रखना एवं उन्हें धार्मिक सहायता देना (सांसारिक सहायता देना सांसारिकव्यवहार है)।

(८) **प्रभावना**—सर्वज्ञभाषितधर्म की प्रचार आदि द्वारा प्रभावना करना—शोभा बढ़ाना। प्रभावना के आठ भेद पीछे बताए जा चुके हैं।

---

१ उत्तरा. २८।३१

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की आराधना करने से जीव क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व से बढ़कर क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है एवं बढ़ते—बढ़ते केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है।[1]

(३४-३९) **सम्यक्त्व के छः स्थान**[2]—सम्यक्त्व वहीं रह सकती है, जहां इन छः बातों में दृढ़श्रद्धा है, जैसे—

(१) चेतनालक्षण-जीव का अस्तित्व है।

(२) जीव शाश्वत-नित्य है अर्थात् उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है।

(३) जीव कर्मों का कर्त्ता है।

(४) अपने किए हुए कर्मों का जीव स्वयं भोक्ता है।

(५) राग-द्वेष-मद-मोह-जरा एवं रोग-शोकादि का सर्वथा क्षय होना मोक्ष है।

(६) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं।

(४०-४५) **सम्यक्त्व की छः भावनाएं**[3]—सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए सम्यग्दृष्टि जीव को निम्नलिखित छः भावनाएं भानी चाहिए। यथा—(१) यह मेरा सम्यक्त्व धर्मरूपी वृक्ष का मूल है। (२) धर्मरूपी नगर का द्वार है। (३) धर्मरूपी महल की नींव है। (४) धर्मरूपी जगत् का आधार है। (५) धर्मरूपी रसायन को धारण करनेवाला सर्वोत्तम पात्र है। (६) चारित्र रूपी रत्न की निधि (कोष) है।

(४६-५५) **दस प्रकार का विनय**—(१) अरिहन्त, (२) अरिहन्त-प्ररूपित धर्म, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) स्थविर, (६) कुल,

---

१. उत्तरा. २९।६०

२. धर्मसंग्रह. अधिकार २. श्लोक २२. टीका पृ० ४६. तथा प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८. गाथा ९४१

३. प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८. गाथा ९४० तथा धर्मसंग्रह. अधिकार २. श्लोक २२. टीका पृ० ४६

(७) गण, (८) संघ, (९) चारित्र, (१०) सार्धमिक—इन दसों का विधिपूर्वक विनय करना। अरिहन्तादि के विनय से सम्यक्त्व सुदृढ़ होता है (विनय का वर्णन पुञ्ज १० प्रश्न (१६-१९) में पढ़िए)

(५६-६१) यतना के ६ प्रकार—

(१) सम्यग्दृष्टि—महात्माओं को वन्दना करना। (२) नमस्कार करना। (३)उनसे आलाप—प्रेमपूर्वक वातचीत करना। (४) संलाप वार-वार मिष्ट वचन से धर्म-चर्चा करना—कुशल-क्षेम पूछना। (५) उन्हें आहरादिआवश्यक वस्तु देना। (६) उनका सम्मान करना।

(६२-६७) सम्यक्त्व के छः आगार[1]—व्रत अङ्गीकार करते समय पहले से रखी हुई छूट को आगार कहते हैं। सम्यक्त्वधारी को यद्यपि अन्यतिर्थिकों, अन्यतीर्थिकों के माने हुए मिथ्यादृष्टि देवों तथा अन्यतीर्थिकों द्वारा ग्रहण किए हुए श्रद्धाभ्रष्ट साधुओं को वन्दना-नमस्कार करना, उनसे आलाप-संलाप करना तथा उन्हें आहारादि देना इत्यादि कार्य करने नहीं कल्पते। लेकिन कमजोरी के कारण छः आगार रखते हैं। जैसे—(१) राजा के दवाव से, (२) संघ के दवाव से, (३) वलवान के भय से, (४) देवता के भय से, (५) माता-पिता आदि गुरुजनों के दवाव से, (६) अटवी आदि क्षेत्र तथा काल की प्रतिकूलतावश जीवन का निर्वाह न होने से। इन छः कारणों से न चाहते हुए भी उन्हें अन्यतीर्थिक आदि को वन्दना-नमस्कार आदि कार्य कभी-कभी करने पड़ जाते हैं अतः आनन्दादि श्रावकों की तरह कई सम्यग्दृष्टि श्रावक उपरोक्त छः आगार रखते हैं एवं इसे अपनी कमज़ोरी मानते हैं (सम्यक्त्व सम्वन्धी ६७ वोलों का विवेचन हुआ)।

प्रश्न १०—कृष्णपाक्षिक-शुक्लपाक्षिक आदि क्या हैं ?

उत्तर—जिन जीवों में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता हो, वे भव-सिद्धिक (भव्य) कहलाते हैं एवं जिनमें यह योग्यता न हो वे अभवसिद्धिक

---

1. उपाशक दशा. अ. 1 सूत्र ८

(अभव्य) कहलाते हैं[1]। योग्यता का होना या न होना स्वाभाविक है—इसे अनादि पारिणामिकभाव कहा है[2]। अभव्यजीव कभी मोक्ष नहीं जाते। केवल भव्यजीव ही मोक्ष जाते हैं फिर भी संसार भव्यजीवों से शून्य नहीं होता, क्योंकि अनन्त भव्य जीव अभव्यों के साथी हैं, जो भव्यत्व होने पर भी कभी मोक्ष नहीं जा सकते। यदि सभी भव्य मोक्ष चले जाएं तो संसार में केवल अभव्य ही रह जाएं। लेकिन ऐसा न तो कभी हुआ और न होगा कि जिस दिन संसार में भव्यजीव न रहें[3]। भव्य जीवों में जो मोक्ष जानेवाले हैं, वे भी अनन्तकाल से मिथ्यात्वमोह के कारण कृष्णपाक्षिक (कालीअन्धकारमयी दशावाले) होकर संसार में भटक रहे हैं। भटकते-भटकते जब उनके मोक्ष जाने में देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तन काल बाकी रहता है, तब वे शुक्ल पाक्षिक कहलाने लगते हैं[4]। शुक्लपाक्षिक होने के साथ कई जीव तो सम्यग्-दृष्टि बन जाते हैं और कई मिथ्यादृष्टि—अवस्था में ही रहते हैं। सम्यग् दृष्टि बनने वाले को सम्यक्त्व खोकर पुनः मिथ्यादृष्टि होना ही पड़ता है क्योंकि उन्हें देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तन तक संसार में रहना होता है और इतने समय तक सम्यक्त्व रह नहीं सकता। सम्यक्त्व की स्थिति उत्कृष्ट ६६ सागर से कुछ अधिक है एवं उसका अन्तर देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तन है।

प्रश्न ११—सम्यक्त्व-प्राप्ति का विशेष क्या महत्त्व है ?

उत्तर—एक बार सम्यक्त्व आ जाने के बाद जीव परित्तसंसारी हो जाता है अर्थात् उसका संसार परिभ्रमण परिमित रह जाता है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में एवं उत्कृष्ट देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तनकाल के अन्दर निश्चित रूप से मोक्ष जाता है। यद्यपि अर्धपुद्गलपरावर्तन में अनन्तकालचक्र व्यतीत हो जाते हैं, फिर भी अनन्तपुद्गलपरावर्तन की अपेक्षा से यह काल कुछ

---

१. स्था. २।२।७६

२. अनुयोगद्वार सूत्र १२६

३. भगवती १२।२।४४३

४. स्था. २।२।७६ तथा भगवती १३।१।४७०

भी नहीं—शून्य के बराबर है।

सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद जीव समुद्र में तैरते हुए जहाज के समान संसारसमुद्र में नहीं डूबता, वह काली-कोठरी में न होकर कांच की कोठरी में है, जिससे स्व-पर को देख सकता है। वह नटों की तरह जय-पराजय में सुख-दुःख नहीं मानता, वह संसार को जेल मानता है न कि राजमहल, तथा वह खुद को घर का मैनेजर मानता है, न कि मालिक तथा वह वस्तु को यथावस्थित रूप में देखता है, रोगी-नेत्रवत् विकृत रूप में नहीं। सम्यक्त्व की विद्यमानता में जीव नरक-तिर्यञ्च की आयु नहीं बांधता[1] केवल देव एवं मनुष्य की आयु बांधता है। यदि वह मनुष्य या तिर्यञ्च हो तो सिर्फ वैमानिक देवता की आयु बांधता है और यदि वह नारक या देवता हो तो मनुष्य की आयु बांधता है क्योंकि नारकी-देवता मरकर नरक या देवगति में नहीं जा सकते।

इसके सिवा आगम में कहा है कि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र के गुण नहीं आते, चारित्र-गुणों के बिना मोक्ष नहीं मिलता और मोक्ष मिले बिना निर्वाण—जन्म-मरण की आग का बुझना नहीं होता[2]। अतः सम्यक्त्व को प्राप्त करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए एवं अपने आपको ये बारह प्रश्न पूछते रहना चाहिए। यथा—मैं भव्य हूं या अभव्य? सम्यग्दृष्टि हूं या मिथ्यादृष्टि? परित्तसंसारी हूं या अनन्तसंसारी? सुलभबोधि हूं या दुर्लभबोधि? चरम हूं या अचरम? अराधक हूं या विराधक?

प्रश्न १२—दुर्लभबोधि-सुलभबोधि एवं चरम-अचरम का क्या अर्थ है?

उत्तर—जिन जीवों को परभव में सम्यक्त्व रूप धर्म की प्राप्ति दुर्लभता से होती है, वे दुर्लभबोधि कहलाते हैं एवं जिन्हें सुलभता से हो

---

१. भगवती. ३०।१

२. उत्तरा. २८।३०

जाती है, वे सुलभबोधि कहलाते हैं—(१) अरिहन्त, (२) अरिहन्त-भाषित धर्म, (३) आचार्य-उपाध्याय, (४) चतुर्विधसंघ (५) देवता—इन पांचों का अवर्णवाद बोलने से जीव दुर्लभबोधि बनता है एवं इनके गुण-ग्राम करने से सुलभबोधि बनता है।[1]

चरम-अचरम—जीव को जिस भाव की प्राप्ति दुबारा नहीं होगी, उस भाव की अपेक्षा से वह जीव **चरम** है तथा जिस भाव की प्राप्ति दुबारा होगी, उस भाव की अपेक्षा से वह जीव **अचरम** है। जैसे—मोक्ष में जाने-वाले भव्यजीव संसार की अपेक्षा से चरम है क्योंकि मोक्ष जाने के बाद वे संसार में कभी नहीं आएंगे अर्थात् उनके संसार का अन्त हो जाएगा। इसी प्रकार अभव्यजीव संसार की अपेक्षा से अचरम हैं अर्थात् वे संसार में जन्म-मरण करते ही रहेंगे, उनके संसार का अन्त कभी नहीं होगा।

प्रश्न १३—पांच संवरों में प्रथम सम्यक्त्वसंवर के प्रसङ्ग में सम्यक्त्व का विस्तृत वर्णन तो समझ में आ गया, अब विरतादि संवरों का तत्त्व समझाइए!

उत्तर—नीचे पढ़िए[2]—

(२) **विरतिसंवर**—यह अविरतिआस्रव का प्रतिपक्षी है। इसके दो भेद हैं—

अठारह पापों का तीनकरण तीनयोग से त्याग करना **सर्वविरति-संवर** है तथा यथासम्भवित इच्छानुसार करण-योग डालकर त्याग करना **देशविरति संवर** है। साधु के पुलाकादि-निर्ग्रन्थ स्थान और सामायिकादि पांचों चारित्र सर्वविरतिसंवर हैं और श्रावक के बारह व्रत देशविरतिसंवर हैं।[3]

---

१. स्था. ५।२।४२६

२. नवपदार्थ—संवरपदार्थ, ढाल १

३. पांचनिर्ग्रन्थ एवं पांच चारित्र का विस्तृत वर्णन चारित्रप्रकाश पुञ्ज ७ में तथा श्रावक के बारह व्रतों का विवेचनश्रावकधर्म प्रकाश में किया गया है।

(३) **अप्रमादसंवर**—प्रमाद का अर्थ अनुत्साह है। आत्मस्थित—अनुत्साह का सर्वथा नष्ट होना अप्रमादसंवर है अर्थात् जिन पाप कर्मों के उदय से जीव प्रमादी होता है, उनका क्षय, क्षयोपशम या उपशम होना अप्रमादसंवर है।

(४) **अकषायसंवर**—आत्मप्रदेशों का क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय से मलिन रहना कषाय का क्षय या उपशम होना अकषायसंवर है—यह कषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म के आत्मा से अलग होने पर होता है।

(५) **अयोगसंवर**—योग दो तरह के हैं—सावद्य और निरवद्य। दोनों का सर्वथा निरोध करना अयोगसंवर है। केवल सावद्य योगों का निरोध करना अयोगसंवर नहीं, विरतिसंवर है। कई अयोगसंवर के स्थान में शुभयोगसंवर कहते हैं एवं सामायिकादि चारित्रों का भी इसी में समावेश करते हैं लेकिन उनकी यह मान्यता उचित नहीं लगती क्योंकि शुभयोग तो जीव के निरवद्यव्यापार रूप हैं एवं आत्मप्रदेशों की चंचलता है। संवर तथा चारित्र चारित्र-मोहनीयकर्म का उपशम-क्षय-क्षयोपशमनिष्पन्न है और आत्मप्रदेशों की स्थिरता है अतः शुभ-योग संवर-चारित्र न होकर आस्रव ही है[१]।

(६) **प्राणातिपातविरमणसंवर**—जीवहिंसा का त्याग करना।

(७) **मृषावादविरमणसंवर**—झूठ बोलने का त्याग करना।

(८) **अदत्तादानविरमणसंवर**—बिना दी हुई वस्तु लेने (चोरी) का त्याग करना।

(९) **मैथुनविरमणसंवर**—अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग करना।

(१०) **परिग्रहविरमणसंवर**—धन-धान्यादि परिग्रह एवं ममत्व-भाव का त्याग करना।

(११) **श्रोत्रेन्द्रियसंवर**—प्रत्याख्यान द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय को वश

---

१. टीकमडोसी की चर्चा के आधार से।

करना, अच्छे या बुरे शब्दों पर आते हुए राग-द्वेष को रोकना।

(१२) चक्षुरिन्द्रियसंवर—प्रत्याख्यान द्वारा चक्षुरिन्द्रिय को वश करना, अच्छे या बुरे रूपों पर आते हुए राग-द्वेष को रोकना।

(१३) घ्राणेन्द्रियसंवर—प्रत्याख्यान द्वारा घ्राणेन्द्रिय को वश करना, अच्छे या बुरे गन्धों पर आते हुए राग-द्वेष को रोकना।

(१४) रसनेन्द्रियसंवर—प्रत्याख्यान द्वारा रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को वश करना, अच्छे या बुरे स्पर्शों पर राग-द्वेष न करना।

(१५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर—प्रत्याख्यानपूर्वक स्पर्शनेन्द्रिय को वश करना, अच्छे या बुरे रसों पर राग-द्वेष न करना।

(१६) मनःसंवर—अच्छे या बुरे विचारों का निरोध करना।

(१७) वचनसंवर—शुभाशुभ दोनों प्रकार के वचनों का संपूर्ण निरोध करना।

(१८) कायसंवर—काया के शुभाशुभ व्यापारों का निरोध करना।

(१९) उपकरणसंवर—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों से अयतना (हिंसा) करने का त्याग करना।

(२०) सूचिकुशाग्रसंवर—सूई-तृणाग्र आदि के सेवन जितनी भी प्रवृत्तिरूप आस्रव का त्याग करना[1]।

---

१. स्थानाङ्ग १०।७०९ के आधार से १९-२० इन दो स्वरों का विवेचन इस प्रकार भी किया जा सकता है।

उपकरणसंवर—अकल्पनीय वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को नहीं लेना, लिए हुए कल्पनीय उपकरणों को समेटकर रखना, विशेष साधना की अवस्था में उनका परित्याग करना अथवा उन पर आते हुए ममत्व-मूर्च्छा का निरोध करना।

(उपकरण शब्द से यहां औधिक-उपकरणों का ग्रहण करना चाहिए)

सूचिकुशाग्रसंवर—अकल्पनीय सूई-तृणाग्र आदि न लेना, कल्पनीय उक्त वस्तुओं को अस्त-व्यस्त न रखना, विशेषसाधना में उनका त्याग करना अथवा उन पर आते हुए ममत्व का निरोध करना।

(यहां सूचिकुशाग्र शब्द से समस्त औपग्रहिक-उपकरणों का ग्रहण करना चाहिए। औधिक एवं औपग्रहिक उपकरणों का अर्थ पीछे पृष्ठ १६८ पर आ गया है।)

आस्रव की तरह संवर के भी मूल भेद सम्यक्त्वसंवर आदि पांच ही हैं। जैसे—प्रवृत्तिरूप होने से शेष पन्द्रह आस्रवों का योगआस्रव में समावेश किया गया है, उसी प्रकार निवृत्ति रूप होने से पन्द्रह संवरों का समावेश विरतिसंवर में किया गया है क्योंकि त्याग मात्र विरतिसंवर है एवं निवृत्तिपरक है।

कई लोग संवर को दो प्रकार का मानते हैं—निवर्तक और प्रवर्तक[1]। उनका कहना है कि अप्रमाद में, अकषाय में तथा दया-सत्य आदि शुभयोगों में जो जीव की प्रवृत्ति होती है, वह प्रवर्तक अर्थात् प्रवृत्तिमय संवर है। इसी के आधार पर वे शुभयोगों को संवर कहते हैं।

यहां आचार्य भिक्षु का कथन है कि संवरनिवर्तक-निवृत्तिरूप ही होता है। उसका स्वभाव आते कर्मों को रोकना है। अप्रमाद, अकषाय अथवा शुभ योगों से सम्बन्धित जीव की जितनी भी प्रवृत्तियां होती हैं वे सब शुभयोग रूप निर्जरा हैं। निर्जरा का काम कर्मों को तोड़ना है।

प्रश्न १४—पांचों संवर प्रत्याख्यानपूर्वक होते हैं या कई एक?

उत्तर—सम्यक्त्वसंवर और विरतिसंवर—ये दो तो प्रत्याख्यानपूर्वक होते हैं (इनमें त्याग करना आवश्यक है), शेष अप्रमाद-अकषाय एवं अयोगसंवर कर्मों के उपशम एवं क्षय से उत्पन्न होते हैं—इनमें त्याग करने की जरूरत नहीं है। इस विषय को जरा विस्तार से समझिए।

अनन्तानुबन्धिकषाय का क्षय एवं जिन-वाणी पर यथार्थ श्रद्धा होने से यद्यपि सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है लेकिन सम्यक्त्वसंवर नहीं हो सकता। वह विपरीतश्रद्धान रूप मिथ्यात्व का त्याग करने से ही होता है। यही तो कारण है कि दूसरे एवं चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने पर भी मिथ्यात्व का त्याग न होने से सम्यक्त्वसंवर का ग्रहण नहीं होता[2]।

---

१. टीकमडोसी की चर्चा के आधार से

२. झीणीचर्चा ढाल ६. गाथा २४

इसी प्रकार अविरतिसंवर भी प्राणातिपात आदि पापों का सर्वथा त्याग करने से ही होता है। भगवान ने कहा है कि जिसने हिंसा आदि पापों का त्याग नहीं किया, वह चाहे मन-वचन-काया से विलकुल पाप न करे, यहां तक कि पाप का स्वप्न भी न देखे, फिर भी उसको अत्याग-भाव रूप अविरति का पाप प्रति समय लगता रहता है। पांचवें गुणस्थान में एक सम्यक्त्वसंवर होता है लेकिन पापों का सर्वथा त्याग न होने से विरतिसंवर नहीं हो सकता। आंशिक त्याग की अपेक्षा से देशविरतिसंवर कहा जा सकता है। इसी तरह देशचारित्र एवं देशचारित्रआत्मा भी कहने में कोई दोष नहीं होता[1]।

अप्रमाद, अकपाय और अयोग—ये तीनों संवर तत्-तत्सम्वन्धी कर्मों के क्षय एवं उपशम से ही होते हैं, क्योंकि छट्ठे गुणस्थान में क्रिया-रूप त्याग तो पूर्णरूप से हो जाता है फिर भी प्रमाद, कपाय एवं योगआस्रव विद्यमान रहते हैं। प्रमाद का निरोध सातवें में, कषाय का निरोध ग्यारहवें में और योग का निरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है अतः अप्रमादसंवर सातवें से, और अकषायसंवर ग्यारहवें से शुरू होता है तथा अयोगसंवर चौदहवें गुणस्थान में होता है।

प्रश्न १५—सम्यक्त्व के वर्णन में जो अर्धपुद्गल-परावर्तन कहा है, उसका क्या रहस्य है?

उत्तर—आहारकशरीर को छोड़कर औदारिकादि प्रकार से रूपी-द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्तलोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गलपरावर्तन कहलाता है[2]। एक पुद्गलपरावर्तन व्यतीत होने में अनन्तकालचक्र लग जाते हैं। (अद्धा पल्योपम[3] की अपेक्षा से २० कोटा-कोटिसागरोपम का एक कालचक्र होता है) इसके आठ

---

१. झीणीचर्चा ढाल ६ गाथा २५-२६

२. कर्मग्रन्थ भाग ५ गाथा ८६-८८

३. पल्योपम का वर्णन देखो आगे प्रश्न १६ में

भेद हैं—(१) वादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तन (२) सूक्ष्मद्रव्य-पुद्गलपरावर्तन (३) वादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन, (४) सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन (५) वादरकालपुद्गलपरावर्तन (६) सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्तन, (७) वादरभावपुद्गलपरावर्तन (८) सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्तन।

(१) **वादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तन**—औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, श्वासोच्छवास, मन और कार्मण—वर्गणा[1] के परमाणु जो सारे संसार में व्याप्त हैं, उन्हें सूक्ष्म तथा वादरपरिणमना के द्वारा एक जीव औदारिकादि प्रत्येक के रूप से अनन्त भवों में घूमता हुआ जितने काल में ग्रहण करे, फरसे तथा छोड़े, उस काल को वादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तन कहते हैं। तत्त्व यह है कि विश्व के प्रत्येक परमाणु औदारिकादि रूप सात वर्गणाओं में परिणमन करे यानी जव जीव सारे लोक में व्याप्त सभी परमाणुओं को औदारिकादि रूप से प्राप्त कर ले तव एक वादरद्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है।

(२) **सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तन**—जिस समय जीव सर्वलोकवर्ती अणु को औदारिकादि रूप में परिणमाता है, अगर उस समय वीच में वैक्रियपुद्गलों को ग्रहण कर ले तो वह समय पुद्गलपरावर्तन की गिनती में नहीं आता। इस प्रकार एक औदारिक पुद्गलपरावर्तन में ही अनन्तभव करने पड़ते हैं। वीच में दूसरे परमाणुओं की परिणति को न गिनते हुए जव जीव सारे लोक के परमाणुओं को औदारिक के रूप में परिणत कर लेता है तव औदारिक-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है। इसी तरह वैक्रिय आदि सभी वर्गणाओं के परमाणुओं को परिणमाने के वाद वैक्रिय-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तन यावत् कार्मण-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है। इस प्रकार ऐसे सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तन के सात भेद वन जाते हैं[2]।

इन सातों में कार्मण-पुद्गलपरावर्तनकाल अनन्त है। उससे अनन्त

---

१. आठ वर्गणाओं का वर्णन देखो पुञ्ज १ प्रश्न ५ में

२. स्था. ३।४।१६३ टीका तथा भगवती १२।४।४४६

गुणा तैजसपुदग्लपरावर्तनकाल है एवं औदारिकपुद्गलपरावर्तनकाल उससे भी अनन्तगुणा है। कार्मणवर्गणा का ग्रहण प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक भाव में होता है। इसलिए उसकी पूर्ति जल्दी होती है। तैजस उससे अनन्तगुणा काल में पूरा होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर जानना चाहिए।

अतीतकाल में एक जीव के अनन्त वैक्रियपुद्गलपरावर्तन हुए। उससे अनन्त गुणा भाषापुद्गलपरावर्तन। उससे अनन्तगुणा मन:पुद्गलपरावर्तन, उससे अनन्तगुणा श्वासोच्छ्वासपुद्गलपरावर्तन, उससे अनन्तगुणा औदारिकपुद्गलपरावर्तन, उससे अनन्तगुणा तैजसपुद्गलपरावर्तन तथा उससे अनन्तगुणा कार्मणपुद्गलपरावर्तन हुए।

(३) **बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन**—एक अंगुल आकाश में इतने आकाशप्रदेश हैं कि प्रति समय एक-एक आकाशप्रदेश का स्पर्श किया जाए तो असंख्य कालचक्र बीत जाएं। इस प्रकार के सूक्ष्म प्रदेशोंवाले सारे लोकाकाश को जब जीव प्रत्येक प्रदेश में जन्म-मरण पाता हुआ पूरा कर लेता है तो बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन होता है। जिस प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त कर चुका है अगर उसी प्रदेश में फिर मृत्यु प्राप्त करे तो वह इसमें नहीं गिना जाएगा। केवल वे ही प्रदेश गिने जाएंगे जिनमें पहले मृत्यु प्राप्त नहीं की। यद्यपि जीव असंख्यात प्रदेशों में रहता है, फिर भी किसी एक प्रदेश को मुख्य रखकर गिनती की जा सकती है।

(४) **सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन**—एक प्रदेश की श्रेणी के ही दूसरे प्रदेश में मरण प्राप्त करता हुआ जीव जब लोकाकाश को पूरा कर लेता है तो सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन होता है। अगर जीव एक श्रेणी को छोड़-कर दूसरी श्रेणी के किसी प्रदेश में मरण प्राप्त करता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता। चाहे वह प्रदेश बिलकुल नया ही हो। (बादर में वह गिन लिया जाता है) जिस श्रेणी के प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त की है, जब उसी श्रेणी के दूसरे प्रदेश में मृत्यु प्राप्त करे तभी वह गिना जाता है।

(५) **बादरकालपुद्गलपरावर्तन**—बीस कोटाकोटि-सागरोपम का

एक कालचक्र होता है। जव कालचक्र के प्रत्येक समय को जीव अपनी मृत्यु के द्वारा फरस लेता है तो वादरकालपुद्‌गलपरावर्तन होता है। जव एक ही समय में जीव दूसरी वार मरण प्राप्त कर लेता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता। इस प्रकार अनेक भव करता हुआ जीव कालचक्र के प्रत्येक समय को फरस लेता है। तव वादरकालपुद्‌गलपरावर्तन होता है।

(६) **सूक्ष्मकालपुद्‌गलपरावर्तन—** कालचक्र के प्रत्येक समय को जब क्रमशः मृत्यु द्वारा फरसता है तो सूक्ष्मकालपुद्‌गलपरावर्तन होता है। अगर पहले समय को फरसकर जीव तीसरे समय को फरस ले तो वह इसमें नहीं गिना जाता। जव दूसरे समय में जीव की मृत्यु होगी तभी वह गिना जाएगा। इस प्रकार क्रमशः कालचक्र के सभी समय पार कर लेने पर सूक्ष्मकालपुद्‌गलपरावर्तन होता है।

(७) **वादरभावपुद्‌गलपरावर्तन—**रसवन्ध के कारण भूत कषाय के अध्यवसायस्थानक मन्द, मन्दतर और मन्दतम के भेद से असंख्यात-लोकाकाश-प्रमाण हैं। उनमें से वहुत से अध्यवसायस्थानक सत्तर कोटा-कोटि सागरोपमवाले रसवन्ध के कारण हैं। उन सव अध्यवसायों को जव जीव मृत्यु के द्वारा फरस लेता है अर्थात् मन्द-मन्दतर आदि उनके सभी परिणामों में एक वार मृत्यु प्राप्त कर लेता है तव एक वादर-भावपुद्‌गलपरावर्तन होता है।

(८) **सूक्ष्मभावपुद्‌गलपरावर्तन—**ऊपर लिखे हुए सभी भावों (अध्यवसायों) को जीव जव जन्म-मरण द्वारा क्रमशः फरस लेता है तो सूक्ष्मभावपुद्‌गलपरावर्तन होता है अर्थात् किसी एक भाव के मन्दपरिणाम को फरसने के वाद अगर वह दूसरे भावों को फरसता है तो वह इसमें नहीं गिना जाएगा। जव उसी भाव के दूसरे परिणाम को फरसेगा तभी वह गिना जाएगा। इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक भाव के सभी परिणामों को फरसता हुआ जीव जव सभी भावों को फरस लेता है तो सूक्ष्मभावपुद्‌गल-परावर्तन होता है।

(इन आठ के सिवाय दिगम्वरों में भवपुद्‌गलपरावर्तन भी प्रचलित

है।)यहां वादरपुद्गलपरावर्तन का स्वरूप केवल सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तन को अच्छी तरह समझने के लिए दिया गया है। शास्त्रों में जहां पुद्गलपरावर्तन काल का निर्देश आता है, वहां सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तन ही लेना चाहिए। जैसे—सम्यक्त्व पाने के वाद जीव देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तन में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। यहां काल का सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तन ही लिया जाता है। (कइयों की यह भी धारणा है कि यहां क्षेत्र का सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तन लेना चाहिए।)

प्रश्न १६—पल्योपम-सागरोपम समझाइए!

उत्तर—एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए, उसे पल्योपम कहते हैं तथा दस कोटाकोटिपल्योपम का एक सागरोपम होता है।

पल्योपम-सागरोपम के तीन भेद हैं—उद्धार, अद्धा और क्षेत्र। ये तीनों दो-दो प्रकार के होते हैं—व्यवहार तथा सूक्ष्म। इस तरह इनके छः भेद वन जाते हैं[1]—

(१) व्यवहार-उद्धारपल्योपम एवं सागरोपम
(२) सूक्ष्म-उद्धारपल्योपम एवं सागरोपम
(३) व्यवहार-अद्धापल्योपम एवं सागरोपम
(४) सूक्ष्म-अद्धापल्योपम एवं सागरोपम
(५) व्यवहार-क्षेत्रपल्योपम एवं सागरोपम
(६) सूक्ष्म-क्षेत्रपल्योपम एवं सागरोपम।

(१) व्यवहार-उद्धारपल्योपम एवं सागरोपम—उत्सेधांगुल के परिमाण से एक योजन लम्वा, चौड़ा और गहरा कुआं एक-दो-तीन यावत् सात दिन वाले देवकुरु-उत्तरकुरु युगलिकों के वाल (केश) के अग्रभागों से ठूंस-ठूंसकर इस प्रकार भरा जाए कि वे वालाग्र हवा से न उड़ सकें और

---

१. अनुयोगद्वार १३८ से १४० तथा प्रवचनसारोद्धार द्वार १५८ गाथा १०१८-१०२६।

आग से न जल सकें। उनमें से प्रत्येक को एक-एक समय में निकालते हुए जितने काल में वह कुआं सर्वथा खाली हो जाए, उस काल-परिमाण को व्यवहार-उद्धारपल्योपम कहते हैं। यह पल्योपम संख्यात-समय-परिमाण होता है। इस प्रकार के दस कोटाकोटिपल्योपम का एक व्यवहारउद्धार-सागरोपम होता है।

(२) **सूक्ष्म-उद्धारपल्योपम एवं सागरोपम**—उक्त वालाग्र के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाएं, जो कि विशुद्ध लोचनवाले-छद्मस्थ पुरुष के दृष्टिगोचर होनेवाले सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य के असंख्यातवें भाग एवं सूक्ष्म-पनक-(नीलण-फूलण) शरीर से असंख्यात गुणा हो। उन सूक्ष्मवालाग्र-खंडों से वह कुआं ठूंस-ठूंसकर भरा जाए और फिर उसमें से प्रति समय एक-एक वालाग्रखण्ड निकाला जाए। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआं सर्वथा खाली हो जाए, उसे सूक्ष्मउद्धारपल्योयम कहते हैं। सूक्ष्मउद्धारपल्योपम में संख्यातवर्ष कोटि-परिमाण काल होता है।

इस प्रकार के दस कोटाकोटि-पल्योपम का एक सूक्ष्मउद्धारसागरोपम होता है। ढाई सूक्ष्मउद्धारसागरोपम या पचीस-कोटाकोटि-सूक्ष्मउद्धार-पल्योपम में जितने समय होते हैं उतने ही लोक में द्वीप और समुद्र हैं।

(३) **व्यवहार-अद्धापल्योपम एवं सागरोपम**—वालाग्रों से भरे हुए उपरोक्त परिमाण के कूप में से एक-एक वालाग्र सौ-सौ वर्ष से निकाला जाए। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआं सर्वथा खाली हो, उस काल-परिमाण को व्यवहारअद्धापल्योपम कहते हैं। यह संख्यातवर्ष कोटि-परिमाण होता है। इस प्रकार के दस कोटाकोटिपल्योपम का एक व्यवहारअद्धासागरोपम होता है।

(४) **सूक्ष्म-अद्धापल्योपम एवं सागरोपम**—पूर्वोक्त कूप सूक्ष्म वालाग्र-खण्डों से भरा हो एवं उनमें से प्रत्येक वालाग्रखण्ड सौ-सौ वर्ष में निकाला जाए। इस प्रकार निकालते-निकालते वह कुआं जितने काल में खाली हो, वह सूक्ष्मअद्धापल्योपम है। इसमें असंख्यातवर्षकोटि परिमाण काल होता है। इस प्रकार के दस कोटाकोटिपल्योपम का एक सूक्ष्मअद्धासागरोपम

होता है। जीवों की कर्मस्थिति, कायस्थिति और भवस्थिति सूक्ष्मअद्धा-पल्योपम और सूक्ष्मअद्धासागरोपम से मापी जाती है।

(५) **व्यवहार-क्षेत्रपल्योपम एवं सागरोपम**—उपरोक्त परिमाण का कूप उपरोक्त रीति से वालाग्रों द्वारा भरा हो। उन वालाग्रों से जो आकाश प्रदेश छुए हुए हैं। उन छुए हुए आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रति समय निकाला जाए। इस प्रकार सभी आकाश प्रदेशों को निकालने में जितना समय लगे, वह व्यवहारक्षेत्रपल्योपम है। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण होता है। इस प्रकार के दस कोटाकोटिपल्योपम का एक व्यवहारक्षेत्रसागरोपम होता है।

(६) **सूक्ष्म-क्षेत्रपल्योपम एवं सागरोपम**—पूर्वोक्त कुआं वालाग्र के सूक्ष्म खण्डों से ठूंस-ठूंसकर भरा हो। उन वालाग्रखण्डों से जो आकाश-प्रदेश छुए हुए हैं और जो नहीं छुए हुए हैं; उन छुए हुए और नहीं छुए हुए सभी आकाशप्रदेशों में से प्रत्येक को एक-एक समय में निकालते हुए सभी को निकालने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम है। यह काल भी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण होता है। लेकिन व्यवहारक्षेत्र-पल्योपम से असंख्यात गुणा अधिक है। इस प्रकार के दस कोटाकोटि पल्योपम का एक सूक्ष्मक्षेत्रसागरोपम होता है। सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम और सूक्ष्मक्षेत्रसागरोपम से दृष्टिवाद में द्रव्य मापे जाते हैं।

प्रश्न १७—संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त का स्वरूप बतलाइए!

उत्तर—दो से लेकर गिनती को गणना-संख्या कहते हैं। 'एक' गिनती नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है। गणना-संख्या के तीन भेद हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त[1]। संख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र १४६ मूल, टीका तथा पार्श्वचन्द्रकृत वार्तिक के आधार से

उत्कृष्ट। दो की संख्या को **जघन्यसंख्यात** कहते हैं। तीन से लेकर उत्कृष्ट से एक कम तक की संख्या को **मध्यमसंख्यात** कहते हैं। उत्कृष्ट-संख्यात का स्वरूप इस प्रकार है—असत् कल्पना से जम्बूद्वीप की परिधि जितने तीन पल्य (कुएं) कल्पित किए जाएं अर्थात् प्रत्येक पल्य की परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, १२८ धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक हो। एक-एक लाख योजन की लम्बाई-चौड़ाई हो। एक हज़ार योजन की गहराई तथा जम्बूद्वीप की वेदिका जितनी (आठ योजन) ऊंचाई हो। तीनों पल्यों के नाम क्रमशः **शलाका, प्रतिशलाका एवं महाशलाका** हों। सर्वप्रथम शलाका पल्य को सरसों से भरकर असत् कल्पना से कोई व्यक्ति एक दाना जम्बूद्वीप में एवं एक दाना लवण समुद्र में डाले। ऐसे प्रत्येक द्वीप-समुद्र में डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र में वे सरसों के दाने समाप्त हों, उतने ही विस्तारवाला एक अनवस्थित पल्य बनाया जाये, फिर उसे सरसों से भरकर एक दाना शलाकापल्य में डालकर पहले डाले हुए द्वीप-समुद्रों से आगे पूर्ववत् डालता जाए। इस प्रकार बड़े विस्तारवाले अनवस्थित पल्यों की कल्पना करते हुए एवं शलाकापल्य में एक-एक दाना डालते हुए जब शलाकापल्य इतना भर जाए कि उसमें एक दाना भी न समा सके और अनवस्थित पल्य भी पूरा भरा हुआ हो। उस परिस्थिति में शलाकापल्य को उठाकर एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डाले एवं फिर आगे से आगे द्वीप-समुद्रों में डालता जाए। जब शलाकापल्य खाली हो जाए तो फिर उसे पहले की तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तारवाले नए-नए अनवस्थित पल्यों की कल्पना करता हुआ भरे। जब वह पूरा भर जाए, तब एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डालकर शेष द्वीप-समुद्रों में डालता हुआ उसे खाली करे। इस प्रकार अनवस्थित से शलाका और अनवस्थितशलाका से प्रतिशलाका पल्य को भर दे। भरने के बाद एक दाना महाशलाका पल्य में डालकर पूर्वविधि से प्रतिशलाका पल्य को द्वीप-समुद्रों में खाली करे। ऐसे अनवस्थित से शलाका, अनवस्थित-शलाका से प्रतिशलाका तथा अनवस्थित-शलाका-

प्रतिशलाका से महाशलाका को भरने पर जब चारों पल्य पूरे भर जाएं तब उनके सरसों के दानों का एक ढेर लगाए। उस ढेर में से यदि एक दाना निकाल लिया जाए तो संख्यात का तीसरा भेद होता है, उसे **उत्कृष्टसंख्यात** कहते हैं—ये संख्यात के तीन भेद हो गए। अब असंख्यात के नौ भेद समझिए।

असंख्यात के नौ भेद—(१) उपरोक्त उत्कृष्ट संख्यात में यदि वह एक दाना और मिला दिया जाए तो असंख्यात का पहला भेद हो जाता है। इसे **जघन्य परीतासंख्येयक** कहते हैं।

(२) पहले और तीसरे भेद के बीच में जो संख्या है, वह असंख्यात का दूसरा भेद है। उसे **मध्यम परीतासंख्येयक** कहते हैं।

(३) असंख्यात के प्रथम भेद के दानों की जितनी संख्या है, उनका अन्योन्याभ्यास[1] करने पर अर्थात् उतने ही अलग-अलग ढेर लगाकर फिर उनको परस्पर गुणाने से जो संख्या आये, उससे एक दाना निकाल लेने पर असंख्यात का तीसरा भेद होता है। उसे **उत्कृष्ट परीतासंख्येयक** कहते हैं।

(४) असंख्यात के तीसरे भेद की राशि में एक दाना मिलाने से असंख्यात का चौथा भेद होता है उसको **जघन्ययुक्तासंख्येयक** कहते हैं। एक आवलिका के इतने ही असंख्य समय होते हैं।

(५) चौथे और छठे भेद के बीच में जो संख्या है, वह असंख्याति का पांचवां भेद है, उसको **मध्यमयुक्तासंख्येयक** कहते हैं।

(६) असंख्यात के चौथे भेद की सर्षपराशि को परस्पर गुणा करने पर जो राशि आती है, उस राशि में से एक दाना निकाल लेने पर असंख्यात

---

१. अन्योन्याभ्यास और गुणा में बहुत बड़ा अन्तर है। पांच को पांच से गुणा करने से ५×५=२५ होते हैं और अन्योन्याभ्यास करने से ३१२५ होते हैं। सर्वप्रथम ५–५–५–५–५ इस प्रकार पांच को पांच जगह स्थापित करके फिर एक-दूसरे से गुणा किया जाता है। जैसे ५×५=२५, २५×५=१२५, १२५×५=६२५, ६२५×५=३१२५

का छठा भेद होता है। उसे उत्कृष्टयुक्तासंख्येयक कहते हैं।

(७) छठे भेद की सर्पपराशि में एक दाना मिलाने से असंख्यात का सातवां भेद होता है। उसे जघन्यासंख्येयासंख्येयक कहते हैं।

(८) सातवें और नौवें भेद के बीच की जो संख्या है, वह असंख्यात का आठवां भेद है, उसे मध्यमासंख्येयासंख्येयक कहते हैं।

(९) सातवें भेद की सर्पपराशि को पूर्ववत् अन्योन्याभ्यास करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उसमें से एक दाना निकाल लेने पर जो संख्या रहती है, वह असंख्यात का नौवां भेद है, उसे उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयक कहते हैं।

यहां किसी एक आचार्य का मत है कि सातवें भेद की संख्या को परस्पर गुणा करे, जो संख्या प्राप्त हो उसे फिर गुणा करे एवं जो संख्या आए उसे पुनः उसी से गुणा करे—ऐसे तीन वार गुणा करके उसमें निम्न-लिखित दस असंख्य वस्तुएं मिला दे—(१) लोकाकाश, (२) धर्मास्तिकाय (३) अधर्मास्तिकाय, (४) एक जीव के असंख्य प्रदेश, (५) द्रव्यार्थिक-निगोद अर्थात् सूक्ष्मवादर अनन्तकाय-वनस्पति के असंख्य शरीर (६) अनन्तकाय को छोड़कर शेष पांच कायों के असंख्य जीव, (७) ज्ञाना-वरणीयादिकर्म-वन्धन के असंख्यात अध्यवसायस्थान, (८) अध्यवसाय-विशेष को उत्पन्न करनेवाला असंख्यात-लोकाकाश की राशि जितना अनु-भाग, (९) जीवों का मन-वचन-कायविषयक वीर्य योग कहलाता है, उसके असंख्य प्रतिभाग-सूक्ष्म भाग, (१०) उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप दोनों कालों के असंख्य समय—ये दस असंख्य राशियां मिलाने पर जो राशि प्राप्त होती है, उसे पूर्ववत् तीन वार गुणा करे। अन्त में जो राशि प्राप्त हो, उसमें से एक निकालने पर असंख्यात का नौवां भेद होता है।

अनन्त के आठ भेद—(१) असंख्यात के नौवें भेद की संख्या में एक मिलाने पर अनन्त का पहला भेद होता है। उसे जघन्यपरीतानन्तक कहते हैं।

(२) अनन्त के पहले और तीसरे भेद के वीच की जो संख्या है, वह

अनन्त का दूसरा भेद है उसे **मध्यमपरीतानन्तक** कहते हैं।

(३) अनन्त के पहले भेद की संख्या को पूर्ववत् अन्योन्याभ्यास करने से जो संख्या प्राप्त होती है, उसमें से एक कम करने पर अनन्त का तीसरा भेद होता है। उसे **उत्कृष्टपरीतानन्तक** कहते हैं।

(४) अनन्त के तीसरे भेद की संख्या में एक मिलाने पर अनन्त का चौथा भेद होता है, उसे **जघन्ययुक्तानन्तक** कहते हैं। अभव्यजीव अनन्त के इस चौथे भेद के बरावर हैं।

(५) अनन्त के चौथे और छठे भेद के बीच की जो संख्या है, वह अनन्त का पांचवां भेद है। उसे **मध्यमयुक्तानन्तक** कहते हैं।

(६) अनन्त के चौथे भेद की संख्या को परस्पर गुणा करने से जो संख्या प्राप्त होती है, उसमें से एक कम करने पर अनन्त का छठा भेद होता है। उसे **उत्कृष्टयुक्तानन्तक** कहते हैं।

(७) अनन्त से छठे भेद की संख्या में एक मिलाने से अनन्त का सातवां भेद होता है उसे **जघन्यानन्तानन्तक** कहते हैं।

(८) इस जघन्यानन्तानन्तक से आगे की सब संख्या अनन्त का आठवां भेद है। उसे **मध्यमानन्तानन्तक** कहते हैं।

आगमानुसार, अनन्त के आठ ही भेद होते हैं, किन्तु किसी एक आचार्य का मत है कि अनन्त के सातवें भेद की संख्या को तीन वार गुणा करे, फिर उसमें निम्नलिखित छः अनन्त वस्तुओं को मिलाए—(१) सिद्ध (२) निगोद-जीव, (३) प्रत्येक—साधारण वनस्पति, (४) भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल के समय, (५) सब पुद्गल परमाणु, (६) अलोकाकाश। इन छहों को मिलाने के वाद जो राशि प्राप्त हो, उसे तीन वार गुणा करके यदि केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्त पर्यायें मिला दी जाएं तो अनन्त का नौवां भेद हो जाता है। उसे **उत्कृष्टानन्तानन्तक** कहते हैं।

आगम द्वारा समर्थित न होने से उपरोक्त नौवें भेद का कथन विचारणीय है, अस्तु !

प्रश्न १८—तीन प्रकार के अंगुलों का स्वरूप समझाइए !

उत्तर—आगम में आत्मांगुलल, उत्सेधांगुल एवं प्रमाणांगुल—ऐसे तीन प्रकार के अंगुल कहे हैं[1]।

(१) आत्मांगुल—जिस काल में जो मनुष्य होते हैं, उनके अपने अंगुल को आत्मांगुल कहते हैं। उत्तमपुरुष अपने अंगुल से १०८ अंगुल ऊंचे होते हैं, मध्यमपुरुष १०० अंगुल एवं अवमपुरुष ९६ अंगुल ऊंचे होते हैं।

छः अंगुलों की एक मुष्टि (मुट्ठी), दो मुष्टियों की एक वितस्ति, (वैंत-विलांद-गिठ) दो वितस्तियों का एक हाथ, दो हाथ की एक कुक्षि, दो कुक्षि (९६ अंगुल) का एक धनुष्य, दो हजार धनुष्य का एक कोस एवं चार कोस का एक योजन होता है।

काल के अनुसार मनुष्य की अवगाहना घटने-वढ़ने से आत्मांगुल का परिमाण भी घटता-वढ़ता रहता है। जिस समय जो मनुष्य होते हैं, उनके नगर, उद्यान, कूप, तड़ाग एवं मकान उन्हीं के अंगुल से अर्थात् आत्मांगुल से नापे जाते हैं।

(२) उत्सेधांगुल—पुद्गल के सवसे छोटे अंश को परमाणु कहते हैं। परमाणु दो तरह के होते हैं—सूक्ष्म और व्यावहारिक (वादर-स्थूल)। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मिलने से एक व्यावहारिक परमाणु वनता है। यह यद्यपि अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का स्कन्ध (पिण्ड) है, फिर भी इतना सूक्ष्म है कि तलवार से कटता नहीं, अग्नि से जलता नहीं, पानी में वहता नहीं और हवा में उड़ता नहीं। इस प्रकार के अनन्त व्यावहारिक परमाणुओं के मिलने पर एक उष्णश्रेणिक (गर्मी का) पुद्गल वनता है। आठ उष्ण-श्रेणिक पुद्गलों जितना वड़ा एक शीतश्रेणिक (शीत का) पुद्गल, उससे आठ गुणा वड़ा एक उर्ध्वरेणु (सूर्य के तिरछे प्रकाश में दृष्टिगोचर होने वाला सूक्ष्म रजःकरण), उससे आठ गुणा वड़ा त्रसरेणु (त्रसजीवों के हिलने-चलने से उड़ने वाला रजःकण), उससे आठ गुणा वड़ा रथरेणु

---

१. अनुयोगद्वार प्रमाणअधिकार

(रथ-गाड़ी आदि के चलने से उड़नेवाला रजःकण), उससे आठ गुणा मोटा देवकुरु-उत्तरकुरुक्षेत्र के मनुष्यों का वालाग्र, उससे आठ गुणा मोटा हरिवर्ष-रम्यग्वर्ष क्षेत्र के मनुष्यों का वालाग्र, उससे आठ गुणा मोटा हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों का वालाग्र, उससे आठ गुणा मोटा महाविदेहक्षेत्र के मनुष्यों का वालाग्र, उससे आठ गुणा मोटा भरत-ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का वालाग्र, उससे आठ गुणा मोटी एक लीख, लीख से आठ गुणा मोटी एक जूं, जूं से आठ गुणा मोटा यव (जौधान्य) का मध्यभाग और आठ यवमध्य जितना मोटा एक उत्सेधांगुल होता है। छः अंगुल की एक मुष्टि, दो मुष्टि की एक वितस्ति यावत्, चार कोस का एक योजन कहलाता है। उत्सेधांगुल से नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की अवगाहना नापी जाती है। ऋषभदेव भगवान की अवगाहना जो ५०० धनुष्य की थी, वह इसी उत्सेधांगुल के नाप से थी (अवसर्पिणी काल का पांचवां आरा आधा व्यतीत होने पर जो मनुष्य होते हैं, उनका अंगुल उत्सेधांगुल कहलाता है। भगवान महावीर का आत्मांगुल इससे दुगना था।)

(३) **प्रमाणांगुल**—उत्सेधांगुल से हजार गुणा अर्थात् ४०० गुणा लम्बा और ढाई गुणा चौड़ा प्रमाणांगुल कहलाता है। इस अंगुल से रत्न-प्रभादिनरक, भवनपति देवों के भवन, सौधर्मादिकल्प, वर्षधरपर्वत एवं द्वीप-समुद्र आदि शाश्वत वस्तुओं की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई और परिधि मापी जाती है। शाश्वत वस्तुओं के नापने के लिए चार हजार कोस का योजन माना जाता है। इसका कारण यही है कि शाश्वत वस्तुओं के नापने का योजन प्रमाणांगुल से लिया जाता है।

नौवां पुञ्ज

प्रश्न १—निर्जरा का क्या अर्थ है ?

उत्तर—देशतः कर्मों को तोड़कर जीव का देशतः उज्ज्वल होना निर्जरा है।[1] निर्जरा अर्थात् कुछ अंशों में कर्मों का झड़ना एवं उससे आत्मा का उज्ज्वल होना। कर्मनिर्जरा दो प्रकार से होती है—स्वभाव से और प्रयोग से। जव पूर्वसंचित शुभ-अशुभ कर्म उदय में आते हैं, तव जीव के अनेक सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। सुख-दुःखों का उपभोग होने के वाद वंधे हुए कर्मपुद्गल झड़ जाते हैं यानी अपने-आप आत्मा से अलग हो जाते हैं—इस प्रकार कर्मों का झड़ना **स्वाभाविकनिर्जरा** है। भिक्षुस्वामी ने इसे **सहजनिर्जरा** कहा है। अन्य आचार्यों ने इसको **अबुद्धिपूर्वकनिर्जरा, स्वकालप्राप्तनिर्जरा** एवं **विपाकजानिर्जरा** के नाम से सम्वोधित किया है। (इस निर्जरा में किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती, अतः इसका अन्तर्भाव अकाम-निर्जरा में हो सकेगा।)

प्रयोग से होनेवाली निर्जरा दो प्रकार की है—अकाम और सकाम। काम का अर्थ यहां मोक्ष की इच्छा, अभिलाषा या कामना है। जो तप-जप आदि धार्मिक क्रिया मोक्ष की इच्छा न रखते हुए की जाती है और उससे कर्म झड़ते हैं, वह **अकामनिर्जरा** है तथा जो मोक्ष की कामना से की

---

१. श्री भिक्षुस्वामिकृत तेराद्वार द्वार १.

जाती है एवं उससे कर्म झड़ते हैं, वह **सकामनिर्जरा** है। अकामनिर्जरा दो प्रकार की होती है—सांसारिक सुखों की इच्छा से रहित और सांसारिक सुखों की इच्छा-सहित।

जो एकेन्द्रिय आदि तिर्यञ्च छेदन, भेदन, शीत, ताप, वर्षा, अग्नि, क्षुधा, तृषा, चाबुक और अंकुशादि की मार द्वारा, नरक के जीव तीन प्रकार की वेदना द्वारा, मनुष्य क्षुधा, तृषा, आधि, व्याधि, दारिद्रय और कारावास आदि के कष्टों द्वारा और देवता परवशता या किल्विषता आदि द्वारा आशातवेदनीयकर्म का अनुभव करके उसका निर्जरण-परिशाटन करते हैं, वह अकामनिर्जरा सभी संसारी-जीवों के होती है एवं सांसारिक सुख-सुविधाओं की कामना से रहित है।

सांसारिक लक्ष्य को लेकर धार्मिकक्रिया करनेवाले, जैसे—कई चक्रवर्ती आदि पद के लिए, कई स्वर्गसुखों के लिए, कई विद्या-मन्त्र आदि को साधने के लिए एवं कई पूजा, प्रतिष्ठा और यशः-कीर्ति के लिये तपस्या करते हैं। कई लोकनिन्दा के भय से शील पालते हैं तथा चोरी और बेईमानी का त्याग करते हैं, कई रोग व ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिए नवकारमन्त्र का जाप करते हैं, कई धन-पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए साधुओं को दान देते हैं और उनकी निरवद्य-सेवा करते हैं, कई युद्ध, चुनाव एवं कोर्ट आदि का केस जीतने के लिए मंगलपाठ सुनते हैं। इस प्रकार भौतिकसिद्धि के निमित्त की हुई धार्मिकक्रिया से जो कर्म झड़ते हैं, वह अकामनिर्जरा सांसारिक सुखों की कामना से युक्त है।

प्रश्न २—इहलोक-परलोक-पूजा-श्लाघा आदि के लक्ष्य से की जानेवाली तप-जप आदि धार्मिकक्रिया से यदि अकाम-निर्जरा होती है, तो फिर शास्त्रों में इहलोकादि के लक्ष्य से तप करने का एवं संयम पालने का निषेध क्यों किया गया[1] तथा पूजा-श्लाघा के लिये किया जानेवाला तप अशुद्ध क्यों कहा

---

१. दशवै. ६।४

गया[१] ?

उत्तर—धार्मिक क्रिया केवल आत्मिकशुद्धि के लिए करनी चाहिए, इस सिद्धान्त पर विशेष बल देने के लिए भौतिकसिद्धि के निमित्त तप आदि करने का निषेध किया है एवं पूजा-श्लाघा के निमित्त किए गए तप को अशुद्ध कहा है। वास्तव में भौतिक कामना अशुद्ध है, तप-जप आदि धार्मिक क्रिया अशुद्ध नहीं हो सकती।

संयम पालते या तप करते समय जव पूजा आदि की भावना आती है, उस समय केवल पाप का वन्ध होता है किन्तु जिस समय वह नहीं रहती एवं शुभयोगों की प्रवृत्ति होती है, उस समय अकामनिर्जरा का होना संभव है।

शास्त्रों में कहा है कि वाह्य-आचार पालकर अभव्यजीव नवग्रेवेयक तक पहुंचते हैं[२]। संभूतमुनिवत् निदान करनेवाले तपस्वी-मुनि स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं[३] तथा लोकनिन्दा के भय से शीलपालनेवाली स्त्रियाँ देवता वनती हैं[४]। यदि भौतिककामना से की हुई धर्मक्रिया से निर्जरा होती ही नहीं, तो ऊपर कहे हुए व्यक्तियों का स्वर्ग में जाना कैसे सम्भव होता! भिक्षुस्वामी ने कहा है—

इहलोक अर्थे तप करे, चक्रवर्त्यादि-पदवी काम।
केई परलोक ने अर्थे करे, नहीं निर्जरा तणां परिणाम॥
केई जस-महिमा वधारवा, तप करे छै ताम।
इत्यादिक अनेक कारण करे, ते निर्जरा कही छै अकाम॥[५]

इस प्रकार अकामनिर्जरा का विवेचन करके श्री भिक्षुस्वामी कहते हैं कि निर्जरा की एकान्त शुद्ध करणी वही है, जिसका एकमात्र लक्ष्य कर्म-

---

१. सूत्र ८।२४
२. भगवती १।२ टीका
३. उत्तराध्ययन १३
४. औपपातिक प्रश्न ८
५. नवपदार्थ-निर्जरापदार्थ ढाल २ दोहा ५-६

क्षय हो।

कर्मक्षय के लक्ष्य से की हुई करणी ही आत्मा को उज्ज्वल करती है। जो करणी उद्देश्यशून्य होती है या जिसके साथ ऐहिककामना जुड़ी रहती है, उससे अल्पमात्रा में कर्मक्षय-अकामनिर्जरा होने पर भी विशेष आत्मिक-शुद्धि नहीं होती। मोक्ष के चार मार्गों में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का ग्रहणा किया गया है। सम्यक्तप वही है, जिसका लक्ष्य केवल आत्मिक हो!

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १७ में भी तीन प्रकार का तप कहा है—मानसिक, वाचिक और कायिक। यह तीनों प्रकार का तप यदि फल की आकाङ्क्षा के विना श्रद्धापूर्वक किया जाय तो **सात्विक** कहलाता है, सत्कार-मान-पूजा आदि के लिए दम्भपूर्वक किया जाय तो **राजस** कहलाता है एवं दुराग्रहवश या दूसरे के नाश के लिए किया जाय, तो **तामस** कहलाता है। राजस-तामस निकृष्ट हैं एवं सात्त्विकतप श्रेष्ठ माना गया है।

प्रश्न ३—अकाम-सकाम निर्जरा क्या किसी आगम में है?

उत्तर—अकामनिर्जरा शब्द तो कई आगमों में है[1] किन्तु सकामनिर्जरा शब्द आगमों में नज़र नहीं आता। फिर भी अकामनिर्जरा के प्रतिपक्षी तत्त्व के रूप में अपने आप फलित हो जाता है। **देवानन्दसूरि** ने निर्जरा का वर्णन करते हुए अकामनिर्जरा व सकामनिर्जरा शब्द का प्रयोग किया है[2]। **वाचकउमास्वाति** इनको **अबुद्धिपूर्वकनिर्जरा** एवं **कुशलमूलनिर्जरा** कहते हैं[3]। **स्वामीकार्तिकेय** के मतानुसार इनके नाम **स्वकालप्राप्तनिर्जरा** एवं **तपःकृतनिर्जरा** हैं[4]। **तत्त्वार्थसारकर्ता** ने इनको **विपाकजानिर्जरा** और

---

१. स्था० ४।४।३७३ तथा औपपातिकसूत्र

२. नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह-देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ. ६

३. तत्त्वार्थ० ९।७ भाष्य

४. द्वादशानुप्रेक्षा—निर्जरानुप्रेक्षा १०३-१०४

अविपाकजानिर्जरा माना है[1]।

प्रश्न ४—अकामनिर्जरा और सकामनिर्जरा किस-किस के होती है ?

उत्तर—अकामनिर्जरा तो सभी जीवों के होती है, इस विषय में सभी जैनविद्वान एकमत हैं। लेकिन सकामनिर्जरा के विषय में मतभेद हैं—हेमचन्द्रसूरि व स्वामी कार्तिकेय का मत है कि सकामनिर्जरा केवल संयमियों के होती है। कई लोग मानते हैं कि सकामनिर्जरा सम्यग्दृष्टियों के होती है। यहां भिक्षुस्वामी का कथन है कि सकामनिर्जरा साधु-श्रावक, व्रती-अव्रती, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि सभी के हो सकती है[2]। शर्त इतनी ही है कि तप निरवद्य[3] व हिंसादिपापरहित हो एवं लक्ष्य कर्मक्षय करने का हो ! जहां कर्मक्षय करने का लक्ष्य नहीं होता, वहां शुद्धतप भी सकामनिर्जरा का हेतु नहीं बनता[4]।

प्रश्न ५—निर्जरा से क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मोरी आदि द्वारा तालाव का पानी निकालने से, झाड़ू आदि द्वारा मकान का कूड़ा-कचरा निकालने से एवं हाथ या वर्तन द्वारा नाव का पानी निकालने से जिस प्रकार तालाव, मकान और नाव साफ हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मों की निर्जरा से आत्मा निर्मल हो जाती है[5]।

---

१. तत्त्वार्थसार ७।२-४

२. नवपदार्थ-निर्जरापदार्थ ढाल २ गाथा ४७-५०

३. कई व्यक्ति पंचाग्नि साधते हैं (चारों तरफ आग जला लेते हैं और ऊपर से सूर्य का ताप लेते हैं) तथा कई जल व अग्नि में प्रविष्ट होकर मर जाते हैं। ऐसी साधना हिंसामय तप में गिनी जाती है।

४. यदि कोई साधु वृष्टि आदि के कारण भिक्षा न मिलने से दिनभर भूखा रहे किन्तु उपवास करने की भावना न हो तो अकामनिर्जरा ही होगी।

५. तेराद्वार-द्वार २ के आधार से।

कर्मक्षयरूप निर्जरा एक है[1] परन्तु वह जिन हेतुओं से होती है, वे हेतु वारह हैं अर्थात् वारह प्रकार का तप है। निर्जरा कार्य है एवं वारह प्रकार का तप हेतु-कारण है। दोनों चीजें भिन्न हैं, फिर भी उपचार से[2] कारण को कार्य मानकर तप को निर्जरा कहा गया है[3]।

तप से कर्मों की शुद्धि होती है[4]। करोड़ों भवों में संचित कर्म तपस्या से जीर्ण होकर झड़ जाते हैं[5]। तप ही परम कल्याणकारी हैं, दूसरे सुख तो भ्रममात्र हैं[6]। अतः वल, दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्र-काल को देखकर अपनी आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिए[7]।

प्रश्न ६—तप के भेद-प्रभेद समझाइये !

उत्तर—तप के दो भेद हैं[8]—वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य-शरीर से सम्वन्ध रखनेवाले तप को **बाह्यतप** कहते हैं और आभ्यन्तर-आत्मा से सम्वन्ध रखनेवाले तप को **आभ्यन्तरतप** कहते हैं। वाह्यतप के छः भेद हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता। आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग।

प्रश्न ७—वाह्यतप के छः भेदों का स्वरूप समझाइये !

उत्तर—छः प्रकार के वाह्यतपों में पहला अनशन है। अशन का अर्थ खाना है और न खाने का नाम **अनशन** है। अनशन अर्थात् आहार का त्याग

---

१. अत्यन्त भिन्न शब्दों में भी सदृशता की विशेषता के कारण उनकी भिन्नता की उपेक्षा करना यानी किसी एक अपेक्षा से उन्हें एक मानना उपचार कहलाता है।

२. स्था. १।१५

३. नवतत्त्वसंग्रह; श्री देवगुप्तसूरि कृत-नवतत्त्वप्रकरण ११ भाष्य ६०

४. उत्तरा. २६।२७

५. उत्तरा. ३०।६

६. वाल्मीकिरामायण ७।८६।६

७. दशवै. ८।३५

८. उत्तरा. ३०।७-८ तथा ३०

करना। अनशन के दो भेद हैं—**इत्वरिक और यावत्कथिक**। उपवास से लेकर छः मास तक का तप इत्वरिकअनशन कहलाता है। यह छः मास का काल भगवान् महावीर के शासन की अपेक्षा से समझना चाहिए। अन्यथा ऋषभदेव प्रभु के शासन में एक वर्ष का और मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरों के शासनकाल में ८ मास का भी होता है[1]।

इत्वरिकतप के छः भेद होते हैं—श्रेणीतप, प्रतरतप, घनतप, वर्गतप, वर्गवर्गतप, प्रकीर्णतप[2]।

१. श्रेणीतप—श्रेणी का अर्थ है क्रम या पंक्ति। उपवास-वेला-तेला-चोला आदि क्रम से किया जानेवाला तप श्रेणीतप है। यह उपवास से लेकर छः मास तक का होता है। जैसे—उपवास का पारणा करके वेला, वेले के पारणे पर तेला, तेले के पारणे पर चोला—इस प्रकार छः मास तक तप का एक-एक दिन वढ़ता ही जाता है।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

२. प्रतरतप—श्रेणी से श्रेणी को गुणा करना **प्रतर** है। प्रतरयुक्त तप प्रतरतप कहलाता है। जैसे—उपवास, वेला, तेला और चोला—इन चार पदों की श्रेणी है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर १६ पद होते है। प्रतर लम्वाई-चौड़ाई में वरावर होता है अर्थात् एक-एक श्रेणी में चार-चार पद होते हैं। पहली श्रेणी में क्रमशः उपवास, वेला, तेला एवं चोला होता है। दूसरी श्रेणी में वेला, तेला, चोला एवं उपवास होता है। तीसरी श्रेणी में तेला, चोला, उपवास एवं वेला होता है। चौथी श्रेणी में चोला, उपवास, वेला एवं तेला होता है।

३. घनतप—जितने पदों की श्रेणी है, प्रतर को उतने पदों से गुणा करने पर घनतप वनता है। यहां चार पदों की श्रेणी है एवं १६ पदों का

---

१. प्रवचनसारोद्धार के आधार से

२. उत्तरा. ३०।६-१०-११

प्रतर है अतः ४ को १६ से गुणा करने पर ६४ पद बनते हैं। तत्त्व यह है कि प्रतरतप को चार बार करने से घनतप होता है।

४. **वर्गतप**—घन को घन से गुणा करने पर वर्गतप बनता है अर्थात् घनतप को ६४ बार करने से वर्गतप होता है। इसके ६४×६४=४०९६ पद होते हैं।

५. **वर्गवर्गतप**—वर्ग का वर्ग से गुणा करने पर अर्थात् वर्गतप को ४०९६ बार करने से वर्गवर्गतप होता है। इसके ४०९६×४०९६= १६७७७२१६ पद होते हैं।

६. **प्रकीर्णतप**—यह तप श्रेणी आदि निश्चित पदों की रचना किए बिना ही अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। उपवास से लेकर रत्नावली-कनकावली-मुक्तावली आदि तथा यवमध्य-वज्रमध्यादि प्रतिमाएं—इन सभी का प्रकीर्णतप में समावेश हो जाता है।

प्रश्न ८—रत्नावली आदि तप की क्या विधि है ?

उत्तर—गले में पहनने का हार रत्नावली कहलाता है। उसकी आकृतिवत् जो तप किया जाता है, वह **रत्नावलीतप** है। रत्नावलीहार ऊपर दोनों ओर से पतला होता है। थोड़ा आगे बढ़ने पर दोनों तरफ फूल होते हैं। नीचे मध्यभाग में वह हार बड़ी-बड़ी मणियों से संयुक्त पान के आकारवाला होता है।

रत्नावलीतप की विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम एक उपवास-एक बेला-एक तेला करके फिर एक साथ ८ बेले करे। फिर उपवास-बेले-तेले आदि करते हुए १६ दिन तक चढ़े। तत्पश्चात् एक साथ ३४ बेले करे (३४ बेले करने से हार का मध्य भाग मोटा बन जाता है)। ३४ बेलों के बाद १६ उपवास (१६का थोकड़ा), पन्द्रह उपवास यावत् क्रमशः घटाते हुए एक उपवास तक करे। तत्पश्चात् एक साथ आठ बेले करे एवं अन्त में एक तेला, एक बेला और एक उपवास करके साधक रत्नावली तप को पूर्ण करे।

रत्नावलीतप — इसकी चार परिपाटियां होती हैं। पहली परिपाटी में पारणे के दिन इच्छानुसार दूध-दही-घृत आदि विगययुक्त आहार लिया जा सकता है। दूसरी परिपाटी में कोई भी विगय नहीं ली जा सकती। तीसरी परिपाटी में निर्लेप (जिसका लेप भी न लगे) आहार लिया जाता है एवं चौथी परिपाटी में आयंबिल (किसी एक प्रकार का भूंजा हुआ धान्य पानी के साथ खाना आयंबिल कहलाता है) करना होता है।

एक परिपाटी में १५ मास २२ दिन (४७२ दिन) लगते हैं। उनमें ८८ पारणे होते हैं और ३८४ दिन का तप होता है। चार परिपाटियां ५ वर्ष २ मास २८ दिन में पूर्ण होती हैं।

कनकावलीतप—यह तप प्राय: रत्नावली तप के ही समान है। इतना-सा फ़र्क है कि रत्नावलीतप में दोनों फूलों की जगह आठ-आठ वेले और मध्य में पान के आकार के ३४ वेले किए जाते हैं जबकि कनकावली-तप में वेलों के स्थान पर ८-८ एवं ३४ तेले करने होते हैं। इसकी एक परिपाटी में १७ मास १२ दिन लगते हैं। उनमें ८८ पारणे और ४३४ दिन का तप होता है। चारों परिपाटियां पांच वर्ष नौ मास अठारह दिन में पूर्ण होती हैं। पारणे की विधि पूर्ववत् है।

मुक्तावलीतप—इस तप में एक उपवास से लेकर १५ उपवास तक किये जाते हैं एवं बीच-बीच में एक-एक उपवास होता है तथा मध्य में सोलह उपवास करके फिर क्रमशः उतरते हुए एक उपवास तक किया जाता है। जैसे—एक उपवास, उसके पारणे पर बेला, बेले के पारणे पर उपवास, फिर तेला एवं उपवास —इस प्रकार पन्द्रह तक चढ़कर एक उपवास एवं उसके पारणे पर फिर सोलह का थोकड़ा किया जाता है। फिर पूर्वविधि से तप को घटाते हुए उतरा जाता है। इस तपस्या की एक परिपाटी में ११ मास १५ दिन (३४५ दिन) लगते हैं उनमें ५९ पारणे एवं २८६ दिन की तपस्या होती है। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में ३ वर्ष १० मास लगते हैं। पारणे की विधि पूर्ववत् है।

लघुसिंह-निष्क्रीड़ित-तप—जैसे क्रीड़ा करता हुआ सिंह अतिक्रान्त-स्थान को देखता हुआ आगे बढ़ता है अर्थात् दो कदम आगे रखकर एक कदम वापिस पीछे रखता हुआ चलता है, उसी प्रकार जिस तप में पूर्व-पूर्वआचरित तप का पुनः सेवन करते हुए आगे बढ़ा जाता है, उसे लघुसिंह-निष्क्रीड़ित तप कहते हैं। आगे बताये जानेवाले महासिंह-निष्क्रीड़ित तप की अपेक्षा छोटा होने से यह लघुसिंह-निष्क्रीड़ित कहलाता है। इस तप में एक से लगाकर नौ उपवास तक किए जाते हैं एवं बीच में पूर्वआचरित तप का पुनः सेवन करते हुए आगे बढ़ा जाता है और इसी तरह वापिस श्रेणी उतरी जाती है। जैसे—उपवास के पारणे पर बेला, बेले के पारणे पर उपवास एवं उसके पारणे पर तेला एवं तेले के पारणे पर बेला। इस प्रकार नौ उपवास तक चढ़कर पुनः उतरना होता है। इस तप की परिपाटी में छः मास सात दिन (१८७ दिन) लगते हैं। उनमें ३३ पारणे होते हैं एवं १५४ दिन की तपस्या होती है। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में २ वर्ष २८ दिन लगते हैं। पारणे की विधि पूर्ववत् है।

लघुसिंह-निष्क्रीड़ित-तप

१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९	८	९

महासिंह-निष्क्रीड़ित-तप

१		१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९
८		८
१०		१०
९		९
११		११
१०		१०
१२		१२
११		११
१३		१३
१२		१२
१४		१४
१३		१३
१५		१५
१४	१५	१४
१६		१६

महासिंह-निष्क्रीड़िततप—यह तप लघुसिंह - निष्क्रीड़िततप के समान ही है । केवल इतनी-सी विशेषता है कि उसमें नौ उपवास तक चढ़ा जाता है और इसमें १६ उपवास तक चढ़ना होता है । शेष विधि और साधनाक्रम पूर्ववत् हैं। इसकी एक परिपाटी में १८ मास १८ दिन (५५८ दिन) लगते हैं। ६१ पारणे होते हैं। ४९७ दिन की तपस्या होती है। चारों परि-पाटियों को पूर्ण करने में ६ वर्ष २ मास और १२ दिन लगते हैं।

ार निर्जरा का
ो साधना में तप

रहे हैं और आगे
ां ने मुक्ति रमा
ऽ है, इससे सिद्ध
प्राप्ति राग द्वेष
एवं कल्याणेच्छु

च्छानिरोधस्तप:"
। मन, इन्द्रिय
य के छोड़ने की
की निरुक्ति भी
अर्थात् शुभाशुभ
प कहलाता है।
ह का नाश करने
इन्द्रिय और मन
चरण द्वारा ही
त्र (देव, तिर्यञ्च

ता रहती है उसे
याग ५ विविक्त-

रिपाटियों में ४०० दिन अर्थात्

–इसकी एक परिपाटी में ८ मास ५ दिन दिन के एवं ४९ दिन पारणे के होते हैं। चार २० दिन लगते हैं। इसमें सात-सात पदों । ४९ कोठों का यन्त्र बनता है।

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

की भी सर्वतोभद्रवत् २५ कोठों में स्थापना होती है। यह तप पांच उपवास से शुरू होता है एवं सात उपवास में सम्पन्न होता है। इसकी एक परिपाटी में ६ मास २० दिन (२०० दिन) लगते हैं। उनमें २५ पारणे होते हैं व

हें बाह्य तप कहने के तीन कारण हैं–एक तो इनके करने में बाह्य द्रव्य भोजन छोड़ने की, अवमौदर्य में अल्प भोजन करने की, वृत्तिपरिसंख्यान के नियम आदि की। दूसरा कारण यह है कि ये कार्य अन्य लोगों को

ं क्रमशः आयंबिल बढ़ाये जाते हैं।
रना, फिर दो आयंबिल, फिर एक
ास करते हुए १०० आयंबिल तक
ा एवं ५०५० आयंबिल होते हैं।
सम्पन्न होता है।
हासंग्राम हुआ जिसके अन्दर दो
ारे गये। उसमें कुणिकराजा के
टक महाराजा के हाथ मृत्यु को
त होकर उनकी काली-सुकाली
े पास दीक्षा ली एवं महासती
ो रत्नावली-कनकावली आदि
...न्न प्रकार का तप किया था[1]।

गुणरत्नसंवत्सरतप—इस तप में पहले महीने एकान्तर तप, दूसरे महीने बेले-बेले, तीसरे महीने तेले-तेले-यावत् सोलहवें महीने १६-१६ दिन का तप करना पड़ता है। दिन को उत्कटुक-आसन से बैठकर सूर्य की आतापना ली जाती है और रात को वस्त्ररहित होकर ध्यान किया जाता है। इस तप के दिन ४०७ होते हैं एवं पारणे के दिन ७३ होते हैं—सारे दिन ४८० अर्थात् १६ मास लगते हैं। यह तप पोलासपुरपति विजय नरेश के पुत्र अतिमुक्त (एवंता) मुनि ने किया था, जिन्होंने अतिबाल्यावस्था में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी एवं बाल्यलीलावश पानी में अपनी पात्री तिराई थी तथा अन्त में केवलज्ञान पाकर सिद्ध भगवान बने थे[2]। (देखिये गुणरत्नसंवत्सरतप का चित्र)

१. अन्तकृद्दशाङ्ग वर्ग ८ से।

२. अन्तकृद्दशाङ्ग वर्ग ६ अ० १५।

तपदिन																पारणा	सर्वदिन
३२	१६	१६														२	३४
३०	१५	१५														२	३२
२८	१४	१४														२	३०
२६	१३	१३														२	२८
२४	१२	१२														२	२६
३३	११	११	११													३	३६
३०	१०	१०	१०													३	३३
२७	९	९	९													३	३०
२४	८	८	८													३	२७
२१	७	७	७													३	२४
२४	६	६	६	६												४	२८
२५	५	५	५	५	५											५	३०
२४	४	४	४	४	४	४										६	३०
२४	३	३	३	३	३	३	३	३								८	३२
२०	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२						१०	३०
१५	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१५	३०

यवमध्य-चन्द्रप्रतिमा—शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर चन्द्र-कला की वृद्धि-हानि के अनुसार दत्ति की वृद्धि-हानि से यव के मध्य भाग के आकार में पूरी होनेवाली एक महीने की प्रतिज्ञा यवमध्य-चन्द्रप्रतिमा कहलाती है। जैसे—शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति[1], द्वितीया को दो दत्ति, इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्ति। फिर कृष्णप्रतिपदा को चौदह दत्ति, इस प्रकार एक-एक दत्ति घटाते हुए चतुर्दशी को एक दत्ति लेना और अमावस्या को उपवास करना।

वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमा—कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रारम्भ होकर चन्द्रकला की हानि-वृद्धि के अनुसार दत्ति की हानि-वृद्धि से वज्राकृति में पूर्ण होनेवाली एक महीने की प्रतिमा वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमा कहलाती है। इसके आरम्भ में पन्द्रह दत्ति, फिर क्रमशः घटाते हुए अमावस्या को एक दत्ति। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को दो, फिर क्रमशः एक-एक बढ़ाते हुए चतुर्दशी को पन्द्रह दत्ति और पूर्णमासी को उपवास किया जाता है[2]।

पंचरंगीतप—यह तप २५ व्यक्तियों द्वारा सम्मिलित होकर किया जाता है। विधि इस प्रकार है—पहले दिन—पांच जने पांच-पांच उपवास यानी पंचौले शुरू करें। प्रतिदिन **मतिज्ञानाय नमः** पद की वीस माला फेरें एवं २८ लोगस्स का ध्यान करें।

दूसरे दिन—पांच जने चार-चार उपवास यानी चौले शुरू करें। प्रतिदिन**श्रुतज्ञानाय नमः** पद की वीस माला फेरें एवं १४ लोगस्स का ध्यान करें। तीसरे दिन—पांच जने तीन-तीन उपवास यानी तेले शुरू करें, प्रतिदिन **अवधिज्ञानाय नमः** पद की वीस माला फेरें तथा ६ लोगस्स का ध्यान करें।

चौथे दिन—पांच जने दो-दो उपवास यानी बेले शुरू करें, **मनःपर्याय-ज्ञानाय नमः** पद की वीस माला फेरें और २ लोगस्स का ध्यान करें।

---

१. दत्ति का अर्थ देखो पृष्ठ २४२ पर

२. व्यवहार. उ. १०

पांचवें दिन—पांच जने एकएक उपवास करें और **केवलज्ञानाय नमः** इस पद की वीस माला फेरें तथा एक लोगस्य का ध्यान करें।

(माला फेरना एवं ध्यान करना विशेष विधि है।)

प्रश्न ९—इत्वरिकअनशन के अन्तर्गत प्रकीर्णतप का वर्णन तो समझ में आ गया, अब यावत्कथिकअनशन समझाइये !

उत्तर—जीवन भर के लिए तीनों या चारों आहारों का त्याग करना **यावत्कथिकअनशन** (संथारा) कहलाता है। इसके तीन भेद हैं[1]—पादपोगमन, भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनी।

(१) चारों आहार का त्याग करके पादप अर्थात् कटी हुई वृक्ष की डाली के समान जिस स्थान पर जिस रूप में एक वार लेट जाए, फिर उसी जगह उसी रूप में लेटे रहना, लघुशङ्का आदि किसी विशेषकारण के सिवा शरीर के किसी भी अङ्ग को किंचिन्मात्र न हिलाते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाना **पादपोगमनअनशन** कहलाता है। इसके दो भेद हैं—व्याघातिम और निर्व्याघातिम। सिंहव्याघ्र-दावानल आदि का उपद्रव होने पर जो अनशन किया जाता है वह **व्याघातिम** है और जो किसी भी उपद्रव के विना स्वेच्छा से किया जाता है वह **निर्व्याघातिम** है।

(२) जीवनभर के लिए तीन या चार आहार का त्याग करना **भक्तप्रत्याख्यानअनशन** कहलाता है। इसको **भक्तिपरिज्ञामरण** भी कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—व्याघातिम और निर्व्याघातिम।

(३) दूसरे साधुओं से वैयावच्च-सेवा करवाते हुए नियमित प्रदेश की हद में रहकर यावज्जीवन चारों आहार का त्याग करना **इङ्गिनीअनशन** कहलाता है। इसका दूसरा नाम **इङ्गितमरण** भी है। उक्त अनशन करने-वाला अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। अपने स्थान में रहा हुआ हाथ-पैर आदि हिला-डुला सकता है।

---

१. समवायाङ्ग १७ प्रवचनसारोद्धार, द्वार १५७ गाथा १००६ से १७ तक तथा औपपातिक सूत्र ९.

ऊपर कहे हुए तीनों प्रकार के अनशन यदि ग्राम के अन्दर किये जाएं और मृत्यु के वाद अनशनकर्ता का शरीर दाह-संस्कार के लिए ग्राम के वाहर ले जाना पड़े तो वे **निर्हारिम** कहलाते हैं तथा ग्राम से वाहर गुफा आदि में किये जाएं एवं मृत्यु के वाद शरीर को कहीं न ले जाना पड़े तो उक्त अनशन **अनिर्हारिम** कहलाते हैं[1]।

दूसरी अपेक्षा से यावत्कथिकअनशन के दो-दो भेद और भी हैं—**सविचार-अविचार** तथा **सपरिकर्म-अपरिकर्म**[2]। जिस अनशन में हलन-चलनादि शारीरिक क्रियाएं खुली रहती हैं, वह **सविचारअनशन** है एवं जिसमें निष्क्रिय रूप से रहा जाता है, वह **अविचारअनशन** है तथा जिसमें अन्य मुनियों की सेवा ली जाती है वह **सपरिकर्मअनशन** है और जिसमें सेवा की अपेक्षा से रहित रहा जाता है, वह **अपरिकर्मअनशन** है।

प्रश्न १०—ऊनोदरिकातप का अर्थ समझाइये !

उत्तर—उदर का अर्थ पेट है और उसको ऊना रखना यानि उसे कुछ खाली रखना **ऊनोदरिकातप** कहलाता है। ऊनोदरी शब्द का अर्थ खाने-पीने में कमी करना है। परन्तु उपलक्षण से इसका अर्थ आहार, उपधि एवं क्रोध आदि कषायों में कमी करना किया गया है[1]। साधारण भाषा में इसका नाम **ऊनोदरी** है। ऊनोदरी तप के दो भेद हैं—**द्रव्यऊनोदरी** और **भावऊनोदरी**। द्रव्यऊनोदरी दो प्रकार की है—**उपकरणद्रव्यऊनोदरी** और **भक्तपानद्रव्यऊनोदरी**। शास्त्रानुसार जो वस्त्र-पात्र रखने का विधान है, उसमें कमी करना उपकरणद्रव्यऊनोदरी है। भक्तपानद्रव्य-ऊनोदरी पांच प्रकार से होती है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, पर्याय से।

(१) शास्त्रों में पुरुष का ३२ कवल-प्रमाण आहार कहा है—उसमें

---

१. भगवती २५।७।८०२ तथा स्था. २।४।१०२

२. उत्तरा. ३०-१२।१३

१. भगवती २५।७।८०२, औपपातिक. समवसरण १९ तथा उत्तरा. ३०।१४

यथासम्भव कमी करना **द्रव्य से भक्तपानद्रव्यऊनोदरी** है।

(२) ग्रामादि अनेक क्षेत्र भिक्षा के लिए कल्पते हैं। उनमें यथासम्भव संकोच करना **क्षेत्र से भक्तपानद्रव्यऊनोदरी** है।

(३) मैं दिन के तीसरे प्रहर में ही गोचरी करूंगा—इस प्रकार शास्त्रविहित गोचरी के समय में संकोच करना **काल से भक्तपानद्रव्यऊनोदरी** है।

(४) अलंकृत, अनलंकृत वयस्क या अमुक प्रकार के वस्त्रादिवाले पुरुष-स्त्री भिक्षा देंगे, तो ही मैं भिक्षा ग्रहण करूंगा—साधु का इस प्रकार अभिग्रह करके भिक्षार्थ जाना **भाव से भक्तपानद्रव्यऊनोदरी** है।

(५) पीछे जो द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव कहे हैं, उनके भावों-पर्यायों में संकोच करना **पर्याय से भक्तपानद्रव्यऊनोदरी** है। यह भक्तपानद्रव्यऊनोदरी का विवेचन हुआ।

भावऊनोदरी के ६ भेद हैं—अल्पक्रोध, अल्पमान, अल्पमाया, अल्पलोभ, अल्पशब्द (कम बोलना), अल्पझंझा। (कलह, तू-तू मैं-मैं को घटाना)

प्रश्न ११—भिक्षाचर्या का वर्णन कीजिये!

उत्तर—अभिग्रहविशेष करके भिक्षा के लिए भ्रमण करना **भिक्षाचर्या तप** है। **वृत्तिसंक्षेप**[1] और **वृत्तिसंख्यान**[2] भी इसी के नाम हैं।

प्रश्न १२—आहार के त्याग को तप कहा गया है, फिर आहार के लिए भ्रमण करना तप कैसे?

उत्तर—आहारत्याग की भांति भिक्षाटन में कष्ट होने से साधु के निर्जरा होती है, इसलिए यह तप है अर्थात् विशिष्ट और विचित्र प्रकारके अभिग्रह से युक्त होने के कारण वह भिक्षाटन भी वृत्तिसंक्षेपरूप है, अतः

---

१. समवायाङ्ग ७

२. तत्त्वार्थ ६।१९ तथा दशवै. नियुंक्ति गाथा ४७

लिए साधु के लिए तपरूप है[1]। भिक्षुस्वामी ने कहा है कि अभिग्रहपूर्ति के अभाव में भिक्षा न करने से यह भिक्षात्याग रूप तप हो जाता है।

आगम में ३२ प्रकार के अभिग्रहों का वर्णन मिलता है[2]।

(१) **द्रव्याभिग्रहचर्या**—द्रव्यसम्बन्धी-अभिग्रह करके भिक्षाटन करना। जैसे—भाले के अग्रभाग पर रहा हुआ द्रव्य मिलेगा तो लूंगा।

(२) **क्षेत्राभिग्रहचर्या**—क्षेत्रसम्वन्धी अभिग्रह करके भिक्षाटन करना। जैसे—देहरी के दोनों ओर पैर रखकर बैठा हुआ व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा।

(३) **कालाभिग्रहचर्या**—कालसम्वन्धी-अभिग्रह करके भिक्षाटन करना। जैसे—सभी भिक्षाचर भिक्षा कर चुके होंगे तव भिक्षार्थ जाऊंगा।

(४) **भावाभिग्रहचर्या**—भावविषयक अभिग्रह करके भिक्षाटन करना। जैसे—रोता-हंसता या गाता हुआ व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा। ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(५) **उत्क्षिप्तचर्या**—गृहस्थ द्वारा अपने लिए पाकभाजन से निकाला हुआ भोजन मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(६) **निक्षिप्तचर्या**—पाक-भाजन से वाहर न निकाला हुआ भोजन मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(७) **उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचर्या**—पाक-भाजन से निकालकर उसी में या अन्यत्र रखा हुआ आहार मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(८) **निक्षिप्त-उत्क्षिप्तचर्या**—पाकभाजन में रखी हुई वस्तु भोजन-पात्र में निकाली हुई मिलेगी तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

---

१. स्था. ५।३।५११ टीका

२. औपपातिक. समवसरण १६ तथा भगवती २५।७।८०२

(९) **परिवेष्यमाणचर्या**—गृहस्थ के लिए परोसे जाते हुए भोजन में से मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१०) **संह्रियमाणचर्या**—ठंडा करने के लिए थाली आदि में निकाला हो, वह कूरादि धान्य वापस भाजन में डाला जाता हुआ मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(११) **उपनीतचर्या**—किसी के भेंट में आयी हुई वस्तु मिलेगी तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१२) **अपनीतचर्या**—देने योग्य वस्तु में से निकालकर दूसरी जगह रखी हुई वस्तु मिलेगी तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१३) **उपनीतापनीतचर्या**—उपरोक्त दोनों प्रकार का भोजन मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना अथवा दाता द्वारा लेने योग्य वस्तु का गुण-दोष सुनकर भिक्षा ग्रहण करूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना। जैसे—यह जल ठंडा है पर खारा है—यहां दाता द्वारा जल के गुण-दोष एक साथ बताये गये हैं।

(१४) **अपनीतोपनीतचर्या**—पहले अवगुण एवं पीछे गुण दिखाया गया द्रव्य (जैसे—यह जल खारा है पर ठंडा है) मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१५) **संसृष्टचर्या**—उसी द्रव्य से भरे हुए हाथ या पात्र से मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१६) **असंसृष्टचर्या**—बिना भरे हुए हाथों से दिया जायेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१७) **तज्जातसंसृष्टचर्या**—दिये जानेवाले द्रव्य के समान दूसरे द्रव्य से भरे हुए हाथों से भोजन दिया जायेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१८) **अज्ञातचर्या**—अपरिचित घरों से भिक्षा लूंगा या अपनी जाति या सम्बन्ध जताये बिना भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(१६) **मौनचर्या**—मौनी बनकर भिक्षा लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२०) **दृष्टलाभचर्या**—दृष्टिगोचर होनेवाला आहार मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२१) **अदृष्टलाभचर्या**—दृष्टिगोचर न होनेवाला आहार—पर्दे के पीछे रखा हुआ मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२२) **पृष्टलाभचर्या**—हे मुने ! आपको क्या दूं ?—ऐसा प्रश्न करके कोई वस्तु दी जाए तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२३) **अपृष्टलाभचर्या**—विना प्रश्न पूछे कोई वस्तु मिलेगी तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२४) **भिक्षालाभचर्या**—रूखा-सूखा, तुच्छ एवं अज्ञात आहार मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२५) **अभिक्षालाभचर्या**—तुच्छ एवं अज्ञात आहार न लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२६) **अन्नग्लायकचर्या**—अन्न के विना ग्लान होने पर प्रातः काल को ही रात का बना भोजन मिलेगा तो लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२७) **औपनिहितकचर्या**—समीपवर्तीदाता से प्राप्त होगी, वही भिक्षा लूंगा, ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(२८) **परिमितपिण्डपातचर्या**—द्रव्यादि की संख्या से परिमित आहार के लिए भिक्षाटन करना।

(२९) **शुद्धैषणाचर्या**—शुद्ध अर्थात् व्यञ्जनरहित कूरादि-नीरस भोजन लूंगा—ऐसा अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

(३०) **संख्यादत्तिचर्या**—दत्तियों की संख्या का नियम करके भिक्षाटन करना (बीच में धार न टूट कर एक बार में जितना आहार-पानी साधु के पात्र में गिरे, उसे एक दत्ति (दात) कहते हैं।)

(३१) **पुरिमार्धचर्या**—दिन के पूर्वार्द्ध में भिक्षाटन करने का अभिग्रह

करके भिक्षाटन करना।

(३२) भिन्नपिण्डपातचर्या—टुकड़े किए हुए पिण्ड को ग्रहण करने का अभिग्रह करके भिक्षाटन करना।

उत्तरा. ३०।१९ में तथा स्था० ६।५१४ में जो पेटा-अर्धपेटा, गोमूत्रिकादि छः प्रकार की गोचरी कही है[1] वह भी अभिग्रहविशेषयुक्त होने से भिक्षाचर्यातप ही है।

यह साधुओं से सम्बन्धित भिक्षाचर्यातप का विवेचन हुआ। श्रावक भी जो अभिग्रह करते हैं तथा द्रव्यों एवं घरों का परिमाण करते हैं, वह सब इसी तप में गिना जा सकता है। वास्तव में जो वृत्तियों का संक्षेप-संकोच किया जाता है, वह वृत्तिसंक्षेप अर्थात् भिक्षाचर्या तप है। इसे **भिक्षाचरी** भी कहते हैं।

प्रश्न १३—रसपरित्यागतप का रहस्य समझाइये!

उत्तर—रसों का परित्याग करना **रसपरित्यागतप** है। इसके नौ भेद हैं[2]—निर्विकृति, प्रणीतरसपरित्याग, आचाम्ल, अवश्रावणगतसिक्थभोजन, अरसाहार, विरसाहार, अन्ताहार, प्रान्ताहार, रूक्षाहार।

(१) निर्विकृति—विकृतियां (विगय) नौ हैं[3]—दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य, मांस। प्रायः विकारउत्पत्ति के हेतु होने से इनको **विकृति** कहते हैं। मक्खन, मधु, मद्य और मांस को **महाविकृति** भी कहा गया है[4]। पूर्वोक्तविकृतियों का त्याग करना **निर्विकृतितप** है।

(२) प्रणीतरसपरित्याग—घी-दूध आदि की बूंदें टपक रही हों—

---

१. छः प्रकार की गोचरी का वर्णन चारित्रप्रकाश पुञ्ज २ प्रश्न १४ में देखो।

२. औपपातिक. समवसरण १९ तथा भगवती २५।७।८०२

३. स्था. ९।६७४

४. स्था. ४।१।२७४

ऐसे रसयुक्त आहार का त्याग करना।

(३) आचाम्ल—भुने हुए उड़द-भात आदि एक धान्य के सिवा आहार का त्याग करना अर्थात् आयंबिल करना।

(४) अवस्रावणगतसिक्थ भोजन—पकाये पदार्थों से दूर किये गये जल में आये सिक्थों-अन्नादि के कणों का आहार करना।

(५) अरसाहार—हींग, मिर्च, नमकादि से असंस्कृत आहार करना।

(६) विरसाहार—जिसका रस चलित हो गया हो—ऐसे पुराने धान्य आदि का आहार करना।

(७) अन्ताहार—जघन्यधान्य-वल्लकादि (पाली-चना वगैरह) का आहार करना।

(८) प्रान्ताहार—जघन्यधान्य भी भोजन कर चुकने के बाद बचा हुआ हो, वह खाना।

(९) रूक्षाहार—रूखा-सूखा आहार करना। कहीं-कहीं तुच्छाहार-पाठ भी मिलता है—उसका अर्थ है कि निस्सार-आहार करना।

रसपरित्याग का विवेचन कई प्रकार से मिलता है। उमास्वाति के अनुसार मद्य-मांस-घृत-मक्खनादि रसवाली विकृतियों का त्याग करना एवं अरस-विरसादि आहार का अभिग्रह करना रसपरित्यागतप है[1]। आचार्यपूज्यपाद का कहना है कि घृतादि वृष्य-गरिष्ठ पदार्थों का परित्याग करना रसपरित्याग[2] है तथा नवतत्त्वस्तवन में षट्रसों के त्याग को रस-परित्याग माना है[3]। षट्रस का अर्थ दो प्रकार से किया गया है—कहीं घृत-दूध-दही-शक्कर-तेल और नमक को षट्रस कहा है और कहीं मधुर-अम्ल-कटु-कषाय-लवण और तिक्त—इन छः प्रकार के स्वादों को।

यहां एक बात ध्यान देने की है कि अरस-विरस आदि आहार को

---

१. तत्त्वार्थ. ९।१९ भाष्य ४

२. तत्त्वार्थ. ९।१९ सर्वार्थसिद्धि

३. नवतत्त्वस्तवन-विवेकविजयविरचित

खाना तप नहीं है परन्तु इनके उपरान्त जो त्याग किया जाता है, वह तप है।

पूर्वोक्त-अनशनादि चारों तपों में अन्तर इस प्रकार है[1]। अनशन में आहारमात्र की निवृत्ति है। ऊनोदरी में एक-दो आदि कवल का परित्याग कर आहार की मात्रा घटाई जाती है। वृत्तिसंक्षेप में क्षेत्रादि की अपेक्षा कायचेष्टादि का नियमन होता है और रसपरित्याग में रसों का समूचा ही परित्याग किया जाता है।

प्रश्न १४—कायक्लेशतप का तत्त्व बतलाइये !

उत्तर—शास्त्रोक्तविधि से वीरासनादि उग्र-आसनों में काया को स्थित करना अर्थात् विकट आसनों को धारण करके स्वाध्याय-ध्यान आदि करना **कायक्लेशतप** है। सीधी-सादी भाषा में कहें तो काय अर्थात् शरीर को क्लेश दुःख देना कायक्लेश है। आगम में कहा है—**देहदुक्खं महाफलं**[2]—ज्ञान एवं वैराग्यपूर्वक शरीर को दुःख देने से महान् लाभ होता है। कायक्लेश तपके तेरह भेद हैं[3]—स्थानस्थितिक, स्थानातिग, उत्कटुकासनिक, प्रतिमास्थायी, वीरासनिक, नैषद्यिक, दण्डायतिक, लकुटशायी, आतापक, अप्रावृतक, अकण्डूयक, अनिष्ठीवक, स्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त।

(१) **स्थानस्थितिक**—कायोत्सर्ग करके निश्चल बैठना।

(२) **स्थानातिग**—आसनविशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(३) **उत्कटुकासनिक**—उकड़ू आसन से बैठना। इसमें पैर के तले तथा एड़ी जमीन पर लगाकर अधर बैठा जाता है। अगर एड़ी उठाकर केवल पंजों पर बैठा जाए तो यही आसन गोदोहासन माना जाता है।

(४) **प्रतिमास्थायी**—एकमासिक, द्विमासिक यावत् एकरात्रिक

---

१. तत्त्वार्थ ९।१९ राजवार्तिक

२. दशवै. ८।२७

३. औपपातिक. समवसरण १९ तथा भगवती २५।७।८०२

प्रतिमा में स्थित होना अर्थात् कायोत्सर्ग विशेष करना।

(५) वीरासनिक—वीरासन में स्थित होना। जमीन पर दोनों पैरों को लटकाकर कुर्सी पर बैठे हुए व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो आसन बनता है, उसे वीरासन कहते हैं। यह आसन बहुत कठिन है।

(६) नैषधिक—बैठने के प्रकार-विशेष को निषद्या कहते हैं। निषद्या पांच प्रकार की है[1]—समपादयुता, गोनिषधिका, हस्तिशुण्डिका, पर्यङ्का और अर्धपर्यङ्का।

(क) जिसमें समानरूप से पैर और पुतों—कूल्हों से पृथ्वी या आसन का स्पर्श करते हुए बैठा जाय, वह समपादयुतानिषद्या है।

(ख) जिस आसन में गाय की तरह बैठा जाय, वह गोनिषधिका है।

(ग) जिस आसन में कूल्हों के ऊपर बैठकर एक पैर ऊपर रखा जाय, वह हस्तिशुण्डिका है।

(घ) पद्मासन से बैठना पर्यङ्कानिषद्या है।

(ङ) जंघा पर एक पैर चढ़ाकर बैठना अर्द्धपर्यङ्कानिषद्या है।

इनमें से किसी एक प्रकार की निषद्या से बैठकर कायोत्सर्ग करना कायक्लेशतप का पांचवा भेद है।

(७) दण्डायतिक—दण्ड की तरह लम्बा लेटकर कायोत्सर्ग करना दण्डायतिक है।

(८) लकुटशायी—टेढ़ी लकड़ी की तरह लेटकर कायोत्सर्ग करना। इस आसन में दोनों एड़ियां और सिर भूमि को छूने चाहिए। बाकी सारा शरीर धनुषाकर भूमि से ऊपर उठा रहना चाहिए अथवा केवल पीठ ही भूमि पर लगी रहनी चाहिए और सारा शरीर भूमि से ऊंचा रहना चाहिए।

(९) आतापक—तप-शीत आदि सहन रूप आतापना लेना। आतापना तप के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। सोते हुए की

---

१. स्था० ५।१।४००

आतापना उत्कृष्ट है। बैठे हुए की आतापना मध्यम है और खड़े हुए की आतापना जघन्य है। इनके नाम क्रमशः निष्पन्न, अनिष्पन्न तथा उर्ध्व-स्थित हैं। सोते हुए की आतापना तीन प्रकार की हैं—नीचे मुख करके सोना उत्कृष्ट है। एक पासे के बल सोना मध्यम है और सीधा सोना जघन्य है।

बैठे हुए की आतापना तीन प्रकार की है—गोदोहासन की आतापना उत्कृष्ट है। उत्कटुकासन की मध्यम एवं पर्यङ्कासन की जघन्य है।

खड़े हुए की आतापना तीन प्रकार की है—

१. हस्तिशुण्डिका आसन की आतापना उत्कृष्ट है।

२. एक पैर पर खड़े रहकर ली गई आतापना मध्यम है।

३. सामान्यरूप से खड़े होकर ली गई आतापना जघन्य है।

(१०) अप्रावृतक—वस्त्ररहित, नग्न होकर, सर्दी-गर्मी आदि को सहन करना।

(११) अकण्डूयक—खाज चलने पर न खुजलाना और उसे समभाव-पूर्वक सहन करना।

(१२) अनिष्ठीवक—थूक न निगलते हुए कायोत्सर्ग करना।

(१३) सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त—शरीर के किसी अंग का प्रतिकर्म-शुश्रूषा एवं विभूषा न करना।

प्रश्न १५—प्रतिसंलीनतातप से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रति का अर्थ है विरुद्ध व संलीनता का अर्थ है सम्यक् प्रकार से लीन होना। क्रोधादि विकारों के विरुद्ध (उनके निरोध में) लीन—उद्यत होना **प्रतिसंलीनतातप** है। इन्द्रिय, कषाय एवं योगों द्वारा होनेवाली असद्प्रवृत्तियों से हटाकर आत्मा को सद्प्रवृतियों में लगाना—यह प्रति-संलीनता का सीधा-सादा अर्थ है।

प्रतिसंलीनता के चार भेद हैं[1]—(१) इन्द्रियप्रतिसंलीनता, (२) कषाय-

---

१. औपपातिकसूत्र १९, भगवती २५।७।८०२ तथा स्था. ४।२।२७८ टीका

प्रतिसंलीनता, (३) योगप्रतिसंलीनता (४) विविक्तशयनासनसेवनता।

१. **इन्द्रियप्रतिसंलीनता के पांच भेद हैं**—(१) श्रोत्रेन्द्रियप्रति-संलीनता, (२) चक्षुरिन्द्रियप्रतिसंलीनता, (३) घ्राणेन्द्रियप्रतिसंलीनता, (४) रसनेन्द्रियप्रतिसंलीनता, (५) स्पर्शनेन्द्रियप्रतिसंलीनता।

कानों को विषयों-शब्दों की ओर जाने से रोकना तथा कानों द्वारा ग्रहण किये हुए विषयों में राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना अर्थात् अनुकूल शब्द सुनकर खुश न होना एवं प्रतिकूल शब्द सुनकर नाराज न होना **श्रोत्रेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता** है।

इसी प्रकार—आंख, नाक, जीभ एवं त्वचा को रूप, गन्ध, स्वाद एवं स्पर्श की ओर जाने से रोकना तथा गृहीत रूपादिक में राग-द्वेष न करना **चक्षुरिन्द्रियप्रतिसंलीनता** यावत् स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

२. (क) **कषायप्रतिसंलीनता चार प्रकार की है**—(१) क्रोधप्रति-संलीनता, (२) मानप्रतिसंलीनता, (३) मायाप्रतिसंलीनता, (४) लोभप्रतिसंलीनता।

क्रोध के उदय का निरोध करना अर्थात् उसको उत्पन्न न होने देना एवं उत्पन्न हुए क्रोध को निष्फल बना देना (शान्त कर देना) **क्रोधप्रति-संलीनता** है।

मान, माया एवं लोभप्रतिसंलीनता का अर्थ भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

३. **योगप्रतिसंलीनता के तीन भेद हैं**—(क) मनोयोगप्रतिसंलीनता, (ख) वचनयोगप्रतिसंलीनता, (ग) काययोगप्रतिसंलीनता।

(क) मन की अकुशल-अशुभ प्रवृत्ति को रोकना एवं कुशल-शुभ प्रवृत्ति करना और मन को एकाग्र-स्थिर करना—**मनोयोगप्रतिसंलीनता** है।

(ख) अकुशलवचन को रोकना एवं कुशल वचन बोलना और वचन को एकाग्र करना यानी मौन करना **वचनयोगप्रतिसंलीनता** है।

(ग) सुसमाधिपूर्वक शान्त होकर हाथ-पैर को संकुचित करके कछुए

की तरह गुप्तेन्द्रिय होकर सब अंगों को प्रतिसंलीन—स्थिर करना **काययोग-प्रतिसंलीनता** है।

४. **विविक्तशयनासनसेवनता**—स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित आराम-उद्यान-देवकुल आदि स्थानों में निर्दोष शयन-आसनादि ग्रहण करके रहना **विविक्तशयनासनसेवनता** है।

इस प्रकार प्रतिसंलीनतातप के ये तेरह भेद हो गए—इन्द्रियप्रतिसंलीनता के पांच, कषायप्रतिसंलीनता के चार, योगप्रतिसंलीनता के तीन एवं एक विविक्तशयनासनसेवनता।

दसवां पुञ्ज

प्रश्न १—अनशन आदि छः तप वाह्य एवं प्रायश्चित्तादि आगे कहे जानेवाले छः तप आभ्यन्तर क्यों कहलाते हैं ?

उत्तर—अनशन आदि में वाह्य-अशनादिद्रव्यों की अपेक्षा रहती है। ये तप दूसरों के द्वारा ज्ञेय होते हैं और अन्य-तीर्थिकों तथा गृहस्थों द्वारा भी किए जाते हैं अतः इनको वाह्यतप कहते हैं[1]।

प्रायश्चित्तादि छः तप अन्यतीर्थिकों द्वारा अनभ्यस्त और अप्राप्तपार होते हैं। ये अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं तथा इन्हें वाह्यद्रव्यों की अपेक्षा नहीं रहती अतः ये आभ्यन्तरतप कहलाते हैं।

यह कथन भी व्यवहारदृष्टि से है। निश्चयदृष्टि से तो दोनों तप अन्तरंग हैं क्योंकि दोनों ही वैराग्यवृत्ति एवं कर्मों का क्षय करने की दृष्टि से किये जाते हैं, अस्तु ! अव प्रायश्चित्तादि आभ्यन्तरतप को समझिए !

प्रश्न २—प्रायश्चित्त का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिससे मूलगुण और उत्तरगुणविषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो, उस आलोचना आदि तपस्या को **प्रायश्चित्त** कहते हैं। प्रायः का अर्थ पाप है और चित्त का अर्थ शुद्धि। जिस अनुष्ठान से पाप की शुद्धि हो, उसका नाम प्रायश्चित्त है।[2]

---

१. तत्त्वार्थ. ९।१९-२०. राजवार्तिक

२. अभिधानराजेन्द्र, भाग ५, पृष्ठ ३२९

प्रायश्चित्त के चार भेद हैं[1]—१. प्रतिसेवनाप्रायश्चित्त, २. संयोजना-प्रायश्चित्त, ३. आरोपणाप्रायश्चित्त, ४. परिकुञ्चनाप्रायश्चित्त।

(१) प्रतिषिद्ध अर्थात् नहीं करने योग्य कार्य का सेवन करना **प्रतिसेवना** है। उसकी शुद्धि के लिए जो आलोचना-प्रतिक्रमण आदि किए जाते हैं, उन्हें **प्रतिसेवनाप्रायश्चित्त** कहते हैं। इसके दस भेद हैं।

(२) एकजातीय अतिचारों-दोषों का मिल जाना **संयोजना** है। जैसे—कोई साधु शय्यातरपिण्ड लाया, वह भी गीले हाथों से, वह भी सामने लाया हुआ और वह भी आधाकर्मी—इस प्रकार के संयुक्त दोषों का जो प्रायश्चित्त होता है, उसे **संयोजनाप्रायश्चित्त** कहते हैं।

(३) एक अपराध का प्रायश्चित्त करने पर बार-बार उसी अपराध का सेवन करने से विजातीय-प्रायश्चित्त का आरोपण करना **आरोपणा-प्रायश्चित्त** है। जैसे—एक अपराध के लिए पांच दिन के तप का प्रायश्चित्त दिया। फिर उसी का सेवन करने पर दस दिन का, फिर सेवन करने पर पन्द्रह दिन का, इस प्रकार छः मास तक लगातार प्रायश्चित्त देना। छः मास से अधिक तप का प्रायश्चित्त नहीं होता।

(४) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अपराध को छिपाना या दूसरा रूप देना **परिकुञ्चना** है। इसका जो प्रायश्चित्त है, वह **परिकुञ्चना प्रायश्चित्त** कहलाता है।

प्रश्न ३—प्रतिसेवना-प्रायश्चित्त के दस भेद कौन-कौन से हैं?

उत्तर—दस भेद इस प्रकार हैं[2]—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह, (९) अनवस्थाप्यार्ह, (१०) पाराञ्चिकार्ह।

(१) संयम में लगे हुए दोष को गुरु के समक्ष स्पष्टवचनों से सरलता-

---

१. स्था. ४।१।२६३ तथा दशवै. १।१ हरिभद्रीय टीका।

२. भगवती २५।७।७९९ तथा स्था. १०।७३३

पूर्वक प्रकट करना **आलोचना** है। आलोचना-मात्र से जिस दोष की शुद्धि हो जाए, उसे **आलोचनार्हदोष** कहते हैं। ऐसे दोष की आलोचना करना **आलोचनार्हप्रायश्चित्त** है। गोचरी-पञ्चमी आदि में लगे हुए अतिचारों की जो गुरु के पास आलोचना की जाती है, वह इसी प्रायश्चित्त का रूप है।

(२) **प्रतिक्रमणार्ह**—किये हुए दोष से पीछे हटना अर्थात् उसके पश्चात्ताप-स्वरूप **मिच्छामि दुक्कडं**—'मेरा पाप-मिथ्या (निष्फल) हो' ऐसी भावना प्रकट करना **प्रतिक्रमण** है। जिस दोष की मात्र प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कडं कहने) से शुद्धि हो जाये, वह **प्रतिक्रमणर्हदोष** है एवं उसके लिए प्रतिक्रमण करना **प्रतिक्रमणार्हप्रायश्चित्त** है। समिति-गुप्ति में अकस्मात् दोष लग जाने पर 'मिच्छामि-दुक्कडं' कहकर उक्त प्रायश्चित्त लिया जाता है। फिर गुरु के पास आलोचना करने की आवश्यकता नहीं रहती।

(३) **तदुभायार्ह**—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करने से जिस दोष की शुद्धि हो, उसके लिए आलोचना-प्रतिक्रमण करना **तदुभयार्ह-प्रायश्ित्त** है। एकेन्द्रियादि जीवों का संघट्टा होने पर साधु द्वारा उक्त प्रायश्चित्त लिया जाता है, अर्थात् 'मिच्छामि दुक्कडं' बोला जाता है एवं वाद में गुरु के पास इस दोष की आलोचना भी की जाती है।

(४) **विवेकार्ह**—किसी वस्तु के विवेक-त्याग से दोष की शुद्धि हो, उस वस्तु का त्याग करना—**विवेकार्हप्रायश्चित्त** है। जैसे—आधाकर्म आदि आहार आजाता है तो उसको अवश्य परठना पड़ता है। ऐसा करने से ही दोष की शुद्धि होती है।

(५) **व्युत्सर्गार्ह**—व्युत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग से जिस दोष की शुद्धि हो, उसके लिए वह करना **व्युत्सर्गार्हप्रायश्चित्त** है। नदी आदि पार करने के वाद यह प्रायश्चित्त लिया जाता है अर्थात् कायोत्सर्ग किया जाता है।

(६) **तपार्ह**—तप करने से जिस दोष की शुद्धि हो, उसके लिए तप करना **तपार्हप्रायश्चित्त** कहलाता है। इस प्रायश्चित्त में निर्वृकृति-

आयंविल-उपवास-वेला-पांचदिन-दसदिन-पन्द्रह दिन-मास-चारमास एवं छः मास तक का तप किया जाता है। (मासवाला प्रायश्चित्त-**मासिक** यावत् छः मासवाला प्रायश्चित्त **पाण्मासिक** कहलाता है।)

(७) **छेदार्ह**—दीक्षापर्याय का छेद करने से जिस दोष की शुद्धि हो, उसके लिए दीक्षापर्याय का छेदन करना **छेदार्हप्रायश्चित्त** है। इसके भी मासिक-चातुर्मासिक आदि भेद हैं। तपरूप प्रायश्चित्त से भी इसका काम कठिन है क्योंकि छोटे साधु सदा के लिए बड़े वन जाते हैं। जैसे—किसी ने छेदरूप चातुर्मासिक प्रायश्चित्त लिया, तो उसकी दीक्षा के वाद चार महीनों में जितने भी व्यक्ति दीक्षित हुए हैं, सब सदा के लिए उससे बड़े हो जाएंगे। कारण, उसका चार मास का साधुपना काट लिया गया।

छेद या तपरूप मासिकप्रायश्चित्त के दो भेद हैं[1]—**उद्घातिक** और **अनुद्घातिक**। उद्घातिक-मासिकप्रायश्चित्त दो प्रकार का है—**भिन्न-मासिक** एवं **लघुमासिक**। भिन्नमासिक के जघन्य रूप में एक दिन निर्विकृति अर्थात् विगय का त्याग करना पड़ता है तथा उत्कृष्ट रूप में २५ दिन का तप या छेद स्वीकार करना पड़ना है। लघुमासिक में जघन्य पुरिमड्ढ करना (आधे दिन तक भूखा रहना) पड़ता है एवं उत्कृष्ट २७ दिन का तप या छेद होता है।

अनुद्घातिक का अर्थ गुरुमासिक है। इसमें जघन्य एकासन (दिन में एक ही वार खाकर रहना) और उत्कृष्ट ३० दिन का तप या छेद होता है।

चातुर्मासिक एवं पाण्मासिक प्रायश्चित्त भी दो प्रकार के हैं—उद्घातिक एवं अनुद्घातिक अर्थात् लघु एवं गुरु। लघुचातुर्मासिक में जघन्य आयंविल एवं उत्कृष्ट १०५ दिन का तप या छेद होता है तथा गुरुचातु-र्मासिक में जघन्य एक उपवास व उत्कृष्ट १२० दिन का तप या छेद होता है।

---

१. निशीथसूत्र के टब्वे के अन्त में दी हुई प्रणाली के आधार से।

लघुषाण्मासिक में जघन्य वेला एवं उत्कृष्ट १६५ दिन का तप या छेद होता है। गुरुषाण्मासिक में जघन्य तेला एवं उत्कृष्ट १८० दिन का तप या छेद होता है।

मासिकादि प्रायश्चित्तों की जघन्यता एवं उत्कृष्टता दोषों की मन्दता-तीव्रता तथा दोषी की परिस्थिति के अनुसार होती है। किसको किस प्रकार का प्रायश्चित्त देना—यह निष्पक्ष-प्रायश्चित्तदाता के विचारों पर निर्भर है।

किन-किन दोषों का सेवन करने से मासिक-चातुर्मासिक एवं षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है, यह वर्णन निशीथ, बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र से जानने योग्य है।

(८) **मूलार्ह**—जिस दोष की शुद्धि चारित्रपर्याय को सर्वथा छेदकर पुनः महाव्रतों के आरोपण से होती है, उसके लिए वैसा करना अर्थात् दुवारा दीक्षा देना **मूलार्हप्रायश्चित्त** है। (मनुष्य, गाय, भैंस आदि की हत्या, उनकी हत्या होजाये-ऐसा झूठ, शिष्यादि की चोरी एवं ब्रह्मचर्यभङ्ग जैसे महान् दोषों का सेवन करने से उक्त प्रायश्चित्त आता है।)

(९) **अनवस्थाप्यार्ह**—जिस दोष की शुद्धि संयम से अनवस्थापित—अलग होकर विशेष तप एवं गृहस्थ का वेश धारण कर फिर से नई दीक्षा लेने पर होती है, उसके लिए पूर्वोक्त कार्य करना **अनवस्थाप्यार्ह-प्रायश्चित्त** है।

(१०) **पाराञ्चिकार्ह**—जिस महादोष की शुद्धि पाराञ्चिक अर्थात् वेश और क्षेत्र का त्याग कर महातप करने से होती है, उसके लिए वैसा करना **पाराञ्चिकार्हप्रायश्चित्त** है।

स्था. ५।१।३९८ में पाराञ्चिकप्रायश्चित्त के पांच कारण कहे हैं—(१) गण में फूट डालना, (२) फूट डालने के लिए तत्पर रहना, (३) साधु आदि को मारने की भावना रखना, (४) मारने के लिए छिद्र देखते रहना, (५) वार-वार असंयम के स्थानरूप सावद्यअनुष्ठान की पूछताछ करते रहना अर्थात् अंगूष्ठ-कुड्य आदि प्रश्नों का प्रयोग करना

(इन प्रश्नों से दीवार या अंगूठे में देवता बुलाया जा सकता है)। इन पांच कारणों के सिवा साध्वी या राजरानी का शीलभङ्ग करने पर भी यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी शुद्धि के लिए अपराधी को छः मास से लेकर बारह वर्ष तक गण, साधुवेश एवं अपने क्षेत्र को छोड़कर जिन-कल्पिक साधु की तरह कठोरतपस्या करनी पड़ती है एवं उक्त कार्य सम्पन्न होने के बाद उसे नई दीक्षा दी जाती है।

टीकाकार कहता है कि यह प्रायश्चित्त महापराक्रमी आचार्य को ही दिया जाता है। उपाध्याय के लिए नवें प्रायश्चित्त तक और सामान्य साधु के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का विधान है।

यह भी कहा गया है कि जब तक चौदहपूर्वधारी एवं वज्रऋषभना-राचसंहननवाले साधु होते हैं, तभी तक ये दसों प्रायश्चित्त रहते हैं। उनका विच्छेद होने के बाद केवल आठ प्रायश्चित्त रहते हैं।

प्रश्न ४—प्रायश्चित्त के भेद तो समझ में आगये लेकिन अब यह बतलाइये कि प्रतिसेवना अर्थात् दोषों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना क्यों होती है?

उत्तर—व्यक्ति दस कारणों से स्खलना करके संयम की विराधना करता है अतः कारणभेद से प्रतिसेवना के दस भेद कहे हैं[1]—

(१) **दर्पप्रतिसेवना**—अहंकार से होनेवाली संयम की विराधना।

(२) **प्रमादप्रतिसेवना**—मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—इन पांच प्रकार के प्रमादों के सेवन से होनेवाली संयम की विराधना।

(३) **अनाभोगप्रतिसेवना**—अज्ञान के वश होनेवाली संयम की विराधना।

(४) **आतुरप्रतिसेवना**—भूख, प्यास आदि किसी पीड़ा से व्याकुल होकर की गई संयम की विराधना।

---

१. भगवती २५।२७ तथा स्था. १०।७३३

(५) आपत्प्रतिसेवना—किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना। आपत्ति चार प्रकार की होती है—

(क) द्रव्यापत्ति—प्रासुक आहारादि न मिलना।

(ख) क्षेत्रापत्ति—अटवी आदि भयंकर जंगल में रहना पड़े।

(ग) कालापत्ति—दुर्भिक्ष आदि पड़ जावे।

(घ) भावापत्ति—बीमार हो जाना, शरीर का अस्वस्थ होना।

(६) संकीर्णप्रतिसेवना—स्वपक्ष एवं परपक्ष से होनेवाली जगह की तंगी के कारण संयम का उल्लङ्घनकरना अथवा शङ्कित-प्रतिसेवना ग्रहण करने योग्य आहार आदि में किसी दोप की शङ्का हो जाने पर भी उसे ले लेना।

(७) सहसाकारप्रतिसेवना—अकस्मात् अर्थात् बिना सोचे-समझे किसी अनुचित काम के कर लेने से होनेवाली संयम की विराधना।

(८) भयप्रतिसेवना—भय से संयम की विराधना करना। जैसे—लोकनिन्दा एवं अपमान से डरकर झूठ बोल जाना, संयम को छोड़कर भाग जाना और आत्महत्या आदि कर लेना।

(९) प्रद्वेषप्रतिसेवना—किसी के प्रद्वेप या ईर्ष्या से (झूठा कलङ्क आदि लगाकर) संयम की विराधना करना। यहां प्रद्वेप से क्रोधादि चारों कपायों का ग्रहण किया गया है।

(१०) विमर्शप्रतिसेवना—शिष्यादि की परीक्षा के लिए (उसे धमका कर या उस पर झूठा आरोप लगा कर) की गई संयम की विराधना।

इस प्रकार दस कारणों से चारित्र में दोप लगता है। इनमें से दर्प, प्रमाद और द्वेप के कारण जो दोप लगाये जाते हैं, उनमें चारित्र के प्रति उपेक्षा का भाव और विपय-कपाय की परिणति मुख्य है। भय, आपत्ति और संकीर्णता में चारित्र के प्रति उपेक्षा तो नहीं, किन्तु परिस्थिति की विपमता-संकटकालीनअवस्था को पार करके उत्सर्ग की स्थिति पर पहुंचने की भावना है। अनाभोग और अकस्मात् में तो अनजानेपन से दोप का सेवन हो जाता है और विमर्श में चाहकर दोप लगाया जाता है।

यह भावी हिताहित को समझने के लिए है। इसमें भी चारित्र की उपेक्षा नहीं होती।

प्रश्न ५—उपरोक्त दस कारणों से दोष-पाप लग जाने पर क्या करना चाहिए ?

उत्तर—आचार्य-उपाध्याय आदि योग्यपुरुषों के पास जाकर शुद्ध-मन से निःसंकोच होकर अपने दोषों की आलोचना कर लेनी चाहिए। आगम में कहा है कि[1]—

लज्जा या गर्व के वश जो गुरु के समीप आलोचना नहीं करते, वे श्रुत से अत्यन्त समृद्ध होते हुए भी आराधक नहीं होते।

कृत-पापों की आलोचना करने की भावना से गुरु के समीप जाता हुआ व्यक्ति यदि बीच में मर जाए तो वह आराधक है[2]।

भगवती १०।२ में कहा है कि मरते समय आलोचना आदि कर लूंगा, ऐसा सोचता हुआ मुनि यदि आलोचना-प्रतिक्रमण किये विना काल कर जाता है तो उसके संयम की आराधना नहीं होती एवं आलोचना-प्रतिक्रमण करके मरता है तो उसके संयम की आराधना होती है अर्थात् पहला विराधक होता है और दूसरा आराधक।

स्थानाङ्ग ८।५९७ में कहा है कि जो व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना कर लेता है, वह मरकर विशालसमृद्धि, लम्बी आयु तथा उच्चजाति का देवता बनता है (किल्विषिक, आभियोगिक, कान्दर्पिक आदि नहीं बनता)। वह वहां दिव्यवस्त्र, दिव्यआभूषण, दिव्यतेज आदि से दसों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ विविध नाटक, गीत, वादित्रों के साथ दिव्यभोगों का अनुभव करता है। वह देवताओं में विशेष सम्माननीय होता है तथा जब देवसभा में भाषण देने लगता है तब चार-पांच देवता खड़े होकर कहते हैं—हे देवानुप्रिय ! और कहिए—और कहिए ! आपका

---

१. मरणसमाधि, प्रकीर्णक १०३

२. आवश्यक ४.

भापण वहुत प्रिय लगता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने दोपों की आलोचना किए विना मरता है, वह नरकादि दुर्गतियों में जाता है। पहले कुछ त्याग-तपस्या की हुई होने के कारण कदाच व्यन्तर-किल्विपिक आदि देव वन जाता है तो उसकी आयु, ऋद्धि, तेज आदि अल्प होते हैं, उसे उच्च-आसन एवं सम्मान नहीं मिलता। जव वह वोलने के लिए खड़ा होता है तो चार या पांच देवता उसे रोकते हुए कहते हैं—वस, रहने दीजिये! अधिक मत वोलिये!

स्वर्ग से च्यवकर यदि वह मनुष्य-लोक में आता है तो अन्त (छिपा आदि), प्रान्त (चाण्डालादि), तुच्छ (असम्मानित), दरिद्र या भिक्षुकादि कुलों में उत्पन्न होता है एवं अमनोज्ञ वर्ण-गन्धरस-स्पर्श वाला तथा हीन-दीन स्वरवाला होता है।

प्रश्न ६—शास्त्रों में इतना कुछ कहा है, फिर भी व्यक्ति अपने कृत पापों की आलोचना क्यों नहीं करता?

उत्तर—आगमानुसार इन कई कारणों से व्यक्ति अपने पापों की आलोचना नहीं करता[1]। वह सोचता है कि मैंने भूतकाल में दोपसेवन किया है, वर्तमान में कर रहा हूं, भविष्य में किये विना नहीं रह सकता तथा आलोचना आदि करने से मेरे कीर्ति-यश एवं पूजा-सत्कार नष्ट हो जाएंगे।

इन निम्नोक्त कारणों से व्यक्ति अपने पापों की आलोचना आदि करता है—वह सोचता है कि आलोचना आदि न करने से मेरा इहलोक, परलोक और आत्मा निन्दित होते हैं एवं आलोचना करने से इहलोक आदि प्रशस्त होते हैं तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शुद्धि होती है।

प्रश्न ७—आलोचना करने से और क्या विशेष लाभ होता है?

---

१. स्था. ३।३ तथा स्था. ८।५९७

उत्तर—भगवान् ने कहा है कि कृत पापों की आलोचना करने से जीव अनन्तसंसार को वढ़ानेवाले, मोक्षमार्ग के विघ्नरूप-मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य जो आत्मा में रहे हुए हैं, उन्हें निकाल फेंकता है एवं सरलस्वभावी वन जाता है। सरलस्वभावी जीव निष्कपट होने के कारण स्त्रीवेद-नपुंसकवेद कर्म का वन्ध नहीं करता। यदि पहले वंधे हुए हों तो उन्हें तोड़ डालता है।[1]

कहा जाता है कि माया करने से पुरुष स्त्री वनता है, स्त्री नपुंसक वनती है एवं नपुंसक मनुष्य तिर्यञ्चगति को प्राप्त हो जाता है।

तीन शल्यों का स्वरूप—जिससे वाधा-पीड़ा हो, उसे शल्य कहते हैं। कांटा, भाला, तीर का अग्रभाग, वन्दूकादि की गोलियां इत्यादि जो शरीर के अन्दर जाकर चुभते हैं—पीड़ा करते हैं, वे **द्रव्यशल्य** कहलाते हैं तथा जो आत्मा को पीड़ा देते हैं, वे **भावशल्य** हैं। भावशल्य के तीन भेद हैं[2]—१. मायाशल्य, २. निदानशल्य, ३. मिथ्या-दर्शनशल्य।

(१) **मायाशल्य**—अतिचार-दोष लगाकर माया से उसकी आलोचना न करना अथवा गुरु के समक्ष अन्य रूप से (वात को वदलकर) निवेदन करना अर्थात् दूसरों पर झूठा कलंक लगाना—इस प्रकार किसी भी तरह मन में कपटभाव रखना **मायाशल्य** है।

(२) **निदानशल्य**—राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर विचार करना कि मेरे द्वारा आचरण किये हुए ब्रह्मचर्य-तप आदि अनुष्ठानों के फलस्वरूप मुझे भी ये ऋद्धियां प्राप्त हों—यह **निदानशल्य** है। इसे नियाणा भी कहते हैं। आगमों में नौ नियाणों का वर्णन है[3]।

(३) **मिथ्यादर्शनशल्य**—विपरीतश्रद्धा का होना-मिथ्यादर्शनशल्य है। हां, तो आलोचना करने वाला व्यक्ति इन तीनों प्रकार के शल्यों से

---

१. उत्तरा. २९।५

२. स्था. ३।३।१८२, समावायाङ्ग ३ तथा धर्मसंग्रह. अधि. ३, पृष्ठ ७९, श्लोक २७

३. दशाश्रुतस्कन्ध १०

मुक्त हो जाता है। उपरोक्त तीन शल्यों में जो नौ नियाणे कहे हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है। एक वार राजा श्रेणिक तथा महारानी **चेलना** भगवान् के दर्शन करने गये। राजा-रानी के वैभव तथा रूप-लावण्य को देखकर कुछ साधुओं ने निश्चय किया कि हमारी तपस्या का फल हो तो हम श्रेणिक जैसे वैभवशाली राजा वनें। साध्वियों ने संकल्प किया कि हम अगले जन्म में चेलना जैसी भाग्यशालिनी स्त्रियां वनें। भगवान् ने उसी समय साधु-साध्वियों को बुलाकर नियाणों का स्वरूप एवं उनके भेद समझाये और कहा—जो व्यक्ति नियाणा करके (अपनी तपस्या को वेच करके) मरता है, वह एक वार नियाणे के फलस्वरूप दिव्यऋद्धि पाकर फिर बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। नियाणों के नौ भेद निम्नलिखित हैं—

(१) एक पुरुष दूसरे समृद्धिशाली पुरुष को देखकर वैसा वनने का नियाणा करता है।

(२) स्त्री अच्छे पुरुष को प्राप्त करने के लिए नियाणा करती है।

(३) पुरुष अच्छी स्त्री को प्राप्त करने के लिए नियाणा करता है।

(४) स्त्री किसी समृद्ध स्त्री को देखकर वैसी वनने का नियाणा करती है।

(५) कोई व्यक्ति देवगति में उत्पन्न होकर अपनी तथा दूसरों की देवियों को वैक्रियशरीर द्वारा भोगने का नियाणा करता है।

(६) कोई व्यक्ति देवभव में सिर्फ अपनी देवी को वैक्रिय करके भोगने का नियाणा करता है।

(७) कोई व्यक्ति देवभव में अपनी देवी को विना वैक्रिय (मूल रूप से) भोगने का नियाणा करता है।

(८) कोई व्यक्ति अगलेभव में श्रावक वनने का नियाणा करता है।

(९) कोई व्यक्ति अगलेभव में साधु होने का नियाणा करता है।

इन नौ नियाणों में में से पहले चार नियाणे करनेवाला जीव केवलि प्ररूपित धर्म को सुन भी नहीं सकता। पांचवें नियाणेवाला धर्म को सुन

तो लेता है किन्तु समझ नहीं सकता अर्थात् दुर्लभवोधि होता है और वहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। छठे नियाणेवाला जीव जिनधर्म को सुन-समझकर भी दूसरे धर्म की तरफ रुचि रखनेवाला होता है। सातवें नियाणेवाला सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है अर्थात् उसे धर्म पर श्रद्धा तो होती है लेकिन व्रत विलकुल नहीं ले सकता। आठवें नियाणेवाला श्रावक-व्रत ले सकता है लेकिन साधु नहीं वन सकता। नौवें नियाणेवाला साधु वन सकता है लेकिन उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकता।

भगवान् के इस उपदेश को सुनकर साधु-साध्वियों ने अपने नियाणों की आलोचना की एवं प्रतिक्रमण करके तपोनुष्ठान स्वीकार किया और शुद्ध हुए।

प्रश्न ८—आलोचना कौन कर सकता है?

उत्तर—आगमों में कहा है कि[1] दस गुणों से युक्त मुनि अपने दोषों की आलोचना करने में समर्थ होता है।

(१) **जातिसम्पन्न**—उच्चजातिवाला व्यक्ति। यह प्रथम तो ऐसा वुरा काम करता ही नहीं एवं भूल से कर लेने पर शुद्धमन से आलोचना कर लेता है।

(२) **कुलसम्पन्न**—उत्तमकुलवाला। यह व्यक्ति लिए हुए प्रायश्चित्त को नियमपूर्वक अच्छी तरह से पूरा करता है।

(३) **विनयसम्पन्न**—विनयवान्। यह वड़ों की वात मानकर हृदय से आलोचना कर लेता है।

(४) **ज्ञानसम्पन्न**—ज्ञानवान्। यह मोक्षमार्ग की आराधना के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं—इस वात को भली प्रकार समझकर आलोचना कर लेता है।

(५) **दर्शनसम्पन्न**—श्रद्धावान्। यह भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण शास्त्रों में वताई हुई प्रायश्चित्त से होनेवाली शुद्धि को

---

१. भगवती. २५।७।७९९ तथा स्था. १०।७३३

मानता है एवं आलोचना कर लेता है।

(६) **चारित्रसम्पन्न**—उत्तमचारित्रवाला। यह अपने चारित्र को शुद्ध करने के लिए दोषों की आलोचना करता है।

(७) **क्षान्त**—क्षमावान्। यह किसी दोष के कारण गुरु से भर्त्सना या फटकार मिलने पर क्रोध नहीं करता किन्तु अपना दोष स्वीकार करके आलोचना कर लेता है।

(८) **दान्त**—इन्द्रियों को वश में रखनेवाला। यह इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त होने के कारण कठोर से कठोर प्रायश्चित्त को भी शीघ्र स्वीकार कर लेता है एवं पापों की आलोचना शुद्ध हृदय से करता है।

(९) **अमायी**—माया-कपट-रहित। यह अपने पापों को बिना छिपाये खुले दिल से आलोचना करता है।

(१०) **अपश्चात्तापी**—आलोचना कर लेने के बाद पश्चात्ताप न करनेवाला। यह आलोचना करके अपने आपको धन्य एवं कृतपुण्य मानता है।

प्रश्न ९—आलोचना किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर—आलोचना के दस दोष माने गए हैं।[1] उनका परित्याग करते हुए आलोचना करनी चाहिए।

(१) **आकंपयित्ता**—प्रसन्न होने पर गुरू थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, यह सोचकर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर उनके पास दोषों की आलोचना करना।

(२) **अणुमाणइत्ता**—पहले छोटे से दोष की आलोचना करके, आचार्य कितना दण्ड देते हैं, यह अनुमान लगाकर शेष दोषों की आलोचना करना अथवा प्रायश्चित्त के भेदों को पूछकर दण्ड का अनुमान लगा लेना एवं फिर आलोचना करना।

(३) **दिट्ठं (दृष्ट)**—जिस दोष को आचार्य आदि ने देख लिया हो,

---

१. भगवती. २५।७।७९९ तथा. स्था १०।७३३

उसी की आलोचना करना।

(४) **वायरं (स्थूल)**—सिर्फ वड़े-वड़े दोषों की आलोचना करना।

(५) **सुहुमं (सूक्ष्म)**—जो अपने छोटे-छोटे अपराधों की भी आलोचना करता है, वह वड़े दोषों को कैसे छिपा सकता है, यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए केवल छोटे-छोटे पापों की आलोचना करना।

(६) **छन्नं (प्रच्छन्न)**—लज्जालुता का प्रदर्शन करते हुए प्रच्छन्न स्थान में—आचार्य भी न सुन सके—ऐसी आवाज़ से आलोचना करना।

(७) **सद्दाउलयं (शब्दाकुल)**—दूसरों को सुनाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से वोलकर आलोचना करना।

(८) **बहुजण (बहुजन)**—एक ही दोष की वहुत से गुरुओं के पास आलोचना करना (प्राय: प्रशंसार्थी होकर ऐसा किया जाता है)।

(९) **अव्वत्त (अव्यक्त)**—किस अतिचार का क्या प्रायश्चित्त दिया जाता है, इस वात का जिसे ज्ञान नहीं हो, ऐसे अगीतार्थ साधु के पास आलोचना करना।

(१०) **तस्सेवी (तत्सेवी)**—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करनेवाले आचार्यादि के पास यह सोचते हुए आलोचना करना कि स्वयं दोषी होने के कारण उलाहना न देगा और प्रायश्चित्त भी कम देगा।

प्रश्न १०—जिनके पास पापों की आलोचना की जाए वे आचार्य आदि कैसे होने चाहिए?

उत्तर—भगवान् का कथन है कि जो अनेक आगमों (शास्त्रों) के जानकार हैं, आलोचना करनेवाले को मधुर वचनों से समाधि उत्पन्न कर सकते हैं एवं गुणग्राही हैं, ऐसे महापुरुष ही अपने इन उपरोक्त गुणों के कारण आलोचना सुनने अर्थात् देने के अधिकारी हैं।[1]

---

१. उत्तरा. ३६।२६२

आलोचना देनेवाले के दस गुण वतलाये हैं[1]—(१) आचारवान्, (२) आधारवान्, (३) व्यवहारवान्, (४) अपव्रीड़क, (५) प्रकुर्वक, (६) अपरिस्रावी, (७) निर्यापक, (८) अपायदर्शी, (९) प्रियधर्मा, (१०) दृढ़धर्मा।

(१) आचारवान्—वह (१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चरित्राचार, (४) तपआचार, (५) वीर्याचार—इन पाँचों आचारों से सम्पन्न होना चाहिए।[2]

(२) आधारवान् (अवधारणावान्)—वह आलोचक के वतलाये हुए दोषों को वरावर याद रख सकने वाला होना चाहिए क्योंकि गम्भीर अतिचारों को दो या तीन वार सुना जाता है एवं आगमानुसार उनका प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रायश्चित्त देते समय आलोचनादाता को आलोचक के दोषों का स्मरण वरावर रहना चाहिए ताकि प्रायश्चित्त कम-ज्यादा न दिया जाये।

(३) व्यवहारवान्—वह आगम आदि पांचों व्यवहारों का ज्ञाता एवं उचित विधि से प्रवर्तनकर्त्ता होना चाहिए।

व्यवहारों का स्वरूप—मोक्षाभिलाषी आत्माओं की प्रवृत्ति-निवृत्ति को एवं तत्सम्वन्धी ज्ञान-विशेष को व्यवहार कहते हैं। व्यवहार के पांच भेद हैं—(क) आगमव्यवहार, (ख) श्रुतव्यवहार, (ग) आज्ञाव्यवहार, (घ) धारणाव्यवहार, (ङ) जीतव्यवहार।[3]

(क) आगमव्यवहार—केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, चौदहपूर्व, दशपूर्व और नवपूर्व का ज्ञान आगम है। आगमज्ञान के आधार पर किया गया प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार आगमव्यवहार कहलाता है।

(ख) श्रुतव्यवहार—आचार-प्रकल्प (आचाराङ्ग-निशीथ) आदि

---

१. भगवती. २५।७ तथा स्था. १०।७३३

२. पांच आचारों का वर्णन—देखो चारित्र-प्रकाश, पुञ्ज ५, प्रश्न ७ में।

३. स्था. ५।२।४२१, भगवती. ८।८।३४० तथा व्यवहारसूत्रपीठिका भाष्य गा. १-२

आगमों का ज्ञान **श्रुत** है। उसके आधार से प्रवर्तित किया जानेवाला व्यवहार **श्रुतव्यवहार** कहलाता है। यद्यपि नव, दस और चौदह-पूर्व का ज्ञान भी श्रुत रूप है परन्तु अतीन्द्रिय—अर्थविषयक (इन्द्रियों से आगे की वस्तु के विषयवाले) विशिष्टज्ञान का कारण होने से उक्त ज्ञान अतिशय-वाला है और इसीलिए वह आगमरूप माना गया है।

(ग) **आज्ञाव्यवहार**—दो गीतार्थ साधु एक-दूसरे से अलग दूर देश में रहे हुए हों और शरीर क्षीण हो जाने से विहार करने में असमर्थ हों, उनमें से किसी एक को प्रायश्चित्त आने पर वह मुनि योग्य-गीतार्थ शिष्य के अभाव में मति और धारणा में अकुशल अगीतार्थ शिष्य को आगम की सांकेतिक गूढ़भाषा में अपने अतिचार-दोष कहकर या लिखकर उसे अन्य गीतार्थमुनि के पास भेजता है एवं उसके द्वारा आलोचना करता है। गूढ़ भाषा में कही या लिखी हुई आलोचना को पाकर वह गीतार्थमुनि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-संहनन-धैर्य-बल आदि का विचार करके स्वयं वहां आता है या योग्य-गीतार्थशिष्य को समझाकर भेजता है। यदि वैसे शिष्य का उसके पास भी योग न हो तो आलोचना का सन्देश लानेवाले मुनि के साथ ही गूढ़अर्थवाले शब्दों में प्रायश्चित्त का सन्देश देता है। उनके सन्देशानुसार प्रायश्चित्त लेना **आज्ञाव्यवहार** है।

(घ) **धारणाव्यवहार**—किसी गीतार्थ-संविग्नमुनि ने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से जिस अपराध में जो प्रायश्चित्त दिया है, उसकी धारणा से वैसे अपराध में उसी प्रकार से प्रायश्चित्त का प्रयोग करना **धारणाव्यवहार** है।

वैयावृत्त्य आदि करने से जो साधु गच्छ का उपकारी हो, वह यदि सम्पूर्ण वेदसूत्र सिखाने योग्य न हो तो उसे गुरुमहाराज कृपा करके उचित (विशेष-उपयोगी) प्रायश्चित्त-पदों का कथन करते हैं। उक्त साधु का गुरुमहाराज द्वारा कहे हुए उन प्रायश्चित्त पदों का धारण करना **धारणाव्यवहार** है।

(ङ) **जीतव्यवहार**—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष, प्रतिसेवना का

और संहनन-धृति आदि की हानि का विचार करके जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह **जीतव्यवहार** है अथवा किसी गच्छ में कारण-विशेष से सूत्र से अधिक प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति हुई हो और दूसरों ने उसका अनुसरण कर लिया हो तो वह प्रायश्चित्त जीतव्यवहार कहा जाता है। अथवा अनेक गीतार्थमुनियों द्वारा की हुई मर्यादा का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ **जीत** कहलाता है एवं उससे प्रवर्तित व्यवहार जीतव्यवहार कहलाता है।

इन पांच व्यवहारों में यदि व्यवहर्त्ता के पास आगम हो तो उसे आगम से व्यवहार चलाना चाहिए। आगम के भी केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान आदि पूर्वोक्त छः भेद हैं। उनमें से पहले केवलज्ञान आदि के होते हुए उन्हीं से व्यवहार चलाना चाहिए, पिछले मनःपर्यवज्ञान आदि से नहीं।

आगम के अभाव में श्रुत से, श्रुत के अभाव में आज्ञा से, आज्ञा के अभाव में धारणा से और धारणा के अभाव में जीतव्यवहार से, प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार का प्रयोग होना चाहिए। देश-काल के अनुसार उपर्युक्त विधि से सम्यग् रूपेण पक्षपातरहित व्यवहारों का प्रयोग करता हुआ साधु भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है। सम्यक् प्रकार से पांच व्यवहारों को जाननेवाला एवं प्रायश्चित्त देने में इनका उचित प्रयोग करनेवाला आचार्यादि **व्यवहारवान्** कहलाता है। (यह प्रायश्चित्तदाता का तीसरा गुण हुआ)

(४) **अपव्रीड़क**—वह लज्जावश अपने दोषों को छिपानेवाले शिष्य की मधुर वचनों से लज्जा दूर करके अच्छी तरह आलोचना करानेवाला होना चाहिए।

(५) **प्रकुर्वक**—वह आलोचित अपराध का तत्काल प्रायश्चित्त देकर अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ होना चाहिए। तत्त्व यह है कि प्रायश्चित्तदाता को प्रायश्चित्तविधि पूरी तरह याद होनी चाहिए। अपराधी के प्रायश्चित्त माँगने के बाद प्रायश्चित्त देने में विलम्ब करना निषिद्ध है।

(६) **अपरिस्रावी**—वह आलोचना करनेवाले के दोषों को दूसरे के

सामने प्रकट नहीं करनेवाला होना चाहिए। शास्त्रीय विधान है कि यदि आलोचनादाता आलोचक के दोषों को दूसरे के सामने कह देता है तो उसे उतना ही प्रायश्चित्त आता है, जितना उसने आलोचनाकर्ता को दिया था।

(७) निर्यापक—वह अशक्ति या और किसी कारणवश एक साथ पूरा प्रायश्चित्त लेने में असमर्थ साधु को थोड़ा-थोड़ा प्रायश्चित्त देकर उसका निर्वाह करनेवाला होना चाहिए।

जैसे—नियमानुसार एक अठाई का प्रायश्चित आता है लेकिन आलोचनाकर्ता अशक्त या रोगी आदि होने के कारण अठाई नहीं कर सकता। इस परिस्थिति में प्रायश्चित्तदाता अठाई के प्रायश्चित्त को उपवास-वेले-तेले आदि के रूप में अथवा अधिक अशक्त हो तो पौरुषी, एकासन या शास्त्रिक-स्वाध्याय एवं ध्यान के रूप में वदलकर उसका निर्वाह कर ले यानी उसके पापों की शुद्धि कर दे। परम्परा के अनुसार उपवास आदि का अन्यमानदण्ड इस प्रकार है[1]—

(क) १२०० गाथाओं का स्वाध्याय, १६०० नवकार का जाप अथवा २००० गाथाओं का वांचन करना एक उपवास के वरावर है।

(ख) ४५ नवकारसी, ८ पौरुषी, ४ पुरिमड्ढ (१२ वजे तक आहार का त्याग), ३ अपार्द्ध (तीन प्रहर तक आहार का त्याग), ४ नीवी, ४ एकासन अथवा दो आयंविल करना एक उपवास के वरावर है।

(ग) आगम की आठ गाथाओं का ध्यान में अर्थसहित चिन्तन करना एक उपवास, १३ गाथाओं का चिन्तन करना दो उपवास, २० गाथाओं का चिन्तन—वेला, ४० का चिन्तन—तेला, ६० का चिन्तन—चोला, अस्सी का चिन्तन—पंचोला और सौ गाथाओं का चिन्तन छह के थोकड़े के वरावर है।

इसी प्रकार २० गाथाओं के ध्यान को वढ़ाते हुए तत्फलस्वरूप एक-एक थोकड़ा आगे वढ़ाना चाहिए।

---

१. आचार्यश्री तुलसी द्वारा विहित प्रायश्चित्त-विधि के आधार से

(घ) पौष या माघ महीने की कड़ी सर्दी में वस्त्ररहित होकर आगम की १३ गाथाओं का ध्यान करना १ उपवास, २५ गाथाओं का ध्यान २ उपवास, ५० गाथाओं का ध्यान ४ उपवास और १०० गाथाओं का ध्यान १० उपवास के समान माना गया है।

(ङ) पौष-माघ की कड़ी सर्दी में रात्रि के समय ८ हाथ का वस्त्र पहने-ओढ़े तो एक तेला, २३ हाथ वस्त्र पहने-ओढ़े तो एक वेला और ३८ हाथ वस्त्र पहने-ओढ़े तो एक उपवास उतरता है। इसी प्रकार बैसाख-जेठ मास की कड़ी धूप में एक प्रहर तक आतापना लेने से एक तेला उतरता है। (परम्परानुसार उपवास आदि के अन्यमानदण्ड का विवेचन हुआ।)

(८) **अपायदर्शी**—वह आलोचना करने में संकोच करने वाले व्यक्ति को आगमानुसार परलोक का भय एवं अन्य दोष दिखाकर उसे आलोचना लेने का इच्छुक बनाने में निपुण होना चाहिए।

(९) **प्रियधर्मा**—उसको धर्म विशेष प्यारा होना चाहिए।

(१०) **दृढ़धर्मा**—वह धर्म विशेष दृढ़ अर्थात् विकट-संकट उपस्थित होने पर भी धर्म से विचलित न होनेवाला होना चाहिए।

इन दस गुणोंवाला आचार्य-उपाध्याय आदि आलोचना (प्रायश्चित्त) देने के योग्य माना गया है।

प्रश्न ११—यदि ऐसे गुणासम्पन्न आचार्य आदि का संयोग न हो तो क्या अतिचारों की आलोचना अपने आप की जा सकती है?

उत्तर—आगम में कहा है[1] कि जैसे—परमनिपुण-वैद्य भी अपनी बीमारी दूसरे वैद्य के सामने कहता है एवं उसके कथनानुसार औषधि-सेवन आदि रूप कार्य करता है, उसी प्रकार पाप की शुद्धि दूसरे की साक्षी से ही करनी चाहिए, चाहे वह ज्ञान-क्रिया व्यवहार में परमनिपुण एवं

---

१. गच्छाचारप्रकीर्णक गा. १२।१३

आचार्य के ३६ गुणों से युक्त भी क्यों न हो। (विशेष दोष लगने पर आचार्य भी किसी वहुश्रुत-मुनि के पास आलोचना करते हैं एवं उसकी साक्षी से प्रायश्चित्त लेते हैं।)

व्यवहारसूत्र में कहा है कि[1] आलोचना सर्वप्रथम अपने आचार्य-उपाध्याय के पास करनी चाहिए, वे न हों तो अपने सांभोगिक-वहुश्रुत-साधुओं के पास; उनके अभाव में अन्यसांभोगिक-वहुश्रुतसाधुओं के पास, उनके अभाव में समानरूपवाले वहुश्रुतसाधुओं के पास, उनके अभाव में पच्छाकड़ा (जो संयम से गिरकर श्रावकव्रत पाल रहे हैं किन्तु पूर्वकाल में संयम पाला हुआ होने से उन्हें प्रायश्चित्तविधि का ज्ञान है—ऐसे) श्रावकों के पास एवं उनके अभाव में जिन भक्त वहुश्रुत-यक्षादि देवों के पास अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए। भावीवश इनमें से कोई भी न मिले तो ग्राम या नगर के वाहर जाकर पूर्व-उत्तर दिशा (ईशानकोण) में मुख करके विनम्रभाव से अपने अपराधों को स्पष्ट रूप से वोलते हुए अरिहन्त-सिद्ध भगवान् की साक्षी से अपने आप प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिए।

प्रश्न १२—आलोचना करते समय आलोचनादाता एवं आलोचनाकर्त्ता के सिवा क्या तीसरा व्यक्ति भी रह सकता है?

उत्तर—आलोचना के अनेक भेद हैं। जैसे—चतुष्कर्णा, षट्कर्णा एवं अष्टकर्णा।[2]

यदि साधु साधु से या साध्वी साध्वी से आलोचना करे तो वह आलोचना चतुष्कर्णा (चार कानवाली) होती है क्योंकि तीसरा व्यक्ति उनके पास नहीं होता।

यदि साध्वी स्थविरसाधु के पास आलोचना करे तो उस साध्वी के साथ ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न एवं प्रौढ़वयवाली एक साध्वी अवश्य रहती है अतः

---

१. व्यवहार, उ० १ वोल ३४ से ३९ तक

२. वृहत्कल्प—भाष्य, गाथा ३९५।३९६ के आधार से

तीन व्यक्ति होने से यह आलोचना षट्कर्णा (छः कानों वाली) कहलाती है। यदि आलोचना करानेवाला साधु युवा हो तो उसके निकट प्रौढ़-वयवाला एक साधु भी अवश्य रहता है। अतः दो साधु और दो साध्वियों के समक्ष होने से यह आलोचना अष्टकर्णा (आठ कान वाली) मानी जाती है।

(यह विवेचन गम्भीर दोषों की अपेक्षा से समझना चाहिए।)

प्रश्न १३—आलोचना करनेवाले के कहे हुए दोषों का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है या दूसरे व्यक्ति के कहने पर भी ?

उत्तर—प्रायश्चित्त लेनेवाला जिन-जिन दोषों को स्वीकार करता है केवल उन्हीं दोषों का प्रायश्चित्त देने का विधान है, दूसरे की बात का वहाँ कोई मूल्य नहीं है।

आगम में कहा है[1] कि अपने सार्धमिक साधु को कलंकित करने के लिए कोई साधु उसके साथ मैथुन आदि अकृत्य का सेवन करके गुरु से कह दे कि मैंने अमुक कारण से इसके साथ दोष-सेवन किया है। यह कहने पर गुरु उसे प्रायश्चित्त देकर फिर उस दूसरे साधु से पूछे, यदि वह स्वीकार हो जाए तो उसे प्रायश्चित्त दे दे और यदि वह कह दे कि मैंने दोष-सेवन नहीं किया, यह मेरे पर असत्य आरोप लगा रहा है; ऐसी परिस्थिति में उसका विश्वास रखकर उसे बिलकुल प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता। इसे **सच्चपइन्ना व्यवहार** कहते हैं। छानबीन करने पर यदि उसका दोष-सेवन सिद्ध हो जाए तो गुरु उसको गण से निकाल सकते हैं लेकिन प्रायश्चित्त बिलकुल नहीं दे सकते।

प्रश्न १४—निष्कपट आलोचना करनेवाला और सकपट आलोचना करनेवाला दोनों तुल्य प्रायश्चित्त के भागी होते हैं

---

१. व्यवहार २।२४

या प्रायश्चित्त में कुछ अन्तर रहता है ?

उत्तर—जैनआगम का कथन है कि[1] मासिक-द्विमासिक प्रायश्चित्त का भागी साधु यदि निष्कपट भाव से आलोचना करे तो यथाविधि मासिक-द्विमासिक यावत् पाण्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है किन्तु यदि वह अन्दर कपट रखकर कुछ दोषों को छिपाने की चेष्टा करता हुआ आलोचना करे तो मासिक प्रायश्चित्त के भागी को द्विमासिक यावत् पञ्चमासिक प्रायश्चित्त के भागी को पाण्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसलिए आत्मार्थी-मुमुक्षु को **भोले बालक** की तरह विलकुल सरल होकर आलोचना करनी चाहिए।

प्रश्न १५—श्रावकों के सामयिक-पौषध आदि व्रतों में जान-अनजान में स्खलना हो जाए तो उन्हें क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिए ?

उत्तर—साधु-साध्वियों का संयोग हो तब तो उन्हीं के पास आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना चाहिए। दूर देशादि कारणवश उनका संयोग न हो तो भगवान् की साक्षी से निम्नलिखित विधि के अनुसार प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए—[2]

(१) यदि एक सामायिक में एक सचित्त काँटा आदि निकले तो २५ नवकार का जाप, दो काँटे निकलें तो ५० नवकार का जाप, इसी प्रकार एक-एक सामायिक के पीछे एक-एक काँटे के २५-२५ नवकार का जाप बढ़ाना चाहिए।

(२) वृष्टि आदि के कारण से सामायिक में कच्चे पानी की छाँटें लगें तो साधारण छाँटों के लिए एक नवकरवाली एवं ज्यादा लगी हों तो ३-४-५ नवकरवाली फेरनी चाहिए।

---

१. व्यवहार उ० १ बोल ११२

२. आचार्यश्री तुलसी द्वारा निर्धारित श्रावकप्रायश्चित्त विधि के अनुसार

(३) लघुशंका आदि के कारण से रात को अगर सामायिक में अछाया लगे तो ३-४ नवकरवाली फेरनी चाहिए।

(४) सामायिक में भूल से खुले मुँह बोला जाए तथा छींक, उवासी आते समय अजयणा हो जाए तो एक नवकरवाली फेरनी चाहिए।

(५) सामायिक में कृमि-कीड़ी-मक्खी आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीव की विराधना हो जाए तो २-३-४ नवकरवाली फेरनी चाहिए।

(६) यदि सामायिक भूल से दो-चार मिनट कम पारी जाए तो एक सामायिक करनी चाहिए। यदि दो-तीन-चार सामायिकें हों तो उतनी ही सामायिकें करनी चाहिए। यदि जान-बूझकर कम पारी जाए तो एक-एक की तीन-तीन सामायिकें करनी चाहिए।

(७) चतुष्प्रहरी-पौषध में अछाया न लगे यानी बाहर जाने का काम न पड़े तो तीन सामायिकें और अछाया में जाना पड़े तो चार सामायिकें करनी चाहिए। आठप्रहरी-पौषध में अछाया न लगे तो पाँच सामायिकें एवं अछाया लगे तो छः सामायिकें करनी चाहिए। इसके बाद दो-दो प्रहर के पीछे एक-एक सामायिक बढ़ा देनी चाहिए।

(८) नवकारसी-पौरुषी आदि भूल से टूट जाए तो जितनी टूटी हों, उतनी ही पुनः करनी और जान-बूझकर तोड़ी गई हों तो एक-एक की तीन-तीन करनी चाहिए।

(९) पंचतिथिओं के दिन हरी सब्जी, रात्रिभोजन एवं अब्रह्मचर्य के त्याग भूल से टूटें तो दूसरे दिन त्यागों का पुनः पालन करना तथा जानकर तोड़े गए हों तो आगे एक-एक दिन के बदले तीन-तीन दिन उन त्यागों का पालन करना चाहिए।

(१०) उपवास-बेला-तेला आदि भूल से टूटें तो उन्हें दुबारा करना एवं जान-बूझकर तोड़े गए हों तो दुगुने-तिगुने उपवासादि करने चाहिए।

(११) उपवास में भूल से कच्चा पानी पिया जाए तो तीन सामायिकें करनी चाहिए।

(१२) कच्चा पानी लीलोती एवं रात्रिभोजन का यावज्जीवन के लिए त्याग हो वह यदि भूल से टूट जाए तो एक उपवास तथा जान-बूझ-कर तोड़ा गया हो तो एक तेला करना। अधिक वार दोष लगा हो तो यथासम्भव तपस्या वढ़ानी चाहिए।

(१३) यावज्जीवन कुशीलसेवन का त्याग हो, वह जितनी वार टूटे, कम से कम एक-एक तेला करना चाहिए। यावज्जीवन परस्त्री-सेवन का त्याग टूटने पर पूर्ववत् प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

(१४) पञ्चेन्द्रिय जीव चूहा, गिलहरी, चिड़िया, अण्डा आदि की भूल से घात हो जाए तो एक वेला या दो-तीन उपवास करने चाहिए।

(१५) यावज्जीवन प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने का नियम हो, उसमें यदि भूल हो जाए तो एक वार का प्रायश्चित्त एक पौरुषी या दो सामायिकें करनी चाहिए।

(१६) पाक्षिक प्रतिक्रमण करने का नियम हो और भूल से रह जाए तो दो दिन प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(१७) प्रतिदिन १४ नियम चितारने का वँधा हो और वे भूल से न चितारे जाएँ तो एक दिन का एक एकासन करना चाहिए।

(१८) एक दिन के लिए किसी द्रव्य का त्याग हो और वह भूल से खाया जाए तो दूसरे दिन वह द्रव्य टाल देना या एक पौरुषी कर देनी चाहिए।

त्याग किया हुआ काम भूल से कर लिया, फिर यदि याद आ जाए तो दुवारा वह काम नहीं करना चाहिए। जैसे—रात्रिभोजन का त्याग है, भूल से मुँह में सुपारी डाल ली, कुछ देर वाद यदि त्याग याद आ गया तो वह उसी समय मुंह से निकाल देनी चाहिए।

प्रश्न १६—प्रायश्चित्त के पचास भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—दस प्रकार का प्रायश्चित, प्रायश्चित्त देनेवाले के दस गुण, प्रायश्चित्त लेनेवाले के दस गुण, प्रायश्चित्त के दस दोष तथा दोष-

प्रतिसेवना के दस कारण। इन सब को जोड़ने से ५० की संख्या हो जाती है। प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रखनेवाले होने से इन ५० को प्रायश्चित्त के ५० भेद भी कह देते हैं—इन सवका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

प्रश्न १७—विनयतप का स्वरूप समझाइए !

उत्तर—व्रत, विद्या एवं उम्र में वड़ों के सामने नम्र आचरण करना विनय है[1]। **अथवा** आशातना नहीं करना और योग्य व्यक्तियों का बहुमान करना विनय कहलाता है[2]। **अथवा** यह आठ प्रकार के कर्मों को **विनयति** अर्थात् विशेष रूप से दूर करता है एवं आत्मा को चतुर्गति के अन्तरूप मोक्ष में भेजता है। अतः वीतराग भगवान् इसे विनय कहते हैं[3]। इस प्रकार विनय की अनेक परिभाषाएं उपलब्ध हैं। विनय जिनशासन का मूल है[4] एवं विनय ही धर्म का मूल है[5]। विनय से जीव मद के आठों स्थानों का नाश करता है[6] एवं समस्त गुण विनय के अधीन हैं[7] अतः आत्महितैषी पुरुष को अपनी आत्मा विनय में स्थापित करनी चाहिए[8]।

प्रश्न १८—विनय के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—मूल भेद सात माने गए हैं—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय, (७) लोकोपचारविनय। विवेचन इस प्रकार है[9]—

---

१. नीति वा. ११।६
२. जैनसिद्धान्तदीपिका ५।२५
३. स्था. ६।५११ टीका
४. हरिभद्रीय-आवश्यक नियुक्ति १२।१६
५. दशवै. ६।२।२
६. उत्तरा. २६।४६
७. उत्तरा. १।१६
८. प्रशमरति
९. औपपातिक-प्रश्न २०, भगवती. २५।७।८०२, स्था. ७।५८५ तथा धर्मसंग्रहः अधि ३ व्रतातिचार-प्रकरण, श्लोक ५४ टीका, पृ० ४१

१. ज्ञानविनय—ज्ञान तथा ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, उनके प्रति भक्ति तथा बहुमान दिखाना, उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुओं पर अच्छी तरह चिन्तन-मनन करना तथा विधिपूर्वक ज्ञान का ग्रहण एवं अभ्यास करना ज्ञानविनय है। इसके पांच भेद हैं— (१) मतिज्ञानविनय, (२) श्रुतज्ञानविनय, (३) अवधिज्ञानविनय, (४) मनःपर्यवज्ञानविनय, (५) केवलज्ञानविनय।

२. दर्शनविनय—सम्यग् दर्शन तथा सम्यग्दर्शनयुक्तमहात्माओं के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं बहुमानादि रखना दर्शनविनय है। इसके दो भेद हैं—शुश्रूषणाविनय और अनाशातनाविनय। गुरु आदि की सेवा—करना **शुश्रूषणाविनय** कहलाता है। इसके दस भेद हैं। यथा—(१) गुरुआदि पूज्यजनों के आने पर खड़ा होना, (२) आइए—पधारिए एवं मेरा आसन अलंकृत कीजिए—ऐसे निवेदन करना, (३) लेना चाहें तो अपना आसन उन्हें देना, (४) वस्त्रादि से सत्कार करना, (५) स्तुति आदि से सम्मान करना, (६) कृतिकर्म अर्थात् द्वादशावर्त वन्दना करना, (७) दोनों हाथ जोड़ना, (८) बाहर से आते हों तो स्वागतार्थ सामने जाना, (९) विराजमान होने के बाद शान्तभाव से उनकी पर्युपासना करना एवं (१०) विहारादि करते समय पहुंचाने के लिए जाना (यहां गुरु आदि को लेने जाना और पहुंचाने जाना शुश्रूषणाविनय माना गया है)।

अनाशातनाविनय के ४५ भेद हैं— (१) अरिहन्त, (२) अरिहन्तप्ररूपितधर्म, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) स्थविर, (६) कुल, (७) गण, (८) संघ, (९) क्रियावादी (जीव-अजीव आदि में श्रद्धा रखनेवाला), (१०) संभोगी—एक समाचारीवाले साधु-साध्वियां, (११-१५) मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान—इन १५ की आशातना न करना यानी इन्हें कष्ट न पहुंचाना—इनका अपमान न करना, इन १५

की भक्ति-बहुमान करना तथा इन १५ का गुणोत्कीर्तन करना[1]—इस प्रकार अनाशातनाविनय के ४५ भेद हो जाते हैं।

३. **चारित्रविनय**—सामायिक आदि चारित्रों पर श्रद्धा रखना, काया से उनका पालन करना तथा भव्यजीवों के सामने उनकी प्ररूपणा करना **चारित्रविनय** है। इसके पांच भेद हैं—(१) सामायिकचारित्र-विनय, (२) छेदोपस्थापनीयचारित्रविनय, (३) परिहारविशुद्धि-चारित्रविनय, (४) सूक्ष्मसंपरायचारित्रविनय, (५) यथाख्यात चारित्रविनय।

४. **मनोविनय**—आचार्यादि का मन से विनय करना, मन की अशुभप्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना **मनोविनय** है। इसके दो भेद हैं—अप्रशस्त मनोविनय और प्रशस्त मनोविनय।

अप्रशस्तमनोविनय—अप्रशस्तमन अर्थात् खराबमन। यह बारह प्रकार का होता है—

(१) **सावद्य**—गर्हित (निन्दित) कार्य से युक्त, अथवा हिंसादि कार्य से युक्त मन की प्रवृत्ति।

(२) **सक्रिय**—कायिकी आदि क्रियाओं से युक्त मन की प्रवृत्ति।

(३) **सकर्कश**—कर्कश (कठोर) भावों से युक्त मन की प्रवृत्ति।

(४) **कटुक**—अपनी आत्मा के लिए और दूसरे प्राणियों के लिए अनिष्टकारी मन की प्रवृत्ति।

(५) **निष्ठुर**—मृदुता (कोमलता)-रहित मन की प्रवृत्ति।

(६) **परुष**—कठोर अर्थात् स्नेहरहित मन की प्रवृत्ति।

(७) **आस्रवकारी**—जिससे अशुभकर्मों का आगमन हो, ऐसी मन की प्रवृत्ति।

---

१. धर्मसंग्रह में भक्ति, बहुमान और वर्णवाद—ये तीन बातें हैं। हाथ जोड़ना वगैरह बाह्य आचारों को भक्ति कहते हैं। हृदय में श्रद्धा और प्रीति रखना बहुमान है। गुणों को ग्रहण करना वर्णवाद है।

(८) **छेदकारी**—अमुक पुरुष के हाथ-पैर आदि अवयव काट दिए जाएँ इत्यादि मन की प्रवृत्ति।

(९) **भेदकारी**—अमुक पुरुष के नाक-कान आदि का भेदन कर दिया जाए, ऐसी मन की प्रवृत्ति।

(१०) **परितापनाकारी**—प्राणियों को संतापित किया जाए इत्यादि मन की प्रवृत्ति।

(११) **उपद्रवकारी**—अमुक पुरुष को ऐसी वेदना हो कि उसके प्राण छूट जाएँ या अमुक पुरुष के धन को चोर चुरा ले जाएँ, इस प्रकार मन में चिन्तन करना।

(१२) **भूतोपघातकारी**—जीवों का विनाश करनेवाली मन की प्रवृत्ति।

पूर्वोक्त बारह प्रकार के अप्रशस्तमन की प्रवृत्ति को न होने देना, **अप्रशस्तमनोविनय** है। आगम में कहा है[1]—**तहप्पगारं मणोणो पहारेज्जा** अर्थात् इस प्रकार के अप्रशस्त मन को धारण नहीं करना चाहिए।

प्रशस्तमनोविनय—ऊपर कहे हुए बारह प्रकार के अप्रशस्त-मन के प्रतिपक्ष में निरवद्य, अक्रिय, अकर्कश आदि बारह प्रकार का प्रशस्तमन भी माना गया है। प्रशस्तमन की प्रवृत्ति करना प्रशस्तमनो-विनय है।

५. **वचनविनय**—आचार्यादि का वचन से विनय करना, वचन की अशुभप्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभव्यापार में लगाना वचनविनय है। जिस प्रकार मनोविनय के अप्रशस्त और प्रशस्त—ऐसे मुख्य दो भेद हैं और प्रत्येक के बारह-बारह प्रभेद हैं, उसी प्रकार वचनविनय के भी भेद-प्रभेद समझ लेने चाहिए।[2]

---

१. औपपातिक, प्रश्न २०

२. स्थानाङ्ग तथा भगवती में प्रशस्त एवं अप्रशस्तमन-वचन विनय के सात-सात भेद कहे गए हैं—यहाँ औपपातिक प्रश्न २० के आधार से १२-१२ भेदों का वर्णन किया गया है।

(६) **कायविनय**—आचार्यादिक का काय से विनय करना, काय की अशुभप्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभव्यापार में लगाना कायविनय है। इसके भी दो भेद हैं—(१) अप्रशस्तकायविनय और (२) प्रशस्तकायविनय।

अप्रशस्तकायविनय—यह सात प्रकार का है। यथा—(१) असावधानी से चलना, (२) ठहरना, (३) बैठना, (४) सोना, (५) उल्लंघन करना, (६) प्रलंघन (बार-बार उल्लंघन) करना, (७) उपयोग-शून्य होकर देह और इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना। यह सात प्रकार का **अप्रशस्तकायप्रयोग** है। अप्रशस्तकायप्रयोग का निरोध अथवा त्याग करना ही अप्रशस्तकायविनयरूप आभ्यन्तरतप होता है।

प्रशस्तकायविनय—अप्रशस्तकायविनय का प्रतिपक्षी प्रशस्तकाय-विनय है। जैसे—आवश्यकता होने पर सावधानी से उपयोगपूर्वक चलना, ठहरना, बैठना, सोना आदि।

७. **लोकोपचारविनय**—लौकिकव्यवहार में दूसरे व्यक्ति को दुःख न हो, इस प्रकार का बाह्य-आचरण करना अर्थात् लोकव्यवहारानुकूल-वर्तन करना लोकोपचारविनय है। इसको **उपचारविनय** भी कहते हैं। इसके सात भेद हैं—

(क) **अभ्यासवर्तित**—गुरु आदि बड़ों के समीप रहकर ज्ञानाभ्यास करना।

(ख) **परछन्दानुवर्ती**—गुरु आदि बड़ों की इच्छानुसार चलना।

(ग) **कार्यहेतु**—ज्ञानादि कार्य के लिए विनय करना।

(घ) **कृतप्रतिकृत्य**—अपने पर किए हुए उपकारों के बदले आहारादि द्वारा गुरुजनों की सेवा करना और इस इच्छा से कि वे प्रसन्न होंगे, तो मुझे विशेषज्ञान देंगे।

(ङ) **आर्त्तगवेषणा**—वृद्ध और रोगी साधु के लिए औषधि एवं पथ्य लाकर देना।

(च) **देशकालज्ञता**—देश और समय को देखकर चलना।

(छ) **सर्वत्रअप्रतिलोमता**—सभी कार्यों में अप्रतिकूल-अविरोधी

रहना।

विनय के ये सात मूल भेद हुए, इनके अवान्तर भेद १३४ होते हैं। यथा—ज्ञानविनय के ५, दर्शनविनय के ५, चारित्रविनय के ५, मनोविनय के २४, वचनविनय के २४, कायविनय के १४ तथा लोकोपचारविनय के ७।

दूसरे प्रकार से विनय के १३ या ५२ भेद भी किए गए हैं—

(१) तीर्थंकर, (२) सिद्ध, (३) कुल, (४) गण, (५) संघ, (६) क्रिया, (७) धार्मिक अनुष्ठान, (८) ज्ञान, (९) ज्ञानी, (१०) आचार्य, (११) स्थविर, (१२) उपाध्याय, (१३) गणी। इनका चार प्रकार से विनय करना। यथा—इन तेरह की आशातना न करना, भक्ति करना, इन्हें बहुमान देना तथा इनके गुणगान करना। बस, १३ को ४ से गुणा करने पर ५२ हो जाते हैं—ये ही विनय के ५२ भेद हैं। यदि इन चारों भेदों को विनय में ही समाविष्ट कर लें तो विनय के १३ भेद रह जाते हैं।

प्रश्न १९—विनय के पांच भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—पांच भेद इस प्रकार हैं—

(१) लोकोपचारविनय, (२) अर्थनिमित्तविनय, (३) कामहेतुविनय, (४) भयविनय, (५) मोक्षविनय।[1]

(१) लोकव्यवहार निभाने के लिए मेहमान आदि के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना एवं अतिथिसत्कार करना तथा कुल-परम्परागत देवताओं की पूजा-अर्चना करना **लोकोपचारविनय** है।

(२) धन-प्राप्ति के लिए राजा आदि के पास रहना, उनकी इच्छानुसार कार्य करना, देश-काल के अनुरूप व्यवहार करना, उनके आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना एवं उन्हें आसनादि देना **अर्थनिमित्तविनय** है।

(३) कामपिपासा की पूर्ति के लिए वेश्या आदि के पास रहना, उनकी इच्छानुसार कार्य आदि करना **कामहेतुविनय** है।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य-गाथा ३१०-१४

(४) स्वामी के भय से नौकरों द्वारा जो विनय-भक्ति की जाती है, वह **भयविनय** है।

(५) मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का विनय करना अर्थात् इनकी आराधना करना तथा गुरु आदि की व्यावहारिक विनय-भक्ति करना **मोक्षविनय** है।

यहां प्रथम चार विनय सावद्य एवं सांसारिक हैं तथा पांचवां मोक्ष-विनय आत्मिक-कल्याण करनेवाला है।

प्रश्न २०—क्या विनय के दो भेद भी किए गए हैं ?

उत्तर—हां, दो भेद भी हैं[१]—अगारविनय और अनगारविनय।

श्रावक के पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत एवं ११ पडिमाएं **अगारविनय** कहलाते हैं और साधु के पांच महाव्रत **अनगारविनय** कहलाते हैं। वास्तव में विनय का अर्थ कर्मों को दूर करना है। व्रतों-महाव्रतों से कर्म रुकते हैं एवं साथ-साथ शुभयोगों की प्रवृत्ति होने से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। अतएव संवर-निर्जरा रूप धर्म को **विनयमूल** कहा है। लेकिन यह तपरूपविनय देव, गुरू, धर्म तक ही सीमित है। सांसारिक लोगों की पारस्परिक विनय-भक्ति लौकिकव्यवहार मात्र है।

प्रश्न २१—आचार्य आदि का विनय किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर—उनकी दृष्टि के अनुसार चलना चाहिए, उनकी निस्संगता का अनुसरण करना चाहिए, उन्हें हर बात में आगे रखना चाहिए, उनमें पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए और उनकी सेवा में रहना चाहिए[२]।

गुरु के मन, वचन, काया के भावों को समझकर उन्हें वचन द्वारा स्वीकार करके फिर शरीर द्वारा उनको कार्यरूप में परिणत करना

---

१. ज्ञाता. अ. ५

२. आचारांग ५।४

चाहिए।[1]

जैसे—अग्निहोत्री ब्राह्मण मधु-घृत आदि की विविध आहुतियों एवं मन्त्रों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य को गुरु की उपासना करनी चाहिए, चाहे वह शिष्य अनन्तज्ञानी भी क्यों न हो।[2] शिष्य को अपनी शय्या, गति, स्थान और आसन—ये सब गुरु से नीचे रखने चाहिए। हाथ जोड़कर एवं नीचे झुककर गुरु के चरणों में प्रणाम करना चाहिए।[3] गुरु द्वारा एक बार या बार-बार बुलाए जाने पर बैठा नहीं रहना चाहिए किन्तु बुद्धिमान शिष्य को अपना आसन छोड़कर यत्नपूर्वक गुरु की वाणी सुननी चाहिए।[4] आसन या शय्या पर बैठे हुए गुरु से प्रश्न नहीं करना चाहिए किन्तु उन्हें छोड़कर उत्कटिकासन करते हुए हाथ जोड़कर सूत्र-अर्थ आदि पूछने चाहिए।[5]

प्रश्न २१—विनीत-अविनीत के लक्षण बतलाइए!

उत्तर—गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करनेवाला, गुरु के समीप निवास करनेवाला एवं उनके इंगित आकार को समझनेवाला शिष्य **विनीत** कहलाता है।

गुरु की आज्ञा न माननेवाला, गुरु के समीप न बैठनेवाला, उनके प्रतिकूल आचरण करनेवाला एवं ज्ञान से शून्य शिष्य **अविनीत** कहलाता है।[6] इसके सिवा उत्तरा. ११ में अविनीत में १४ और विनीत के १५ लक्षण बतलाए हैं।

सुविनीतव्यक्ति संसार में सुखी दीख रहे हैं एवं अविनीत दुःख पा

---

१. उत्तरा. १।४३
२. दशवै. ६।१।११
३. दशवै. ९।२।१७
४. उत्तरा. १।२१
५. उत्तरा. १।२२
६. उत्तरा. १।२, ३

(१) **आचार्य की वेयावच्च**—आचार्य गण के सर्वोपरि नेता होते हैं।

(२) **उपाध्याय की वेयावच्च**—मुनिगण को धर्मशास्त्र पढ़ानेवाले विशिष्टमुनि **उपाध्याय** कहलाते हैं।

(३) **स्थविर की वेयावच्च**—सन्मार्ग से गिरते हुए जीवों को स्थिर करनेवाले विशिष्टमुनि या वृद्धमुनि **स्थविर** कहलाते हैं[1]।

(४) **तपस्वी की वेयावच्च**—विशेष तपस्या करनेवाले साधु **तपस्वी** कहलाते हैं।

(५) **शैक्ष की वेयावच्च**—नवदीक्षित साधु **शैक्ष** कहलाते हैं।

(६) **ग्लान की वेयावच्च**—बीमार या तपस्या आदि के कारण अशक्त साधु **ग्लान** कहलाते हैं।

(७) **साधर्मिक की वेयावच्च**—समान धर्मवाले साधु परस्पर **साधर्मिक** कहलाते हैं।

(८) **कुल की वेयावच्च**—एक आचार्य की संतान या **चान्द्रादि-साधु-**समुदाय को **कुल** कहते हैं।

(९) **गण की वेयावच्च**—अनेक कुलों का समूह **गण** कहलाता है।

(१०) **संघ की वेयावच्च**—अनेक गणों का समूह **संघ** कहलाता है।

ये दस वेयावच्च के पात्र हैं अतः पूर्वोक्त विधि से इनकी वेयावच्च करनी चाहिए।

प्रश्न ३—वेयावच्च करने से क्या लाभ होता है?

उत्तर—आचार्यादि की वेयावच्च करने से महानिर्जरा एवं महापर्यवसान (प्रशंसनीय-अन्त अर्थात् मुक्ति-प्राप्ति) होता है[2] तथा उत्कृष्ट रसायन आने पर जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्म का उपार्जन भी कर लेता है[3] यानी भवान्तर में वह तीर्थंकर बन जाता है।

---

१. स्थविरों का विशेष वर्णन देखिए चारित्र—प्रकाश, पुञ्ज ५, प्रश्न १७-१८ में

२. स्था. ५।१

३. उत्तरा. २९।४३वां बोल

वेयावच्च-सेवा अग्लानभाव से करनी चाहिए। **बाहुसुबाहुमुनि** ने साधुओं की सेवा करके वड़ा भारी लाभ कमाया था। **ऋषभचरित्र** में कहा है कि वाहुमुनि ५०० साधुओं का आहार लाया करते थे एवं सवको खिलाकर शेष वचा-खुचा खुद खाते थे। सुवाहुमुनि वाल, तपस्वी, ग्लान एवं वृद्ध मुनियों की अग्लानभाव से सेवा करते थे। फलस्वरूप जन्मान्तर में वाहुमुनि-**भरतचक्रवर्ती** वने और सुवाहुमुनि महावली **बाहुबली** वने एवं अन्त में कर्मों का नाश करके मोक्ष को प्राप्त हुए।

वृद्ध, ग्लान एवं तपस्वी आदि की सेवा अत्यधिक सजगता से करनी चाहिए। आगम में कहा है कि[1] यदि कोई समर्थ साधु दूसरे साधु को वीमार सुनकर एवं जानकर वेपरवाही से उसकी सार-संभाल न करे तो उसे चातुर्मासिकप्रायश्चित्त आता है। प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थों में १२ ग्लानप्रतिचारी (ग्लानों की सेवा करनेवाले मुनि) कहे हैं[2]।

(१) **उद्वर्तनप्रतिचारी**—ये ग्लानमुनि को पासा वदलाना, उठाना, वैठाना, वाहर ले जाना, भीतर लाना, उनकी पडिलेहणा करना इत्यादि रूप सेवा करते हैं।

(२) **द्वारप्रतिचारी**—ये ग्लानमुनि के पास अधिक भीड़ न हो जाए, इसलिए कमरे के द्वार पर वैठे रहते हैं।

(३) **संस्तारप्रतिचारी**—ये ग्लानमुनि के लिए साताकारी शय्या-संथारे की व्यवस्था करते हैं।

(४) **कथकप्रतिचारी**—ये ग्लानमुनि को धर्मोपदेश सुनाते हैं एवं धैर्य वंधवाते हैं।

(५) **वादिप्रतिचारी**—ये विशेषचर्चावादी होते हैं एवं प्रसंग आने पर ग्लानमुनि के पास उत्पन्न विवाद को शान्त करते हैं।

---

१. निशीथ: १०।३७

२. प्रवचनसारोद्धार. द्वार ७१ गाथा ६२९ तथा नवपदप्रकरणसंलेखनाद्वार गाथा १२९

रहे हैं[1]। अविनीत को विपत्ति एवं विनीत को संपत्ति मिलती है[2]। हितोपदेश में कहा है कि[3]—निपुणव्यक्ति संपत्ति पाता है। पथ्य से भोजन करनेवाला नीरोगता पाता है एवं उद्यमी विद्या का पार पाता है लेकिन विनीत धर्म, अर्थ और यश—इन तीनों को प्राप्त करता है, अस्तु!

---

१. दशवै. ६।२।५,६

२. दशवै. ६।२।२१

३. हितोपदेश ३।११६

ग्यारहवां पुञ्ज

प्रश्न १—वेयावच्चतप का विवेचन कीजिए !

उत्तर—अपने से बड़े आचार्य-उपाध्यायादि तथा असमर्थ वृद्ध-ग्लान आदि साधु-साध्वियों की धर्म में सहारा देनेवाली आहारादि वस्तुओं द्वारा सेवा-सुश्रूषा करने को **वेयावच्च** (वैयावृत्त्य) कहते हैं।[1]

वेयावच्च १३ प्रकार से की जाती है। जैसे[2]—आचार्यादि को (१) आहार, (२) पानी, (३) शय्या, (४) आसन देना, (५) उनकी पडिलेहणा करना, (६) पांव पूंछना, (७) नेत्ररोगी हों तो औषधि लाकर देना, (८) विहार करते समय मार्ग में सहारा देना, (९) राजा आदि के क्रुद्ध होने पर उनकी रक्षा का प्रबन्ध करना, (१०) चौरादि का उपद्रव होने पर उन्हें बचाना, (११) दोपसेवन करके आए हों तो उन्हें प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करना, (१२) ग्लान अवस्था में हों तो उनके लिए आवश्यक वस्तुओं का संपादन करना, (१३) लघुशंकादि निवारणार्थ पात्र उपस्थित करना।

प्रश्न २—वेयावच्च के कितने भेद हैं ?

उत्तर—दस प्रकार की वेयावच्च कही है[3]—

---

१. स्था. ५।१ टीका

२. व्यवहार-भाष्य उ. १० गाथा १२५

३. स्था. १०।७४६ तथा भगवती. २५।७।८०२

(६) अग्रद्वारप्रतिचारी—ये उपाश्रय के मुख्यद्वार पर बैठते हैं ताकि कोई प्रत्यनीक ग्लानमुनि के पास आकर क्लेश आदि न कर सके।

(७) भक्तप्रतिचारी— ⎡ये ग्लानमुनि के लिए आहार-पानी की
(८) पानप्रतिचारी— ⎣व्यवस्था करते हैं।

(९) पुरीषप्रतिचारी— ⎡ये ग्लानमुनि के मल-मूत्र परठने का
(१०) प्रस्रवणप्रतिचारी— ⎣काम करते हैं।

(११) बहिःकथकप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के पास धर्मप्रभावना के लिए बाहर के लोगों को कथा सुनाते हैं।

(१२) दिशासमर्थप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के पास छोटे-बड़े आकस्मिक उपद्रवों को शान्त करने का काम करते हैं (प्रत्येक कार्य पर ४-४ साधु नियुक्त होते हैं अतः उत्कृष्ट स्थिति में ग्लानप्रतिचारियों की संख्या ४८ हो जाती है)।

इस विवेचन से सेवा का महत्त्व समझकर सेवाभावी बनने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न ४—क्या गृहस्थ साधुओं की वेयावच्च कर सकते हैं?

उत्तर—निरवद्य-वेयावच्च कर सकते हैं। जैसे—वे साधु-साध्वियों को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शय्या, संथारा एवं औषधि आदि देते हैं। अपरिचित स्थानों में आहारादि की दलाली करते हैं, धर्मप्रचार में सहायक बनते हैं। विचलित साधु-साध्वियों को समझाकर संयम में स्थिर करते हैं। इस प्रकार गृहस्थ निरवद्यसेवा का महालाभ उठाते रहते हैं।

जो यक्ष ने ब्राह्मण-कुमारों को मूर्च्छित करके **हरिकेशीमुनि** की वेयावच्च की।[१] सूर्याभ देवता ने **गोतमादि**-श्रमणों की भक्ति के लिए ३२ प्रकार का नाटक दिखाया[२]। ऋषभदेव भगवान् का निर्वाणगमन होने के बाद इन्द्रादि देवों ने उनकी दाढ़ाएं तथा शरीर के अंग-उपांग (जैसे—

---

१. उत्तरा. १२।३२

२. राजप्रश्नीयसूत्र सूर्याभाधिकार

दाहसंस्कार के वाद यहाँ फूल चुगते हैं) ग्रहण किए।[1]

ऊपर के वर्णनों में वेयावच्च व भक्ति शब्द आया है लेकिन यह वेयावच्चतप न होकर क्रमशः राग, दिव्यर्द्धि-दर्शन एवं परंपरा-निर्वाह मात्र है।

प्रश्न ५—श्रावक अपने स्वधर्मी-बन्धुओं की जो खान-पान आदि द्वारा सेवा करता है, वह वेयावच्चतप है या नहीं ?

उत्तर—श्रावक का खाना-पीना एवं खिलाना-पिलाना सांसारिक कार्य होने से अव्रत में है अतः वह वेयावच्चतप नहीं हो सकता, पारस्परिक व्यवहार है।

प्रश्न ६—स्वाध्याय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—शोभन-रीति से मर्यादापूर्वक अस्वाध्यायकाल का परिहार करते हुए सत्शास्त्र का अध्ययन करना **स्वाध्याय** है। **अथवा** स्व अर्थात् अपनी आत्मा का अध्ययन-चिन्तन करना स्वाध्याय है।[2] भगवान् ने कहा है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।[3] स्वाध्याय सब दुःखों से मुक्त करानेवाला है।[4] अनेक भवों में संचित दुष्कर्मों को स्वाध्याय द्वारा व्यक्ति क्षणभर में खपा देता है।[5] स्वाध्याय के समान न तो कोई तपस्या है, न भविष्य में हो सकती है[6] अतः स्वाध्याय करने में प्रमाद मत करो।[7]

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
२. स्था. ५।३।४६५ टीका
३. उत्तरा. २९।१८
४. उत्तरा. २६।१०
५. चन्द्रप्रज्ञप्ति. ९१
६. चन्द्रप्रज्ञप्ति. ८९
७. तैत्तिरीयोपनिषद् १।११

प्रश्न ७—स्वाध्याय के कितने भेद हैं ?

उत्तर—पांच भेद हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा, (५) धर्मकथा[1]।

वाचना—वाचना के दो अर्थ होते हैं, पहला अर्थ है—शिष्यों को यथाविधि आगमों की वाचना देना (पढ़ाना), दूसरा अर्थ है—शिष्यों का गुरु के पास विनयपूर्वक वांचन करना—पढ़ना। पढ़ना[2] दो प्रकार से होता है—एक तो ज्ञान कंठस्थ करना, दूसरा ज्ञान की पुस्तकों का वांचन करना।

कण्ठस्थ ज्ञान—आज से ढाई हजार वर्ष पहले प्रायः ज्ञान कण्ठस्थ करने की ही परम्परा थी एवं दामगंठे और विद्याकंठे की कहावत अत्यधिक प्रसिद्ध थी। जैनों, बौद्धों एवं वैदिकों के आचार्य शिष्यों को प्रायः मुंह से ही पढ़ाया करते थे। उस जमाने में अनेक जैन मुनियों को ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्व कण्ठस्थ थे। जिनकल्पिकमुनियों का कण्ठस्थज्ञान तो इतना अस्खलित होता था कि उस ज्ञान की परिवर्तना द्वारा वे पौरुषी आदि के समय का भी ठीक-ठीक पता लगा लेते थे। अस्तु ! यह तो बहुत पुराने जमाने की बात हो गई किन्तु इस युग में भी जयाचार्य के शासनकाल में जीवराजजी स्वामी, कपूरजी स्वामी आदि सन्तों को साठ-साठ हजार श्लोक कण्ठस्थ थे। श्री मघवागणी ने पांच आगम (आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग एवं बृहत्कल्प) कण्ठस्थ किए थे। श्रीडालगणी के कण्ठस्थ ज्ञान का अन्दाजा लगाना भी कठिन था। श्री कालुगणी के युग में अनेक साधुओं (तुलसीगणी, मैं तथा चन्दनमुनि आदि) ने पचीस-पचीस, तीस-तीस हजार श्लोक कण्ठस्थ किए थे एवं उन्हें स्थिर रखने के लिए कई बार प्रतिदिन दो-दो हजार श्लोकों का स्वाध्याय किया करते थे। वर्तमान श्री तुलसीगणी के शासन में श्री जीवनमलजी स्वामी ने समूचा भगवतीसूत्र कंठस्थ किया है।

---

१. स्था. ५।३।४६५

२. पढ़ने एवं पढ़ाने की विधि देखिए—ज्ञानप्रकाश, पुञ्ज २, प्रश्न २० से २४ तक

ग्रन्थों का लेखन एवं मुद्रण तो वहुत देरी से हुआ है—इतिहासानुसार वर्तमान जैन-आगमों का लेखन वीरनिर्वाण संवत् ९८० या ९९३ में हुआ।[1]

मुद्रण के विषय में कहा जाता है कि संसार में छापाखाना सर्वप्रथम सन् ९२३ में चीन में चालू हुआ था।[2] सवसे पहली पुस्तक सन् १४४५ में छपी थी। सवसे वड़ी पुस्तक **चीनी शब्दकोश** सन् १६०० में मुद्रित हुई थी। इसके १५२० भाग हैं, प्रत्येक भाग में १७० पृष्ठ हैं।[3]

ज्यों-ज्यों लेखन एवं मुद्रण ने जोर पकड़ा, ज्ञान कण्ठस्थ करने की परिपाटी कम होती गई। आज के विद्यार्थियों को ज्ञान कण्ठस्थ करना वहुत मुश्किल लगता है। लेकिन समय पर कण्ठस्थ ज्ञान जो काम देता है, कितावी ज्ञान इसके हजारवें हिस्से में भी काम नहीं दे सकता।

वाचन—स्मरणशक्ति अधिक कमजोर होने के कारण यदि कोई विलकुल ही कण्ठस्थ न कर सके तो उस व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ वाचन तो अवश्य करना ही चाहिए।

जो० एफ० एडीसन कहता है कि मस्तिष्क को अध्ययन की उतनी ही जरूरत है, जितनी शरीर को व्यायाम की। **सिसेरो** का कथन है कि प्रकृति की अपेक्षा अध्ययन द्वारा अधिक व्यक्ति महान् वने हैं। **वेकन** की मान्यता है कि **रीडिंग मेक्स ए फुल मैन, स्पीकिंग ए परफेक्ट मैन एण्ड राइटिंग एन ऐग्जैक्ट मैन** अर्थात् अध्ययन मनुष्य को पूर्ण वनाता है, भाषण परिपूर्ण वनाता है और लेखन प्रामाणिक वनाता है।

अव्राहम लिंकन, वर्नार्ड शा एवं टैगोर ने स्कूलों से विशेष शिक्षा नहीं पायी। **चार्ल्स डारविन, सर विलियम स्कॉट एवं न्यूटन** स्कूलों में नम्वरी भोंदू थे। **नेपोलियन** अपनी कक्षा के छात्रों में वयालीसवें नम्वर का था।

---

१. कल्पसूत्र-महावीरचरित्र

२. विज्ञान के नए आविष्कार के आधार पर

३. विश्वदर्पण, पृ० २३-२४

ये सब पुस्तकों के अध्ययन से ही जगत्प्रसिद्ध विद्वान् एवं साहित्यकार बने। कहा जाता है कि नेपोलियन औरसिकन्दर लड़ाई में भी पुस्तकें पढ़ते रहते थे। **कार्लाइल** का कथन है कि मनुष्य ने जो कुछ किया, सोचा और पाया, वह सब पुस्तकों के जादूभरे पृष्ठों में सुरक्षित है।

एक अंग्रेज का कहना है कि **दी बुक्स आर अवर बेस्ट फ्रेंड्स**—पुस्तकें हमारी सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं। **थोरो** कहता है कि पुराना कोट पहनो और नई किताब खरीदो! **जीवन-सौरभ** में तो लेखक ने यहां तक लिख दिया कि यदि तुम्हारे पास दो रुपये हों तो एक की रोटी खरीदो और दूसरे की अच्छी किताब, क्योंकि रोटी जीवन देती है और किताब जीने की कला।

एक विद्वान् कहता है कि पुस्तकें वास्तव में ज्ञानियों की समाधि हैं। किसी में भगवान ऋषभ, अरिष्ठनेमि एवं महावीर विराजमान हैं तो किसी में राम, कृष्ण और युधिष्ठिर। किसी में वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास और कबीर विराजमान हैं तो किसी में ईसा, मूसा और हजरत मुहम्मद। पुस्तकों को खोलते ही वे महापुरुष उठकर हमारे से बोलने लगते हैं।

पुस्तकों के अध्ययन से कभी-कभी दिल पर बड़ा भारी असर हो जाता है। एक बार **साबरमती आश्रम** के पुस्तकालय से एक व्यक्ति गांधीजी की लिखी हुई पुस्तक चुराकर ले गया। ज्योंही उसने उस पुस्तक में पढ़ा कि **चोरी करने वाला कभी सुखी नहीं होता और उसके पास कभी धन नहीं होता**, उसका दिल बदल गया। उसने तत्काल साढ़े पांच रुपये का मनि-आर्डर भेजकर पश्चात्ताप करते हुए पत्र में लिखा कि पांच रुपये तो किताब का मूल्य है एवं पचास पैसे चोरी के पश्चात्तापस्वरूप हैं। आप कृपया नई पुस्तक मंगवा लेना!

प्रश्न ८—यूनेस्को के अनुसार प्रतिवर्ष चार लाख नई पुस्तकें छपती हैं। इनमें से तीन-चौथाई तो बारह देशों में ही छपती हैं और सत्रह प्रतिशत जापान को छोड़कर एशियाई देशों में छपती हैं—भारत में सन् १९६४-६५ में २१,२६४

पुस्तकें छपी थीं।[1] इस प्रकार आए दिन नई-नई पुस्तकों का अत्यधिक प्रकाशन होने के कारण यह निश्चय कैसे किया जाए कि कौन-सी पुस्तक अच्छी है और कौन-सी खराव ? किसके अध्ययन से आत्मा का उत्थान है और किसके अध्ययन से आत्मा का पतन ?

उत्तर—**श्री उमास्वाति** ने कहा है[2]—राग-द्वेप से उद्धतचित्तों को जो धर्म में अनुशासित करता है अर्थात् धर्म में लगाता है तथा जन्म-मरण के दुःखों से वचाता है, वह **शास्त्र** है। शास्त्र का ही दूसरा नाम पुस्तक है। हां तो ! अध्ययन के लिए इस प्रकार की उत्तम पुस्तकों का चयन करना चाहिए, जिनसे राग-द्वेप घटे, धर्म में मन लगे एवं आत्मा जन्म-मरण से छुटकारा पाए।

एमो व्रासन अल्काट के अनुसार अच्छी किताव वह है, जो आशा से खोली जाए और लाभ से वन्द की जाए। **थ्रोडोर पार्कर** का मंतव्य है कि जो पुस्तकें हमें अधिक विचारने को वाध्य करती हैं, वे ही हमारी सच्ची सहायक हैं। **वेकन** कहता है कि कुछ कितावें चखने के लिए हैं, कुछ निगल जाने के लिए हैं और थोड़ी-सी चवाए जाने एवं हज़म करने के लिए हैं।

आज विज्ञान का युग होने से अधिकांश लोग सामान्यतया पढ़े-लिखे हैं। प्रायः प्रतिदिन समाचारपत्र तो पढ़ते ही हैं, इसके सिवा आज का युवक-वर्ग ऐसे-ऐसे अश्लील उपन्यास एवं फिल्मी-संगीतों के अध्ययन में संलग्न है, जिनसे चारित्र-पतन अवश्यंभावी है क्योंकि अश्लील पुस्तकों का पठन चोर-डाकुओं से भी अधिक खतरनाक है।

प्रश्न ९—अध्ययन करने की विधि वतलाइए !

उत्तर—अध्ययन के लिए तीन वातें अत्यन्त आवश्यक हैं—एकाग्रता,

---

१. नवभारत—१९ नवम्बर, १९६५

२. प्रशमरति श्लोक १८७

नियमितता और निर्विकारिता।

(१) **एकाग्रता**—एकाग्रता से फकीर, अमीर, मूर्ख, विद्वान्, मूक एवं वक्ता पुरुष पुरुषोत्तम बन सकता है। धान्य कूटने वाली एक हाथ से ढेंकी चलाती है, दूसरे हाथ से धान्य समेटती है और साथ-साथ गीत गाए जाती है, फिर भी चोट नहीं लगने देती। यह कार्य में तल्लीनता—एकाग्रता का ही प्रभाव है। सुषुप्ति (गहरी नींद) से उठते ही मनुष्य कहता है—आज तो बड़े मजे से सोए एवं बहुत मीठी नींद आयी—यह आनन्द क्या था? क्या खाने-पीने या नाटक-सिनेमा देखने का था? नहीं-नहीं। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का था (सुषुप्ति-अवस्था में मन और इन्द्रियां दोनों शान्त रहते हैं)। शयनदशा की एकाग्रता में भी यदि इतना आनन्द है तो जागृत अवस्था में एकाग्र होकर यदि स्वाध्याय किया जाए तो उसके आनन्द का फिर कहना ही क्या?

(२) **नियमितता**—जिस प्रकार खाने-पीने, बोलने-चालने एवं पहनने-ओढ़ने आदि कार्यों में नियमितता रखी जाती है—उसी प्रकार अध्ययन भी प्रतिदिन नियमित रूप से करना चाहिए—फिर चाहे वह पन्द्रह मिनट ही क्यों न हो।

यदि ३०० शब्द प्रति मिनट के हिसाब से पन्द्रह मिनट प्रतिदिन पढ़ा जाए तो एक महीने में एक लाख पैंतीस हज़ार शब्दों (लगभग २५० पृष्ठों) की एक पुस्तक पढ़ी जा सकती है एवं एक वर्ष में बारह पुस्तकों का पठन सहज में ही हो जाता है। यदि एक पुस्तक में से पांच-पांच बातें भी याद रहें तो एक साल में साठ नई बातों का ज्ञान बढ़ जाता है।

अभ्यास करते-करते अध्ययन की गति भी तेज हो जाती है[1]। तेज पढ़िए—इसका अभ्यास करानेवाली अमरीका में ४०० प्रयोगशालाएं हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि साधारण व्यक्ति प्रति मिनट २५० शब्द पढ़ ले तो अच्छा ही है किन्तु प्रति ५०० शब्द प्रति मिनट पढ़ने से आनन्द

---

१. आपका व्यक्तित्व, पृ० १६४ के आधार से

आता है। बुद्धिमान को १००० से १८०० शब्द प्रति मिनट पढ़ने का अभ्यास करना चाहिए।

(३) निर्विकारिता—काम, क्रोध, मद, मोह आदि से मुक्त होकर स्वाध्याय करना चाहिए। हृदय में विकारों के रहने पर स्वाध्याय में कभी सफलता नहीं मिलेगी।

(यह वाचना-स्वाध्याय का विवेचन हुआ)

प्रश्न १०—पृच्छनास्वाध्याय समझाइए !

उत्तर—वाचना ग्रहण करके संशय होने पर पुनः पूछना या पहले सीखे हुए सूत्र-धर्म रूप ज्ञान में संदेह होने पर गुरु आदि के पास प्रश्न करना **पृच्छनास्वाध्याय** है। इससे जीव सूत्र-अर्थ एवं इन दोनों से सम्बन्धित शंकाओं का निवर्तन करता है और कांक्षामोहनीयकर्म को खपाता है[1]।

प्रश्न छः प्रकार के माने गए हैं—(१) संशयप्रश्न, (२) व्युद्ग्रहप्रश्न, (३) अनुयोगीप्रश्न, (४) अनुलोमप्रश्न, (५) तथाज्ञानप्रश्न, (६) अतथाज्ञानप्रश्न[2]।

(१) अर्थ विशेष में संदेह होने पर गुरु आदि से जो पूछा जाता है, वह **संशयप्रश्न** है। संसार के सभी व्यक्ति संशय के पात्र हैं[3], केवल दो

---

१. उत्तरा. २९।२०

२. स्था. ६।५३४

३. इन्द्रभूति (गौतम) आदि महापंडितों के दिलों में भी निम्नलिखित शंकाएं थीं :

(१) इन्द्रभूति—जीव है या नहीं ?

(२) अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?

(३) वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न-भिन्न ?

(४) व्यक्तस्वामी—पृथ्वी आदि पांच भूत हैं या नहीं ?

(५) सुधर्मा—इस लोक में जो जैसा है, परलोक में वैसा ही रहता है या नहीं ?

(६) मण्डित पुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?

व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके मन में कभी शंका नहीं होती। उनमें एक तो सर्वज्ञभगवान् हैं और दूसरे अभव्यजीव।

संदेह होने पर अनेक देवों, मुनि-महर्षियों एवं गृहस्थों ने भगवान् महावीर के पास जो जिज्ञासारूप प्रश्न पूछे थे, वे सब संशय प्रश्न समझने चाहिए। शंका का समाधान करने के लिए प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए लेकिन उसके साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का ध्यान रखना परम आवश्यक है।

(२) दुराग्रह अथवा परपक्ष को दूषित करने के लिए जो प्रश्न किया जाता है, वह **व्युद्ग्रहप्रश्न** है। उसमें प्रश्नकर्ता की भावना प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने की रहती है।

(३) तत्त्वविशेष का प्ररूपण करने के लिए व्याख्यानकर्ता एवं ग्रन्थकर्ता अपने आप प्रश्न उठाता है एवं फिर उसका समाधान करता है। इस प्रकार का प्रश्न **अनुयोगीप्रश्न** है। जैसे—आगम में **कइ किरियाओ पन्नत्ताओ** यों प्रश्न उठाकर पांच क्रियाओं का स्वरूप समझाया गया है।

(४) सामनेवाले को अनुकूल करने के लिए **आप कुशल तो हैं**—इत्यादि शिष्टाचार रूप जो प्रश्न पूछा जाता है, वह **अनुलोमप्रश्न** है।

(५) प्रश्न का उत्तर जानते हुए भी **गौतम्आदिवत्** जो प्रश्न पूछा जाता है, वह **तथाज्ञानप्रश्न** है। केशीस्वामी द्वारा किए प्रश्न इसी कोटि के हैं।

---

(७) मोर्यपुत्र—देवता है या नहीं ?

(८) अकम्पित—नारकी है या नहीं ?

(९) अचलभ्राता—सुख-दुःख के कारण पुण्य-पाप ही हैं या और कोई ?

(१०) मेतार्य—आत्मा की सत्ता होने पर भी परलोक है या नहीं ?

(११) प्रभास—निर्वाण दीपकवत् होता है या उसमें आत्मा का अस्तित्व भी रहता है ?

इन शंकाओं के भगवान् महावीर ने जो समाधान किए थे, उन्हें समझने के लिए विशेषावश्यकभाष्य गाथा १५४९ से २०२४ तक पढ़िए।

(६) प्रश्न का उत्तर न जानते हुए अज्ञानी व्यक्ति द्वारा यत्किंचित् प्रश्न किया जाता है, वह **अतथाज्ञानप्रश्न** है।

आपस में तात्त्विकचर्चा करना भी पृच्छनास्वाध्याय है। चर्चा से ज्ञान की वृद्धि होती है। अगर प्रश्न का उत्तर सही आ जाता है तो जैनशासन की शोभा वढ़ती है। कदाचित् नहीं आता तो उस एक उत्तर के वदले पचासों प्रश्नोत्तर याद करने की प्रेरणा मिलती है।

प्रश्न का उत्तर देते समय सजग रहना वहुत जरूरी है। प्रतिपक्षी एवं श्रोतागण का ध्यान रखे विना उत्तर देने से कई वार वड़ा भारी अनुभव हो जाता है। इसके सिवा चर्चा में जहां खींचातानी एवं हार-जीत की भावना आने लगे, वहां उसे फौरन वन्द कर देनी चाहिए क्योंकि चर्चा ज्ञानवृद्धि एवं आत्मकल्याण के लिए ही हैं।

प्रश्न ११—परिवर्तनास्वाध्याय का क्या रहस्य है?

उत्तर—पढ़े हुए ज्ञान को वार-वार दुहराना (चितारना) **परिवर्तनास्वाध्याय** है। इससे जीव को व्यन्जन (अक्षर) लब्धि एवं पदानुसारिणीलब्धि प्राप्त होती है[1] अर्थात् उसके मति-श्रुतज्ञान इतने निर्मल हो जाते हैं कि वह एक अक्षर या पद सुनकर समूचा श्लोक एवं आलापक सुना देता है।

जिस प्रकार वन को कमाने से भी कमाकर वचाना कठिन है तथा अन्न को खाने से भी खाकर पचाना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञान को पढ़ने से भी पढ़कर उसे याद रखना अत्यन्त कठिन है। ज्ञान याद तभी रह सकता है जव उसकी परिवर्तना होती रहे। परिवर्तना के अभाव में पढ़ा हुआ अमूल्य ज्ञान विस्मृत हो जाता है। कारण—परिवर्तना करते समय विचार होता है—आज कुछ देर हो गई। कल या परसों अवश्य दुहरा लेंगे। ऐसे दो-चार दिन निकल जाते हैं एवं फिर व्यक्ति दुहराने वैठता है तो पद-श्लोक आदि पूरे याद नहीं आते—तव सोचता है कि एक वार पुस्तक

---

१. उत्तरा. २९।२१

देखकर फिर चितार लेंगे। पुस्तक देखते-देखते आलस्यवश एक-दो महीने वीत जाते हैं और पढ़ा हुआ ज्ञान विलकुल खत्म हो जाता है। अन्त में एक अनुभवी के इन वाक्यों को जरा गौर से पढ़िए—

कमाने से धनवान नहीं वनता, बचाने से वनता है।
खाने से बलवान नहीं वनता, पचाने से वनता है।
पढ़ने से विद्वान् नहीं वनता, याद रखने से वनता है।

अस्तु! भजन-स्मरण एवं जाप आदि भी परिवर्तनास्वाध्याय के अन्तर्गत हैं—इनका विस्तृत वर्णन 'मनोनिग्रह के दो मार्ग' नामक पुस्तक में पढ़ने का प्रयत्न करें।

प्रश्न १२—अनुप्रेक्षास्वाध्याय का तत्त्व समझाइए!

उत्तर—पढ़े हुए सूत्रार्थ के किसी एक तत्त्व पर एकाग्रमन होकर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करना **अनुप्रेक्षास्वाध्याय** है। जैसे—भगवान् पर अनुप्रेक्षा करता हुआ व्यक्ति सोचता है—भगवान् कौन होते हैं? उनका स्वरूप क्या है? वे साराग हैं या वीतराग? साकार हैं या निराकार? वे जगत्कर्ता हैं या नहीं? यदि जगत्कर्ता हैं तो जगत् में एक सुखी, एक दुखी क्यों? यदि सुख-दुःख स्वकृतकर्मों के अनुसार हैं तो भगवान् जगत्कर्ता कैसे? यदि वे अकर्ता हैं एवं कुछ नहीं लेते-देते तो फिर उनका भजन-स्मरण एवं ध्यान करने से क्या लाभ? इस प्रकार भगवान् के विषय में अनेक प्रश्न एवं उनका समाधान करता हुआ व्यक्ति कुछ देर के लिए स्वयं भगवद्मय बन जाता है।

अनुप्रेक्षा में एकाग्रता होने पर आयुकर्म के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों की स्थिति और रस आदि में कमी होती है। जो अशुभकर्म दुःखपूर्वक लंबे काल तक भुगतने योग्य होते हैं, वे थोड़े काल के हो जाते हैं। उनका दुःखदायक फल भी वहुत-कुछ नष्ट होकर स्वल्प रह जाता है। अनुप्रेक्षा को वढ़ाते रहनेवाली आत्मा इस संसार-समुद्र से शीघ्र ही पार होकर मोक्ष के परम सुखों को प्राप्त कर लेती है।[1]

---

१. उत्तरा. २६।२२

प्रश्न १३—धर्मकथा का क्या अर्थ है ?

उत्तर—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एवं अनुप्रेक्षा द्वारा प्राप्त श्रुतिज्ञान को भव्य जीवों के सम्मुख सुनाना **धर्मकथा** है। इससे श्रुतिज्ञान की वृद्धि होती है, मोक्ष-मार्ग में प्रवर्तन होता है एवं जैनधर्म की प्रभावना होती है। धर्मकथा केवल कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से करनी चाहिए।[1] मान-पूजा की भावना से की गई धर्म-कथा स्वाध्यायतप न होकर उल्टी कर्म-वन्ध का कारण वन जाती है। धर्मकथा के चार भेद हैं[2] :

(१) आक्षेपणी, (२) विक्षेपणी, (३) संवेगनी, (४) निर्वेदनी।

१. आक्षेपणीधर्मकथा—श्रोताओं को मोह से हटाकर धर्मतत्त्व की ओर आकर्पित करने वाली कथा आक्षेपणी कहलाती है। यह चार प्रकार की होती है—(१) आचार आक्षेपणी, (२) व्यवहार आक्षेपणी, (३) प्रज्ञप्ति आक्षेपणी, (४) दृष्टिवाद आक्षेपणी।

(क) केश-लोच-अस्नान आदि साधुआचार के द्वारा अथवा दशवैकालिक-आचारांग आदि आचार-प्रदर्शक सूत्रों के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं को तत्त्व के प्रति आकर्पित करने वाली कथा **आचार आक्षेपणी** है।

(ख) किसी तरह का दोप लगाने पर उसकी शुद्धि के लिए आलोचना आदि प्रायश्चित्तों अथवा व्यवहार बृहत्कल्प आदि सूत्रों के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं को आत्मशुद्धि की तरफ आकर्पित करने वाली कथा **व्यवहारआक्षेपणी** है।

(ग) श्रोताओं की शंका का समाधान करने वाली, उनकी श्रद्धा को दृढ़ वनाने वाली **अथवा** प्रज्ञप्ति (भगवती) आदि सूत्रों के व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति झुकानेवाली कथा **प्रज्ञप्ति आक्षेपणी** है।

(घ) नय-निक्षेप आदि से जीवादि-सूक्ष्म तत्त्वों को समझानेवाली

---

१. सूत्र० श्रु० २, अ० १

२. धर्मकथा के भेदों एवं प्रभेदों का वर्णन स्था. ४।२।२८२ टीका तथा दशवै० अ० ३ निर्युक्ति गाथा १६७-६८ टीका के आधार से किया गया है।

अथवा श्रोताओं की दृष्टि को विशुद्ध करने वाली **अथवा** दृष्टिवाद-विषयक व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा **दृष्टिवाद आक्षेपणी** है।

२. **विक्षेपणीधर्मकथा**—श्रोता को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने वाली धर्मकथा विक्षेपणी कहलाती है। इसमें कुश्रद्धा को हटाकर सुश्रद्धा स्थापित करने की दृष्टि रहती है। इसके चार भेद हैं:

(क) स्व-सिद्धान्त के गुणों का प्रकाश करके पर-सिद्धान्तों के दोषों का दर्शन कराना **प्रथमविक्षेपणीकथा** है।

(ख) पर-सिद्धान्त का कथन करते हुए स्वसिद्धान्त की स्थापना करना **द्वितीयविक्षेपणीकथा** है।

(ग) पर-सिद्धान्त में घुणाक्षर-न्याय से जितनी बातें जिनागमसदृश हैं, उन्हें कहकर जिनागम-विपरीतवाद के दोष दिखाना अथवा आस्तिक-वादी का अभिप्राय बताकर नास्तिकवाद का निराकरण करना **तृतीय-विक्षेपणीकथा** है।

(घ) पर-सिद्धान्त में कही हुई मिथ्या बातों का वर्णन करके स्वसिद्धान्त द्वारा उनका निराकरण करना **अथवा** नास्तिकवादी की दृष्टि का वर्णन करके आस्तिकवादी की स्थापना करना **चतुर्थविक्षेपणीकथा** है।

सर्वप्रथम आक्षेपणीकथा कहनी चाहिए, उससे श्रोताओं को यदि सम्यक्त्व का लाभ हो जाए तो फिर उनके सामने विक्षेपणीकथा का प्रयोग करना चाहिए। इस कथा में सम्यक्त्वलाभ की भजना है। अनुकूलरीति से ग्रहण करने पर शिष्य की सम्यक्त्व दृढ़ भी हो सकती है लेकिन शिष्य को यदि मिथ्याभिनिवेश हो तो वह पर-सिद्धान्त के दोषों को न समझकर गुरु को पर-सिद्धान्त का निन्दक भी समझ सकता है।

३. **संवेगनीधर्मकथा**—जिसके द्वारा विपाक की विरसता बताकर श्रोताजन में वैराग्य उत्पन्न किया जाए, वह संवेगनीधर्मकथा है। इसको संवेजनी तथा संवेदनी भी कहते हैं। इसके चार भेद हैं[1]:

१. स्था. ४।२।२८२ टीका

(१) इहलोकसंवेगनी, (२) परलोकसंवेगनी, (३) स्वशरीर-संवेगनी, (४) परशरीरसंवेगनी।

(क) मनुष्य शरीर एवं भोगों की असारता तथा अस्थिरता बताकर वैराग्य पैदा करना **इहलोकसंवेगनीकथा** है।

(ख) देव भी पारस्परिक ईर्ष्या, भय और वियोग तथा तृष्णा आदि के दुःखों से दुःखी हैं। उन्हें भी मरकर मनुष्य-तिर्यञ्च रूप दुर्गति में जाने की एवं गर्भ तथा जन्म सम्बन्धी घोर कष्ट उठाने की चिन्ता लगी रहती है—इस प्रकार परलोक का स्वरूप बताकर वैराग्य उत्पन्न करना **परलोक-संवेगनीकथा** है।

(ग) यह शरीर स्वयं अशुचिरूप है, अशुचि (रजवीर्य) से उत्पन्न हुआ है और अशुचि का कारण है—इस प्रकार मानव शरीर के स्वरूप को बताकर वैराग्य उत्पन्न करना **स्वशरीरसंवेगनीकथा** है।

(घ) किसी मृतशरीर (मुर्दा) के स्वरूप को समझाकर वैराग्य उत्पन्न करना **परशरीरसंवेगनीकथा** है।

४. **निर्वेदनीधर्मकथा**—इहलोक-परलोक में प्राप्त होनेवाले पुण्य-पाप के शुभाशुभ फलों को समझाकर संसार से उदासीनता पैदा करना **निर्वेदनीधर्मकथा** है। इसके चार भेद हैं[1] :

(क) इस भव में किए गए चोरी-जारी आदि दुष्कर्म एवं दानादि सत्कर्म यहीं फल जाते हैं। जैसे चोरी-जारी से बदनामी तथा अशान्ति मिलती है और तीर्थंकरादि महामुनियों को दान देने से मन की प्रसन्नता एवं स्वर्णादि द्रव्य प्राप्त होते हैं। तपस्या से अनेक प्रकार की लब्धियां मिलती हैं। इस प्रकार का वर्णन करनेवाली कथा **प्रथमनिर्वेदनीकथा** है।

(ख) यहां किए हुए दुष्कर्मों का फल नरकादि दुर्गति में तथा सत्कर्मों का फल स्वर्गादि सद्गति में मिलने का वर्णन करना **द्वितीयनिर्वेदनीकथा** है।

(ग) पूर्वभव में किए हुए पापों के उदय से यहां दुःख, दौर्भाग्य

---

१. स्था. ४।२।२८२ टीका

रोग और शोक मिलते हैं तथा पुण्यों के उदय से सुख-सौभाग्य-आरोग्य और आनन्दादि मिलते हैं। इस प्रकार का वर्णन करना **तृतीयनिर्वेदनी-कथा** है।

(घ) पूर्वभव में किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों का आगामीभव में फल मिलने रूप वर्णन सुनाना। जैसे—पूर्वभव में किसी जीव ने नरकयोग्य कुछ कर्म करके बीच में काक-गीध एवं तन्दुलमच्छ आदि का जन्म ले लिया एवं बंधे हुए अधूरे नरकयोग्य कर्मों को पूर्ण करके नरक में उत्पन्न हो गया एवं पिछले तीसरे भव में बांधे हुए अधूरे अशुभ-कर्मों को भोगने लगा। इसी प्रकार तीर्थंकरनामकर्म बांधने के बाद भी जीव तीसरे भव में तीर्थंकर होकर भोगता है। जिस कथा में इस प्रकार का वर्णन हो, वह **चतुर्थनिर्वेदनीकथा** है।

यह चार प्रकार की धर्मकथाओं का विवेचन हुआ। जिस कथा से अपनी आत्मा की निर्मलता बढ़े एवं दूसरों को धर्म में जागृत होने की प्रेरणा मिले, वास्तव में वही धर्मकथा है। लेकिन जिसमें केवल लौकिक-ज्ञान और मनोरंजनमात्र है, वह धर्मकथा न होकर कर्मकथा एवं परलक्षी है। परलक्षीकथा पराध्यायरूप होती है, स्वाध्याय रूप नहीं होती।

(१) धर्मकथा करनेवाले के लिए कई बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं—सबसे पहले उसे स्व-सिद्धान्त (जैनदर्शन) का सुविस्तृत ज्ञान होना चाहिए। अधूरे ज्ञानवाला वक्ता लोगों को अपना तत्त्व भली-भांति नहीं समझा सकता।

(२) उसे बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, जैमनीय, वेद-वेदान्त एवं नास्तिकादि दर्शनों का भी सामान्य ज्ञान होना चाहिए। उसके बिना जैनदर्शन का विवेचन पूरी तरह नहीं किया जा सकता क्योंकि जैनआगमों में अनेक स्थानों पर बौद्धादिमतों का उल्लेख मिलता है। इसके सिवा जैनेतर लोगों को प्रतिबोध देने के लिए भी उनके सिद्धान्तों के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। देखिए! भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति (गौतम) आदि को समझाने के लिए उन्हीं के वेदमन्त्रों (द-द-द आदि)

को काम में लिया था।

(३) उसे व्याकरण का ज्ञान होना भी जरूरी है क्योंकि उसके विना उच्चारण की शुद्धि नहीं हो सकती। वक्ता के अशुद्ध उच्चारण से विद्वत्-सभा पर वुरा प्रभाव पड़ता है।

(४) उसे न्याय-तर्कशास्त्र का ज्ञान भी होना चाहिए। क्योंकि एक वात को पांच प्रकार की दलीलें देकर तर्कशास्त्री ही समझा सकता है।

(५) उसे गायनकला का जानकार भी होना चाहिए क्योंकि मधुर स्वरों से गाए हुए प्रास्ताविक-भजन, स्तवन एवं गीतिकाएं श्रोतागण को मन्त्रमुग्ध-सा वनाकर अत्यधिक प्रभावित कर देते हैं।

(६) उसे हेतु-दृष्टान्त तथा छोटी-छोटी कहानियां भी याद होनी चाहिए, क्योंकि इन सवके प्रयोग से सोए हुए श्रोता प्रबुद्ध होकर खिल-खिला उठते हैं।

(७) उसे इतिहास का भी विशेषज्ञ होना चाहिए। नाम, स्थान, संवत् एवं तिथिवारयुक्त कही हुई इतिहास की वातें लोगों पर जादू का-सा प्रभाव डालती हैं।

(८) उसे कथा करने से पहले अपने वक्तव्य-विषय का पूरा अध्ययन करना चाहिए। अगर कहीं विशेष व्याख्यान देना हो तो मुख्य-मुख्य वातें नोट भी कर लेनी चाहिए।

चालूव्याख्यान में यदि कोई विशेषव्यक्ति आ जाए तो समयानुसार तत्काल व्याख्यान के विषय को वदल देना चाहिए।

व्याखयान में चाहे कितना ही वड़ा व्यक्ति आ जाए, वक्ता को उसके प्रभाव में न आना चाहिए, क्योंकि प्रभावित होने के वाद वक्ता खुलकर व्याख्यान नहीं कर सकता।

(९) उसे दूसरे-दूसरे वक्ताओं की पंक्तियों को रटकर वोलनेवाला न होकर अपने दिमाग से वोलने का अभ्यासी होना चाहिए।

(१०) उसे कभी प्रश्नोत्तर रूप से, कभी किसी रूपक के सहारे से, कभी धर्म की दुहाई देकर, कभी विरोधी के स्वर में स्वर मिलाकर एवं

कभी विनोदपूर्ण ढंग से व्याख्यान करना चाहिए।

(११) वात को अधिक न वढ़ाकर थोड़े अक्षरों में अधिक तत्त्व समझानेवाला वक्ता श्रेष्ठ माना जाता है। भावशून्य लच्छेदार शब्द बोलना वेमतलव थूक विलोने के समान है। व्याख्यान में तुच्छ एवं अश्लील शब्दों का प्रयोग भी वक्ता के महत्त्व को घटाने वाला है।

(१२) अन्त में सबसे अधिक ध्यान देने की वात यह है कि उसे उत्तमआचरणयुक्त होना चाहिए। आचरणहीन वक्ता का लोगों पर अच्छा असर नहीं पड़ता। आज की दुनिया भाषण की अपेक्षा वक्ता के आचरण पर अधिक ध्यान देती है।

प्रश्न १४—स्वाध्यायतप सम्वन्धी विवेचन तो समझ में आ गया अब ध्यानतप का स्वरूप समझाइए!

उत्तर—स्थिर अध्ययवसान को ध्यान कहते हैं। चित्त चंचल है, इसका किसी एक वस्तु में स्थिर हो जाना ध्यान है[1]।

योगशास्त्र ४।११३ में कहा है कि कर्मों के क्षय से मोक्ष मिलता है। आत्मज्ञान से कर्मक्षय होता है और ध्यान से आत्मा का ज्ञान होता है।

अतः ध्यान आत्मा के लिए परमहितकारी है। मुमुक्षु को आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्म-शुक्ल ध्यान का अभ्यास करना चाहिए[2]।

प्रश्न १५—ध्यान कैसे करना चाहिए?

उत्तर—ध्यान करने वाले को सर्वप्रथम योग के इन आठ अंगों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए :

(१) ध्याता, (२) ध्यान, (३) फल, (४) ध्येय, (५) ध्यान का स्वामी, (६) ध्यान के योग्य क्षेत्र, (७) ध्यान के योग्य समय,

---

१. स्था. ५।३।५११ टीका

२. उत्तरा. ३०।३५

(८) ध्यान के योग्य अवस्था[1]।

(१) **ध्याता**—वह व्यक्ति ध्यान करने के योग्य माना गया है, जो जितेन्द्रिय है, धीर है, जिसके क्रोधादि कषाय शान्त हैं, जिसकी आत्मा स्थिर है, जो सुखासन में स्थित है एवं नाशा के अग्रभाग पर नेत्र टिकाने वाला है[2]।

(२) **ध्यान**—अपने इष्ट विषय (ध्येय) में लीन हो जाना अर्थात् आज्ञाविचयादि रूप से स्वयं ध्येय में परिणत हो जाना—रम जाना ध्यान है।

आसक्ति का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतधारण तथा मन एवं इन्द्रियों को जीतना—ये सब कार्य ध्यान की सामग्री हैं[3]।

(३) **फल**—ध्यान का फल संवर-निर्जरा है अर्थात् आते हुए नए कर्मों को रोकना एवं पुराने कर्मों को तोड़ना है। भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए ध्यान करना निषिद्ध है।

(४) **ध्येय**—जिस इष्ट का अवलम्बन लेकर ध्यान-चिन्तन किया जाता है, उसे ध्येय कहते हैं। ध्येय के चार प्रकार हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत[4]।

(५) **ध्यान का स्वामी**—(१) वैराग्य, (२) तत्त्वज्ञान, (३) निर्ग्रन्थता, (४) समचित्तता, (५) परिग्रहजय—ये पांच ध्यान के हेतु हैं। इनसे सम्पन्न व्यक्ति ध्यान का स्वामी (अधिकारी) कहलाता है[5]।

(६) **ध्यान का क्षेत्र**—जहां ध्यान में विघ्न करने वाले उपद्रवों एवं विकारों की संभावना न हो—ऐसा क्षेत्र-स्थान ध्यान के योग्य माना जाता है।

---

१. तत्त्वानुशासन ३७
२. ध्यानाष्टक ६
३. तत्त्वानुशासन ७५
४. योगशास्त्र ७।८
५. बृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका, पृ० २८१

(७) **ध्यान के योग्य काल**—यद्यपि जब भी मन स्थिर हो उसी समय ध्यान किया जा सकता है, फिर भी अनुभवियों ने प्रातःकाल को सर्वोत्तम माना है।

(८) **ध्यान के योग्य अवस्था**—शरीर की स्वस्थता एवं मन की शान्तअवस्था ध्यान के लिए उपयुक्त कहलाती है। तभी तक ध्यान स्थिर रहता है, जब तक शरीर या मन में खिन्नता न हो—इसलिए कहा है कि[1] जाप से श्रान्त होने पर ध्यान एवं ध्यान से श्रान्त होने पर जाप में लग जाना चाहिए तथा दोनों में मन न लगे तो स्तोत्र पढ़ना शुरू कर देना चाहिए।

प्रश्न १६—ध्यान के भेद-प्रभेद समझाइए !

उत्तर—ध्यान के चार भेद हैं[2]—१. आर्त्तध्यान, २. रौद्रध्यान, ३. धर्मध्यान, ४. शुक्लध्यान।

१. **आर्त्तध्यान के चार भेद हैं**—(१) अमनोज्ञवियोगचिन्ता, (२) मनोज्ञसंयोगचिन्ता, (३) रोगचिन्ता, (४) निदान (नियाणा) करना।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं—(१) क्रन्दनता, (२) शोचनता, (३) तेपनता, (४) परिदेवनता।

ऊंचे स्वर से रोना **क्रन्दनता** है। फिक्र करना, दीनता दिखाना **शोचनता** है। आंखों से आंसू बहाना **तेपनता** है और विलाप करते हुए बार-बार क्लेशयुक्त भाषा बोलना **परिदेवनता** है।

२. **रौद्रध्यान के चार भेद हैं**—(१) हिंसानुबन्धी, (२) मृषानुबन्धी, (३) चौर्यानुबन्धी, (४) संरक्षणानुबन्धी।

रौद्रध्यान के चार लक्षण हैं—(१) ओसन्नदोष, (२) बहुलदोष, (३) अज्ञानदोष, (४) आमरणान्तदोष।

हिंसादि पापों से बचने की चेष्टा का न होना **ओसन्नदोष** है। हिंसादि

---

१. श्राद्धविधि, पृ० ७६, श्लोक ३

२. स्था. ४।१।२४७, भगवती. २५।७।८०३ तथा औपपातिक सूत्र १६

पापों में रात-दिन प्रवृत्ति करते रहना **बहुलदोष** है। कुसंस्कारवश हिंसादि पापों में धर्म मानते रहना **अज्ञानदोष** है। मरणपर्यन्त पापों का पश्चात्ताप न करना **आमरणान्तदोष** है।

३. **धर्म ध्यान के चार भेद हैं**—(१) आज्ञाविचय, (२) अपाय-विचय, (३) विपाकविचय, (४) संस्थानविचय।

धर्मध्यान के चार लिङ्ग हैं—(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) सूत्ररुचि (४) अवगाढ़रुचि (उपदेशरुचि)।

धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (प्रतिपृच्छा), (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा[1]।

इन चारों के सहारे धर्मध्यान टिकता है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं— (१)एकत्वानुप्रेक्षा (२) अनित्यत्वानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) संसारनुप्रेक्षा।

(धर्मध्यान में एकत्व-अनित्यत्वआदि का चिन्तन होता है)अनुप्रेक्षा का अर्थ चिन्तन है।

धर्मध्यान के दूसरे प्रकार से भी चार भेद हैं[2]— (१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत।

४. **शुक्लध्यान के चार भेद हैं**—(१) पृथक्त्ववितर्कसविचार, (२) एकत्ववितर्कअविचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, (४) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति।

शुक्लध्यान के चार लिङ्ग हैं—(१) अव्यथ, (२) असम्मोह, (३) विवेक, (४) व्युत्सर्ग।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं—(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) मुक्ति।

---

१. भगवती में अनुप्रेक्षा की जगह धर्मकथा पाठ है।

२. ज्ञानार्णव प्रकरण ३७ से ४०, योगशास्त्र प्रकाश ७ से १० तथा कर्तव्य-कौमुदी, भाग २, श्लोक २०७ से २०६

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं— (१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा, (३) अशुभानुप्रेक्षा, (४) अपायानुप्रेक्षा।

चारों ध्यानों के सारे भेद ४८ होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन **मनोनिग्रह के दो मार्ग** नामक पुस्तक में किया जा चुका है। अतः पाठकगण वहाँ पढ़ने का प्रयत्न करें।

यद्यपि यहाँ आर्त्त-रौद्रध्यान का वर्णन प्रसंगवश किया गया है लेकिन उनका समावेश ध्यानतप में नहीं होता।

प्रश्न १७—व्युत्सर्ग का रहस्य समझाइए!

उत्तर—ममता का त्याग करना व्युत्सर्गतप है। इसके दो भेद हैं—द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग[1]।

द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद हैं—(१) शरीरव्युत्सर्ग, (२) गणव्युत्सर्ग, (३) उपधिव्युत्सर्ग, (४) आहारव्युत्सर्ग।

(१) शरीर की हलन-चलनादि क्रियाओं का त्याग करना **शरीरव्युत्सर्गतप** है। इस तप की विशेष साधना यद्यपि ध्यान अथवा पादपोपगमन अनशन के समय होती है, फिर भी जहाँ तक हो सके, शारीरिक चंचलता को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) तपस्या या उत्कृष्ट साधना के लिए गण-साधुसमुदाय का त्याग करके एकाकीविहार करना **गणव्युत्सर्गतप** है। यह तप 'जिनकल्पिक प्रतिमाधारी आदि विशिष्ट साधु करते हैं। स्वच्छन्दतावश अकेले भटकने वाले मुनि इस तप के साधक नहीं हो सकते।

(३) वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का त्याग करना **उपधिव्युत्सर्गतप** है। इसकी विशेष साधना तीर्थंकर या जिनकल्पिक मुनि कर सकते हैं। फिर भी साधुओं को उपधि कम रखकर यथासंभव हल्का रहने की चेष्टा करनी चाहिए।

(४) आहार-पानी का त्याग करना **भक्त-पान** व्युत्सर्गतप है।

---

१. भगवती. २५।७।८०२, औपपातिक तप अधिकार सूत्र १९ तथा उत्तरा. ३०।३६

शरीर-गण आदि बाह्यद्रव्यों से सम्बन्धित होने के कारण यह व्युत्सर्ग **द्रव्यव्युत्सर्ग** कहलाता है।

भावव्युत्सर्ग के तीन भेद हैं—(१) कपायव्युत्सर्ग, (२) संसारव्युत्सर्ग, (३) कर्मव्युत्सर्ग।

१. क्रोधादिकषायों का त्याग करना **कषायव्युत्सर्गतप** है। इसके चार भेद हैं—(१) क्रोधकषायव्युत्सर्ग, (२) मानकषायव्युत्सर्ग, (३) मायाकषायव्युत्सर्ग, (४) लोभकषायव्युत्सर्ग।

२. सांसारिकवासना का त्याग करना **अथवा** नरकगति-तिर्यञ्चगति के प्रति द्वेष एवं देवगति-मनुष्यगति के प्रति राग (इनके सुखों की प्राप्ति के लिए कामना) का त्याग करना **अथवा** नरकादिगतिरूप संसार के बन्धकारणमिथ्यात्वादि आस्रवों का त्याग करना **संसारव्युत्सर्गतप** है। इसके चार भेद हैं—(१) नरकसंसारव्युत्सर्ग, (२) तिर्यञ्चसंसारव्युत्सर्ग, (३) मनुष्यसंसारव्युत्सर्ग, (४) देवसंसारव्युत्सर्ग।

३. ज्ञानावरणीयादिकर्म जिन-जिन कारणों से बंधते हैं—उन कारणों का परित्याग करना **कर्मव्युत्सर्गतप** है। (कर्मबन्ध के कारण पुञ्ज ३-४-५ में यथास्थान दिए गए हैं) इसके आठ भेद हैं—ज्ञानावरणीयकर्मव्युत्सर्ग यावत् अन्तरायकर्मव्युत्सर्ग।

उपरोक्त तीन प्रकार के व्युत्सर्ग भावपरिणाम से सम्बन्धित हैं। यद्यपि द्रव्यव्युत्सर्ग भी आभ्यन्तरतप के अन्तर्गत होने से भावपूर्वक ही होता है, फिर भी उसका सम्बन्ध अन्य द्रव्यों से होने के कारण वह द्रव्यत्याग गिना गया है और भावत्याग में आत्मा में रही हुई काषायिकवृत्ति पराकर्षण तथा कर्मसंयोग का त्याग लिया गया है।

बारहवां पुञ्ज

प्रश्न १—मोक्ष का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आठों कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय होने पर, आत्मा का ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप में स्थिर होना मोक्ष है[1]। मोक्ष अर्थात् कर्मवन्धनों से विलकुल मुक्त होकर ज्योतिस्वरूप वन जाना।

प्रश्न २—मुक्त होने के वाद आत्मा किस रूप में रहती है ?

उत्तर—जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि एवं वेदना से छुटकारा पाकर मुक्त आत्माएं अनन्त-आत्मिक सुखों में रमण करती हैं[2]। आगम में कहा है कि तीनों काल (भूत-भविष्यत्-वर्तमान) के दिव्य-सुखों को एकत्रित करके उन्हें अनन्तवार गुणा करने से जो राशि आती है, उससे भी मुक्ति के सुख अधिक हैं[3]। यद्यपि वहां खाना-पीना, नहाना-धोना, खेलना-कूदना आदि शारीरिक क्रियाओं से सम्वन्धित सुख नहीं हैं (क्योंकि मुक्त-आत्माएं अशरीरी हैं एवं शरीर न होने से उनमें न शव्द है, न रूप है, न गन्ध है, न

---

१. जैनसिद्धान्त दीपिका ५।३९

२. उत्तरा. २३।८१

३. औपपातिक-सिद्धाधिकार १३

रस है और न स्पर्श है[1]), फिर भी वे जन्म-मरण आदि दुःखों के अत्यन्त-अभावरूप अनन्त-आनन्द का अनुभव कर रही हैं। मुक्त आत्माओं का दूसरा नाम सिद्ध भगवान् है।

प्रश्न ३—मोक्ष-प्राप्ति के कितने साधन हैं ?

उत्तर—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र—ये तीन मोक्ष के सद्भूत—यथार्थ सावन (उपाय) हैं[2]। इन तीनों की सफल साधना करके हरएक व्यक्ति मोक्ष पा सकता है, चाहे वह किसी भी लिङ्ग, देश, जाति या धर्म का हो। इसी वात को लक्ष्य करके सिद्धों की उत्पत्ति १५ प्रकार की मानी गई है अर्थात् सिद्धों के १५ भेद किए गए हैं[3]।

प्रश्न ४—सिद्धों के पन्द्रह भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थंकरसिद्ध, (४) अतीर्थंकरसिद्ध, (५) स्वयंवुद्धसिद्ध, (६) प्रत्येकवुद्धसिद्ध, (७) वुद्ध-वोधितसिद्ध, (८) स्त्रीलिङ्गसिद्ध, (९) पुरुषलिङ्गसिद्ध, (१०) नपुंसक-लिङ्गसिद्ध, (११) स्वलिङ्गसिद्ध, (१२) अन्यलिङ्गसिद्ध, (१३) गृहस्थ-लिङ्गसिद्ध, (१४) एकसिद्ध, (१५) अनेकसिद्ध।

इनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) तीर्थसिद्ध—जिससे संसार-समुद्र तिरा जाए, वह **तीर्थ** कहलाता है अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरों के प्रवचन सिद्धान्त और उनको धारण करने वाला साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका का रूप चतुर्विध संघ तथा प्रथमगणधर तीर्थ है। तीर्थ की स्थापना एवं प्रवर्तन करने वाले महापुरुष **तीर्थंकर** होते हैं।

तीर्थ की स्थापना के वाद जो गोतम स्वामीवत् मोक्ष जाते हैं, वे तीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं।

---

१. आचाराङ्ग. ५।६

२. उत्तरा. २३।३३

३. प्रज्ञापना १ सूत्र ७ तथा टीका

(२) **अतीर्थसिद्ध**—तीर्थ की स्थापना होने से पहले अथवा तीर्थ का विच्छेद होने के वाद जो जीव मोक्ष जाते हैं, वे **अतीर्थसिद्ध** कहलाते हैं।

नौवें भगवान् श्री सुविधिनाथ से लेकर सोलहवें भगवान् श्री शान्तिनाथ तक आठ तीर्थंकरों के वीच सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद हो गया था अर्थात् इस भरत क्षेत्र में जैन-धर्म नष्ट हो गया था।

(३) **तीर्थंकरसिद्ध**—तीर्थंकर पद प्राप्त करके मोक्ष जानें वाले जीव तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं।

(४) **अतीर्थंकरसिद्ध**—गजसुकुमालवत् सामान्य-केवली होकर मोक्ष जाने वाले अतीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं।

(५) **स्वयंबुद्धसिद्ध**—तीर्थंकरों की तरह स्वयमेव प्रबुद्ध होकर मोक्ष जाने वाले स्वयंवुद्धसिद्ध कहलाते हैं।

(६) **प्रत्येकबुद्धसिद्ध**—जो नमिराजा की तरह किसी एक वस्तु के दर्शन से प्रतिवुद्ध होकर मोक्ष जाते हैं, वे प्रत्येकवुद्धसिद्ध कहलाते हैं।

(७) **वुद्धवोधित सिद्ध**—मेघकुमारवत् आचार्यादि के उपदेश से वोध पाकर मोक्ष जाने वाले वुद्धवोधितसिद्ध कहलाते हैं।

(८) **स्त्रीलिङ्गसिद्ध**—स्त्रीलिङ्ग से मोक्ष जाने वाले स्त्रीलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं। यहां स्त्रीलिङ्ग शब्द स्त्रीत्व का सूचक है। स्त्रीत्व (स्त्रीपना) तीन प्रकार का वतलाया गया है—वेद, शरीराकृति और वेश। यहां पर शरीराकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योंकि वेद के उदय में तो कोई जीव सिद्ध हो ही नहीं सकता और वेश अप्रमाण है। नन्दीसूत्र में चूर्णिकार ने भी लिखा है कि स्त्री के आकार में रहते हुए जो मोक्ष गए हैं, वे स्त्रीलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं। ये एक समय में उत्कृष्ट बीस सिद्ध हो सकते हैं।

(९) **पुरुषलिङ्गसिद्ध**—पुरुष की आकृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले पुरुषलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं। ये एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं।

(१०) **नपुंसकलिङ्गसिद्ध**—नपुंसक की आकृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसकलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं। ये एक समय में उत्कृष्ट दस

मोक्ष जा सकते हैं। यहां कृतनपुंसक का ग्रहण किया गया है, मूलनपुंसक-सिद्ध नहीं वन सकते।

(११) **स्वलिङ्गसिद्ध**—जैन साधु के वेश (रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं।

(१२) **अन्यलिङ्गसिद्ध**—परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुआ वस्त्र आदि द्रव्यलिङ्ग में रहकर मोक्ष जाने वाले अन्यलिङ्गसिद्ध कहलाते हैं।

(१३) **गृहस्थलिङ्गसिद्ध**—मरुदेवी माता की तरह गृहस्थ के वेश में मोक्ष जाने वाले गृहस्थलिङ्ग (गृहिलिङ्ग) सिद्ध कहलाते हैं।

(१४) **एकसिद्ध**— एक समय में एक-एक मोक्ष जाने वाले एकसिद्ध कहलाते हैं।

(१५) **अनेकसिद्ध**—एक समय में एक से अधिक मोक्ष जाने वाले अनेक सिद्ध कहलाते हैं।

एक साथ अधिक से अधिक १०८ जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसका पूरा विवेचन इस प्रकार है[1]—यदि प्रति समय १-२-३ यावत् ३२ जीव मोक्ष जाएं तो निरन्तर आठ समय तक जा सकते हैं। इसके वाद निश्चित रूप से अन्तर पड़ता है। तेंतीस से लेकर अड़तालीस जीव निरन्तर सात समय तक, उनंचास से लेकर साठ जीव निरन्तर छः समय तक, इकसठ से वहत्तर जीव निरन्तर पांच समय तक, तिहत्तर से चौरासी जीव निरन्तर चार समय तक, पिचासी से छियानवें जीव निरन्तर तीन समय तक, सत्तानवें से एक सौ दो जीव निरन्तर दो समय तक और एक सो तीन से लेकर एक सौ आठ जीव यदि मोक्ष जाएं तो केवल एक समय तक जा सकते हैं अर्थात् एक समय में उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। इसके वाद अवश्य अन्तर पड़ता है। सिद्धों का विरह (अन्तर) उत्कृष्ट छः मास का

---

१. बत्तीसा अडयाला, सट्ठी वावत्तरी य वोद्धव्वा।
चुलसीई छन्नउई उ, दुरहियमट्ठुत्तर सयं च॥

पड़ता है[1] अर्थात् कभी-कभी छः मास तक कोई भी जीव सिद्ध नहीं वनता—मोक्ष नहीं जाता।

प्रश्न ५—मोक्ष-प्राप्ति कहां से होती है ?

उत्तर—मात्र मनुष्य गति से हो सकती है, देव, नरक एवं तिर्यञ्च-गति से नहीं। जितना बड़ा मनुष्य लोक है, उतना ही वड़ा मुक्तिस्थान—सिद्धशिला है। गांव-नगर-पहाड़-नदी एवं समुद्र आदि जिस किसी भी स्थान से प्राणी मुक्त होता है, वहीं से सीधी आकाश श्रेणी द्वारा गमन करता हुआ सिद्धशिला के ऊपर लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाता है। यद्यपि मुक्तिगमन मुख्यतया पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच महाविदेह—ऐसे पन्द्रह क्षेत्रों से होता है, लेकिन पूर्ववैर आदि के कारण अपहरण किए हुए साधु नदी—समुद्रादि से भी मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, अस्तु !

प्रश्न ६—सिद्धशिला का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—सर्वार्थसिद्ध-महाविमान से वारह योजन ऊंची, ठीक मनुष्य क्षेत्र के ऊपर, पैंतालीस लाख योजन की लम्बी-चौड़ी, गोल और मध्य-भाग में आठ योजन की मोटी एवं चारों तरफ से क्रमशः घटती-घटती, किनारों पर मक्खी की पांख से भी पतली, अर्जुन-सुवर्णमय छत्राकार एक शिला है। उसके सिद्धि, मुक्ति, मोक्ष, मुक्तालय, सिद्धक्षेत्र, निर्वाण, लोकाग्र, ईषत्प्राग्भारा, सिद्धशिला आदि अनेक नाम हैं। उस सिद्धशिला के एक योजन ऊपर अर्थात् योजन के अन्तिम चौबीसवें भाग में तीन-सौ तेंतीस धनुष्य एक हाथ आठ अंगुल जितने मोटे और मनुष्य-लोक जितने विस्तृत क्षेत्र में अनन्त सिद्ध-भगवान रहते हैं[2]।

छोटे से स्थान में अनन्त सिद्धों का समावेश ज्योति में ज्योति की तरह निःसंकोच रूप से हो जाता है क्योंकि अशरीरी होने के कारण वे स्थान

---

१. प्रज्ञापना ६

२. प्रज्ञापना २

नहीं रोकते। सिद्धों की अवगाहना जघन्य एक हाथ आठ अंगुल एवं उत्कृष्ट तीन सौ तेंतीस धनुष्य एक हाथ आठ अंगुल की होती है।

प्रश्न ७—जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहना का तत्त्व समझाइए!

उत्तर—ऊंचे से ऊंचे पांच-सौ धनुष्य की अवगाहनावाले मनुष्य मोक्ष जा सकते हैं। संसारी अवस्था में आत्मप्रदेश और कर्मप्रदेश मिले-जुले रहते हैं, लेकिन मोक्ष जाते समय कर्मप्रदेश अलग होने से आत्मप्रदेश धनुष्याकार होकर यहां के शरीर से तीसरे भाग न्यून स्थान में ही अवस्थित हो जाते हैं, इसलिए पांच-सौ धनुष्यवाले मनुष्य जो सिद्ध वनते हैं,[1] उनकी अवगाहना एक तिहाई भाग घटने पर तीन-सौ तेंतीस धनुष्य एक हाथ आठ अंगुल रहती है और सिद्ध-स्थान भी इतना ही वड़ा माना गया है। सारांश यह है कि अन्तिमभव के शरीर से एक तिहाई भाग काटकर सिद्धों की अवगाहना होती है। इस हिसाव से छोटे-से-छोटे जो दो हाथ के मनुष्य सिद्ध वनते हैं[1]

---

१. दो हाथ (४८ अंगुल) से कम अवगाहनावाले मोक्ष नहीं जा सकते। आज एक फुट चार इंच के मनुष्य भी उपलब्ध हैं। आस्ट्रेलिया-निवासी जार्ज 'डावी' का कद एक फुट चार इंच अर्थात् २१$\frac{1}{3}$ अंगुल का है। आयु ४६ वर्ष की है। द्वितीय महायुद्ध में जार्ज एक कुशल-गुप्तचर (सी. आई. डी.) का काम करते थे। महायुद्ध के वाद उन्होंने अपना अधिकांश समय होटलों में व्यतीत किया। रात्रि-भोजन के समय आनेवाले मेहमानों का जार्ज करतलध्वनि से स्वागत किया करते एवं मेहमान उनसे हाथ मिलाकर आनन्द और आश्चर्य का अनुभव करते।

'अनोखा विवाह': श्रीमती जार्ज की जार्ज से पहली भेंट पेरिस में हुई थी। उन्होंने देखते ही कौतूहलवश जार्ज को गोदी में उठा लिया और पूछा—'क्या मेरे घर चलोगे?' मन्द मुसकान बिखेरते हुए जार्ज ने उत्तर दिया—'तुम चाहो तो मैं आजीवन तुम्हारे घर रह सकता हूं।' प्रेम जागृत हुआ और छोटे खिलौने तुल्य उस वातूनी व्यक्ति को जीवन भर के लिए वह अपने घर ले गई अर्थात् उससे विवाह कर लिया। श्रीमती जार्ज का कद छः फीट लम्वा था। इस अद्भुत जोड़े की दो संतानें हैं। लेकिन जार्ज को इस वात का खेद है कि वे दोनों माता के समान लम्वी हैं।

(वीर अर्जुन साप्ताहिक—१० मई, १९६९ के आधार से)

उनकी अवगाहना वहां एक हाथ आठ अंगुल रहती है।

शरीर छोड़ते समय जीव बैठा, सोया या खड़ा जिस भी आकार में होता है, उसका सिद्ध-रूप में वही आकार रहता है[1]।

प्रश्न ८—आठ कर्मों का क्षय होने से सिद्धों को क्या मिलता है?

उत्तर—८ तथा ३१ गुण प्रकट होते हैं[2]। आठ गुण ये हैं—

(१) **केवलज्ञान**—ज्ञानावरणीयकर्म का क्षय होने से उनका ज्ञानगुण पूर्णरूप से प्रकट होता है। इससे वे समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने लगते हैं—इसी गुण को केवलज्ञान कहते हैं।

(२) **केवलदर्शन**—दर्शनावरणीयकर्म का क्षय होने से दर्शनगुण पूर्णरूप से प्रकट होता है। इससे वे सभी पदार्थों को साक्षात् देखने लगते हैं—यही गुण केवलदर्शन है (भेदरूप से जानना ज्ञान है एवं अभेदरूप से जानना दर्शन है)।

(३) **अव्याबाधसुख**—वेदनीयकर्म के क्षय होने से उन्हें अव्याबाधसुख (जिसमें कभी किसी तरह की भी बाधा न आए ऐसा) अनन्तआत्मिक सुख प्राप्त होता है। यद्यपि सातावेदनीयकर्म के उदय से भी जीव को सांसारिक सुख मिलता है लेकिन उस सुख के साथ जन्म-मरण-रोग-शोक-भय-चिन्ता आदि अनेक प्रकार की बाधा-पीड़ा लगी रहती है अतः वह सुख-दुखों से मिश्रित होता है।

(४) **क्षायिकसम्यक्त्व**—मोहनीयकर्म सम्यक्त्व और चारित्र का घातक है। उसका क्षय होने से आत्मा को क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्र मिलते हैं। सिद्धों में यद्यपि चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न चारित्र की उज्ज्वलता है लेकिन शरीर न होने से आचरणरूप चारित्र नहीं होता

---

१. प्रज्ञापना २

२. अनुयोगद्वार-क्षायिकभाव सूत्र १२६, प्रवचनसारोद्धार. द्वार २७३ गा. १५९३-९४ तथा समवायाङ्ग ३१

अतः उनमें केवल क्षायिकसम्यक्त्व का ग्रहण किया गया है।

(५) **अक्षयस्थिति**—मोक्ष में गया हुआ जीव वापस नहीं आता, सदा वहीं रहता है। इसी को अक्षयस्थिति कहते हैं। आयुकर्म के उदय से जीव जिस गति में जितनी आयु बांधता है, उतने काल वहां रहकर फिर दूसरी गति में चला जाता है। सिद्धों के आयुकर्म का क्षय होने से स्थिति की मर्यादा नहीं रहती। इसीलिए वहां अक्षयस्थिति होती है। स्थिति के साथ उनकी अवगाहना भी अटल-निश्चित हो जाती है। अतः सिद्धों में **अटल अवगाहना** गुण भी पाया जाता है।

कइयों की मान्यता है कि महाप्रलय के वाद मुक्तजीव पुनः संसार में आ जाते हैं। किन्तु यह असंभव है क्योंकि बीज जलने के वाद जैसे अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार कर्मवीज नष्ट हो जाने के वाद जीव संसार में जन्म धारण नहीं कर सकते। कर्मों के निमित्त से ही जन्म-मरण होते हैं।

मोक्ष जाने के वाद जीव यदि वापस नहीं आते तो एक दिन संसार विलकुल खाली हो जाएगा। क्योंकि जीव नये तो पैदा होते नहीं और अनन्तकाल से मोक्ष जा रहे हैं—इस शंका का समाधान यह है कि जैसे अनन्तकाल से समय (काल के परमाणु) भविष्यत्काल से भूतकाल में जा रहे हैं, फिर भी अनन्त होने से भविष्यत्काल का अन्त न तो आज तक आया है एवं न कभी आएगा। जैसे—आकाश का अन्त लेने के लिए मनुष्य तो क्या, यदि कोई देवता भी अपनी अद्भुत देवशक्ति से दौड़ना शुरू करे एवं लाखों वर्षों तक दौड़ता ही जाए, तो भी इस अनन्तआकाश का अन्त नहीं आ सकता। काल व आकाश की तरह जीव भी अनन्त हैं अतः उनका अन्त कभी नहीं आ सकता। आगम में कहा है कि जीव अनन्तकाल से मोक्ष जा रहे हैं एवं सदा जाते रहेंगे, फिर भी संसार खाली नहीं होगा। संसार के खाली होने की तो वात ही क्या है, निगोद का एक शरीर भी खाली नहीं होगा। (निगोद के एक शरीर में इतने अनन्त जीव होते हैं)।

(६) **अरूपीपन**—अच्छे या बुरे शरीर का वन्ध नामकर्म के उदय से होता है तथा कार्मण आदि शरीरों के सम्मिश्रण से जीवरूपयुक्त वनता है, सिद्धों का नामकर्म नष्ट हो चुका अतः उनका जीव शरीर-रहित है एवं अरूपी है। अरूपीपन को **अमूर्तभाव** भी कहते हैं।

(७) **अगुरुलघुता**—गोत्रकर्म के उदय से जीव छोटा-वड़ा या ऊंच-नीच होता है। इसके नष्ट होने से सिद्ध भगवान् अगुरुलघुतागुण से युक्त वनते हैं। उनमें कोई छोटा-वड़ा आदि नहीं होता।

(८) **अनन्तशक्ति**—जीव की शक्ति रोकनेवाला अन्तरायकर्म है। इसका क्षय होने से सिद्धों में अनन्तआत्मिकशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। किसी भी प्रकार की अन्तराय-विघ्न-वाधा उनके सामने नहीं आ सकती।

सिद्धों के इकतीस गुण—आठों कर्मों की प्रकृतियों को अलग-अलग गिनने से सिद्धों के ३१ गुण हो जाते हैं। जैसे—ज्ञानावरणीयकर्म की ५, दर्शनावरणीयकर्म की ९, वेदनीयकर्म की २, मोहनीयकर्म की २ (दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय), आयुकर्म की ४, नामकर्म की २ (शुभ-नाम और अशुभनाम), गोत्रकर्म की २ (उच्चगोत्र और नीचगोत्र) तथा अन्तरायकर्म की ५—इन ३१ प्रकृतियों के क्षय होने से सिद्धों के ३१ गुण प्रकट होते हैं। मतिज्ञानावरणीयकर्म के क्षय होने से वे क्षीणमतिज्ञाना-वरण कहलाते हैं यावत् वीर्यान्तरायकर्म के क्षय होने से वे क्षीणवीर्यान्तराय कहलाते हैं।

दूसरे प्रकार से सिद्धों के ३१ गुण ये हैं[1]—

उनमें पांच संस्थान नहीं हैं—वे न वड़े हैं, न छोटे हैं, न गोल हैं, न त्रिकोण हैं, न चौकोर हैं और न मण्डलाकार हैं। **उनमें पांच वर्ण नहीं हैं**—वे न काले हैं, न लाल हैं, न हरे हैं, न पीले हैं और न सफेद हैं। **उनमें दो गन्ध नहीं हैं**—वे न सुगन्ध हैं और न दुर्गन्ध हैं। **उनमें पांच रस नहीं हैं**—वे न तीखे हैं, न कड़वे हैं, न कषैले हैं, न खट्टे हैं और न मीठे हैं।

---

१. आचाराङ्ग ५।६

उनमें आठ स्पर्श नहीं हैं—वे न कठोर हैं, न कोमल हैं, न भारी हैं, न हल्के हैं, न ठण्डे हैं, न गर्म हैं, न चिकने हैं और न रूखे हैं। उनके न शरीर हैं, न सङ्ग—आसक्ति है और न पुनर्जन्म है तथा वे न स्त्री हैं, न पुरुष हैं एवं न नपुंसक हैं। सिद्ध भगवान् इन ३१ उपाधियों से मुक्त हैं—ये ही उनके ३१ गुण हैं।

प्रश्न ९—मोक्ष-प्राप्ति के लिए और क्या-क्या चाहिए ?

उत्तर—(१) सबसे पहले मनुष्यता चाहिए, (२) फिर धर्मशास्त्रों का श्रवण चाहिए, (३) उसमें श्रद्धा चाहिए, (४) जिन अहिंसा-सत्य-तप-संयमादि धार्मिक क्रियाओं में श्रद्धा हो गई है, उनमें पराक्रम करना चाहिए यानी उनका अभ्यास करना चाहिए। ये चारों क्रमशः दुर्लभ एवं मोक्ष-प्राप्ति के परम अंग माने गए हैं।[1]

आज कइयों को यह सन्देह हो रहा है कि प्रत्येक धर्मशास्त्रकार ने मनुष्यजन्म की दुर्लभता बताई है लेकिन वर्तमान दुनिया की जनसंख्या जिस तीव्रगति से बढ़ रही है, उसे देखते हुए मनुष्यजन्म दुर्लभ न होकर अत्यन्त सुलभ है।

देखिये—जनसंख्या का गहराई से अध्ययन करनेवालों का कहना है कि वर्तमान दुनिया (जिसका वैज्ञानिकों को पता लगा है) में प्रतिघंटा १३५०० मनुष्य जन्म लेते हैं और ६५०० मर जाते हैं अतः सात हज़ार बढ़ जाते हैं।[2] अभी-अभी जनसंख्या-विवरण ब्यूरो (एक ग़ैर-सरकारी अमरीकी संस्था) ने अनुमान लगाया है कि विश्व की जनसंख्या प्रति मिनट १३८; प्रतिघंटा ८२८०; प्रतिदिन १,९८,७२०; प्रतिमास ५९,६१,६०० और प्रतिवर्ष ७,१५३९२०० बढ़ती है। यदि यह इसी गति से बढ़ती रही तो वर्तमान विश्व-जनसंख्या जो ३६३ करोड़ है, केवल पैंतीस

१. उत्तरा. ३।१

२. दैनिक हिन्दुस्तान—२८ अगस्त, १९६९ के आधार से

वर्षों में दुगुनी हो जाएगी।[1]

उपरोक्त शंका करनेवालों से निवेदन है कि धर्मशास्त्रों के अनुसार नरक, तिर्यञ्च और देवताओं की अपेक्षा मनुष्यों के उत्पत्तिस्थान बहुत कम हैं और मनुष्य बनने की इच्छा हरएक प्राणी रखता है।[2] सम्भवतः उत्पत्तिस्थान कम एवं ग्राहकों की संख्या अधिक होने से ही इस मनुष्यजन्म को दुर्लभ कहा गया है। **दूसरी बात**, मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—आकार से और प्रकार से। जो केवल मनुष्य का आकार धारण करते हैं किन्तु सत्य, शील, तप, जप आदि मनुष्य के गुणों से हीन हैं, वे आकार से मनुष्य हैं और जो मनुष्य के उक्त गुणों से संपन्न हैं, वे प्रकार से मनुष्य हैं। आज जो मनुष्य बढ़ रहे हैं, उनमें अधिकांश आकार से मनुष्य हैं, प्रकार से नहीं। गुणसंपन्न मनुष्यों की तो उत्तरोत्तर कमी होती जा रही है। अस्तु।

प्रश्न १०—मोक्षप्राप्ति किसको होती है?

उत्तर—जैनशास्त्र में कहा है कि जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सम्यक्त्व का उपयोग करेगा, वह संसार से मुक्ति पाएगा।[3] **गीता** १५।५ में **श्रीकृष्ण** का फरमान है कि जो मान-मोह से रहित हैं, आसक्ति-दोष को जीतनेवाले हैं, सदा अध्यात्मभाव में स्थित हैं, कामनाओं से निवृत्त हैं और सुख-दुःख नाम के द्वन्द्वों से मुक्त हैं—वे ज्ञानी अव्ययपद-मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ११—मोक्षप्राप्ति में आयु का भी क्या कुछ नियम है?

---

१. दैनिक हिन्दुस्तान—११ अप्रैल, १९७० के आधार से।

२. सर्वार्थसिद्धिमहाविमान—छब्बीसवें स्वर्ग के देवता भी—ऐसी भावना भाते हैं कि कब हमें मनुष्य-जन्म मिले, आर्यदेश मिले, उत्तमकुल मिले एवं केवलिभाषितधर्म का सुनना मिले तथा कब हम सुने हुए धर्म पर श्रद्धा-प्रतीति-रुचि करें और उसके अनुसार आचरण करें।

३. आतुरप्रत्याख्यान ८०

उत्तर—हां, है ! कम-से-कम साधिक-आठ वर्ष (गर्भसहित नौ वर्ष) का और अधिक-से-अधिक करोड़ पूर्व की आयुवाला मनुष्य मोक्ष जा सकता है।[1] करोड़ पूर्व से अधिक आयु वाले मनुष्य **युगल** कहलाते हैं एवं वे मोक्ष नहीं जा सकते।

प्रश्न १२—मोक्षप्राप्ति किस समय होती है ?

उत्तर—(१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति-भवितव्यता, (४) पूर्वकृतकर्मक्षय, (५) पुरुषार्थ (उद्यम)—इन पांचों कारणों का समवाय-सम्मिलन होने पर प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2]

भव्यजीव काल—समय आने पर ही मोक्ष पाते हैं अतः मोक्षप्राप्ति में सर्वप्रथम काल आवश्यक है। काल के साथ स्वभाव की भी पूरी ज़रूरत है। यदि केवल काल से ही मुक्ति मिल जाए तो अभव्यजीवों को भी मुक्ति मिल जानी चाहिए, लेकिन नहीं मिलती क्योंकि उनमें मुक्त होने का स्वभाव नहीं है।

काल और स्वभाव के साथ नियति-भवितव्यता भी मुक्तिप्राप्ति में परम कारण हैं; अन्यथा सारे भव्यजीव एक साथ मुक्त हो जाने चाहिए, किन्तु नहीं होते। जिन्हें काल-स्वभाव के साथ नियति का योग प्राप्त होता है, मात्र वे ही मुक्त होते हैं।

काल, स्वभाव और नियति का योग होने पर भी अनुकूल उद्यम की परम आवश्यकता है। राजा **श्रेणिक** त्याग-प्रत्याख्यान रूप उद्यम न करने के कारण ही मुक्त न हो सका।

काल, स्वभाव, नियति एवं पुरुषार्थ का योग होने पर भी कृतकर्मों का क्षय होना आवश्यक है। कुछ कर्म शेष रहने के कारण **श्रीशालिभद्रमुनि** मोक्ष नहीं जा सके।

---

१. औपपातिक-सिद्धाधिकार २३

२. सन्मतितर्कप्रकरण तृतीयकाण्ड भाग ५, गा० ५३, पृष्ठ ७१० (आगमसार, कारणसंवाद)

अतः मोक्षप्राप्ति के लिए इन पांचों का संयोग अवश्य चाहिए।

प्रश्न १३—इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर गुणस्थानों का वर्णन आया है अतः उनका रहस्य समझाइये!

उत्तर—गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों अर्थात् क्रमिकविकास की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं अथवा आत्मा की क्रमिकविशुद्धि गुण-स्थान है।[1]

मोक्ष का अर्थ है आध्यात्मिकविकास की पूर्णता। यह पूर्णता एकाएक प्राप्त नहीं हो सकती। अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ जीव धीरे-धीरे उन्नति करके इस अवस्था को पहुंचता है। आत्मविकास के उस मार्ग में जीव जिन-जिन अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उन्हें गुणस्थान कहा जाता है। गुणस्थान चौदह हैं—[2]

(१) **मिथ्यादृष्टिगुणस्थान**—सर्वज्ञभाषिततत्त्वों से विपरीत दृष्टि-विचारधारावाला व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहलाता है। मिथ्यादृष्टि जीव विपरीतश्रद्धा होते हुए भी जो अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि गुणों में श्रद्धा करता है एवं उन्हें उत्तम मानता है—यह उसका गुण है। इसी गुण की अपेक्षा उसमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थान कहा गया है। कई लोग विपरीतश्रद्धा को मिथ्यागुणस्थान मानते हैं किन्तु उदयभाव होने से वह गुणस्थान नहीं हो सकती। गुणस्थान तो क्षयोपसमभाव है अतः मिथ्यादृष्टियों में जितने-जितने क्षायोपशमिकगुण हैं—वे ही गुणस्थान हैं।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थान की स्थिति तीन प्रकार की होती है—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त।

(क) अभव्य या कभी मोक्ष में न जानेवाले भव्य-जीवों की अपेक्षा यह अनादि-अनन्त है अर्थात् आदि-अन्त-रहित है।

---

१. जैनसिद्धान्त-दीपिका ८।१

२. समवायाङ्ग १४, कर्मग्रन्थ, भाग २ एवं ४, प्रवचनसारोद्धार. द्वार २२४ गाथा १३०२ तथा गुणस्थानद्वार के आधार से।

(ख) मोक्ष जानेवाले भव्य जीवों की अपेक्षा यह अनादि-सान्त है—आदिरहित एवं अन्तसहित है।

(ग) सम्यक्त्व को पाकर खो देने वाले (पाडिवाई-सम्यग्दृष्टि) जीवों की अपेक्षा यह सादि-सान्त है अर्थात् आदि-अन्त सहित है।

इस गुणस्थान वाले कई जीव तो एकेन्द्रियादिवत् विवेकशून्य होने से किसी धर्म को मानते ही नहीं और कई मानते हैं तो दुराग्रह या अज्ञान के वश कुधर्म को मानते हैं।

पांच स्थावर, पर्याप्त-अवस्थावाले सभी विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय—इसी गुणस्थान में रहते हैं। संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीव भी अधिकांश इसी में रहने वाले हैं। विश्व में अनन्तानन्त जीव ऐसे हैं, जो न तो कभी इस गुणस्थान से निकले एवं न कभी निकलेंगे।

२. **सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान**—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाला है, परन्तु अनन्तानुवन्धिकषाय के उदय से मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, तब तक सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। जीव की इस अवस्था का नाम सास्वादन सम्मग्दृष्टिगुणस्थान है (इसका विवेचन देखो पुञ्ज ८, प्रश्न ४ में)।

३. **सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान**—अन्य तत्त्वों पर शुद्ध श्रद्धा रखता हुआ भी जीव मिश्रमोहनीयकर्म के उदय से किसी एक तत्त्व या तत्त्वांश पर संदेहयुक्त रहता है। उसकी शंकाशील अवस्था का नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान है—इसे **मिश्रगुणस्थान** भी कहते हैं। इसमें अनन्तानुवन्धिकषाय का उदय न रहने से आत्मा में शुद्धता और मिथ्यात्वमोहनीय के अर्ध विशुद्ध पुञ्ज (मिश्रमोहनीय) का उदय हो जाने से अशुद्धता रहती है—इसलिए इस गुणस्थान की अवस्था मिश्रित मानी गई है। जैसे—गुड़ मिले दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, उसी प्रकार इस अवस्था में जीव की श्रद्धा कुछ सच्ची और कुछ संदेहयुक्त होती है अतः वह किसी बात पर दृढ़ होकर विश्वास नहीं करता। सर्वज्ञ-भाषित तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता और न एकान्त अरुचि

करता—डांवाडोल रहता है। यह दशा अन्तमुहूर्त तक रहती है। इसके वाद जीव या तो सम्यग्दृष्टि वन जाता है या फिर मिथ्यादृष्टि।

४. अविरतिसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—सावद्यकार्यों का त्याग करना विरति है। चारित्र और व्रत इसी के नाम हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टि को धारण करके भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, उसे अविरतिसम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसका स्वरूपविशेष अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

अविरति जीव सात प्रकार के होते हैं :[1]

(क) जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं—ऐसे साधारण लोग।

(ख) जो व्रतों को जानते नहीं, किन्तु पालते हैं—ऐसे अपने-आप तप करने वाले वाल तपस्वी।

(ग) जो व्रतों को जानते नहीं किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं—ऐसे ढीले-पासत्थे साधु, जो संयम लेकर निभाते नहीं।

(घ) जिनको व्रत का ज्ञान नहीं है किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन वरावर करते हैं—ऐसे अगीतार्थ मुनि।

(ङ) जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नहीं करते, जैसे—श्रेणिक, कृष्ण आदि।

(च) जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु पालन करते हैं, जैसे—अनुत्तरविमानवासीदेव।

(छ) जो व्रतों को जानकर स्वीकार कर लेते हैं किन्तु पीछे उनका पालन नहीं कर सकते, जैसे—संविग्नपाक्षिक।

उपरोक्त सात में से पहले चार मिथ्यादृष्टि ही हैं एवं पिछले तीन यथार्थ ज्ञान होने से सम्यग्दृष्टि हैं। अविरतिसम्यग्दृष्टि जीव कई औपशमिक, कई क्षायिक एवं कई क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले होते हैं। वे व्रत

---

१. कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा २

नियमादि को यथार्थ जानते हुए भी अप्रत्याख्यानकषाय का उदय होने से स्वीकार नहीं कर सकते।

५. **देशविरतिगुणस्थान**—प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से जो जीव सावद्यकार्यों से सर्वथा निवृत्त न होकर एक देश से निवृत्त होते हैं, वे **देशविरति या श्रावक** कहलाते हैं। उनकी देशत्यागमय अवस्था को देशविरतिगुणस्थान कहते हैं।

कई श्रावक एक व्रत लेते हैं, कई दो व्रत लेते हैं एवं कई तीन-चार-पांच यावत् वारह व्रत लेते हैं तथा कई श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करके आत्मा का कल्याण करते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त है एवं उत्कृष्ट करोड़पूर्व से कुछ कम है। (श्रावक के १२ व्रतों का और ११ प्रतिमाओं का विस्तृत विवेचन **श्रावकधर्मप्रकाश** पुस्तक में किया गया है)।

६. **प्रमत्तसंयतगुणस्थान**—जिन जीवों के प्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय नहीं रहता केवल संज्वलनकषाय का उदय रहता है, वे जीव सर्वथा (तीनकरण-तीन योग से) सावद्ययोगों का त्याग करके संयत—साधु वनते हैं। उनके अत्यागभावरूप अविरति का सर्वथा अभाव हो जाता है लेकिन आत्मवर्ती-अनुत्साह रूप प्रमाद विद्यमान रहने से वे प्रमत्त-संयत-प्रमादीसाधु कहलाते हैं।[1]

प्रमादी साधुओं की संयमसाधना को प्रमत्तसंयतगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट करोड़पूर्व से कुछ कम है।

७. **अप्रमत्तसंयतगुणस्थान**—प्रमत्तसंयत जव ज्ञान-ध्यान-व्याख्यान-तप आदि में विशेष लीन होते हैं, तव उनके आत्मप्रदेशों से प्रमाद विलकुल

---

१. कई लोग निद्रा-विकथादि रूप प्रमाद-सेवन करनेवाले साधु का अर्थ प्रमादीसाधु करते हैं लेकिन यह अर्थ उचित नहीं लगता क्योंकि यहां अनुत्साह रूप प्रमाद है, जो जागृत अवस्था में भी विद्यमान रहता है।

निकल जाता है एवं वे अप्रमत्तसंयत-अप्रमादी-साधु कहलाते हैं। उनकी संयम-साधना अप्रमत्तसंयतगुणस्थान है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय की है और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की है। उसके वाद वे अप्रमत्तमुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुंचकर उपशमक्षपक क्षेणी ले लेते हैं या पुनः छठे गुणस्थान में आ जाते हैं (वर्तमान में भरत-ऐरावत क्षेत्र के साधु श्रेणी नहीं ले सकते)।

(८) **निवृत्तिबादरगुणस्थान**—जिसमें अप्रमत्तआत्मा की अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चौक रूपी वादर-कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्तिवादरगुणस्थान कहते हैं। यहां से दो श्रेणियां शुरू होती हैं—उपशमश्रेणी और क्षपक-श्रेणी[1]। उपशमश्रेणीवाला जीव मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और क्षपकश्रेणीवाला जीव दसवें से सीधा वारहवें गुणस्थान में जाकर अपडिवाई हो जाता है। फिर उसका अधःपतन कभी नहीं होता। इस आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव पाँच पदार्थों का अपूर्व विधान करता है—(क) स्थितिघात, (ख) रसघात, (ग) गुण-श्रेणी, (घ) गुणसंक्रमण, (ङ) अपूर्वस्थितिवन्ध।

(क) जो कर्मदलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण द्वारा अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटा देना अर्थात् कर्मों की लम्वी स्थिति को घटाकर छोटी करना **स्थितिघात** है।

(ख) कर्मों के तीव्ररस (फल देने की तीव्र शक्ति) को अपवर्तनाकरण द्वारा मन्द कर देना **रसघात** है।

(ग) जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है—अर्थात् उन्हें अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाया जाता है, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर देना **गुणश्रेणी** है।

(घ) जिन शुभ प्रकृतियों का वन्ध अभी हो रहा है, उनमें पहले बंधी

---

१. इनका विवेचन देखो प्रश्न १६ में

हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण कर देना अर्थात्—पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंधनेवाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना **गुणसंक्रमण** है।

(ङ) पहले की अपेक्षा अत्यन्त-अल्पस्थिति में कर्मों को बांधना **अपूर्वस्थितिकर्मबन्ध** है। **यद्यपि ये स्थितिघातादि**—पहले गुणस्थान में शुरू हो जाते हैं लेकिन आठवें गुणस्थान में इनका विधान अपूर्व-अद्भुत होता है, इसलिए इस गुणस्थान को **अपूर्वकरण** भी कहते हैं।

(९) **अनिवृत्तिवादरगुणस्थान**—यहाँ अनन्तानुवन्धि आदि कषाय के तीन चौक तो उपशान्त या क्षीण हो गए किन्तु संज्वलनकपाय के चौक की पूरी निवृत्ति नहीं हुई अतः इस गुणस्थान को अनिवृत्तिवादरगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं—एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्रमोहनीयकर्म का उपशमन करते हैं वे उपशमक कहलाते हैं। जो चारित्रमोहनीयकर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं।

(१०) **सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान**—यहां संज्वलन लोभ के दलिकों का सूक्ष्म खण्डों का उदय रहता है अतः इसे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान कहते हैं। संपराय का अर्थ लोभ है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं।

(११) **उपशान्तमोहगुणस्थान**—उपशमश्रेणीवाला जीव मोहकर्म की सभी प्रकृतियों का उपशम करके जिस सरूपविशेप को प्राप्त होता है, उसे **उपशान्तमोहगुणस्थान** कहते हैं।

कपाय एवं (माया-लोभरूप) राग के उपशान्त होने पर भी छद्म अर्थात् चारों घातीकर्म शेप रह जाते हैं अतः इसे **उपशान्तकषायछद्मस्थ-वीतरागगुणस्थान** भी कहते हैं। उपशान्तमोहगुणस्थानवर्ती जीव आगे बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में नहीं जा सकता। आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

(१२) **क्षीणमोहगुणस्थान**—क्षपकश्रेणीवाला जीव मोहकर्म की प्रकृतियों का क्रमशः सर्वथा क्षय करके जिस स्वरूपविशेष को प्राप्त होता है, उसे क्षीणमोहगुणस्थान कहते हैं।

कषाय एवं राग के क्षीण होने पर भी छद्म अर्थात् तीन घातीकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय) शेष रह जाते हैं अतः इसे **क्षीण-कषायछद्मस्थवीतरागगुणस्थान** भी कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की है।

(१३) **सयोगीकेवलीगुणस्थान**—मोहनीयकर्म का क्षय करके जीव इस गुणस्थान में आता है एवं आने के साथ ही तीन घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त होता है। इस अवस्था में मिथ्यात्व-अव्रत-प्रमाद-कषाय—ये चारों आस्रव नहीं रहते किन्तु योगआस्रव विद्यमान रहता है—इसलिए इसे सयोगीकेवलीगुणस्थान कहते हैं।

योग का अर्थ है प्रवृत्ति या व्यापार। उसके तीन साधन हैं—मन, वचन और काया। इसलिए योग के तीन भेद हो जाते हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान को मन का प्रयोग करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्यवज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव आदि अवधिज्ञानी शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछते हैं, उस समय केवली-भगवान उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। भगवान द्वारा मन में सोचे हुए उत्तर को मनःपर्यवज्ञानी अपने मनः-पर्यवज्ञान द्वारा जान लेते हैं और अवधिज्ञानी उस रूप में परिणत हुए मनोवर्गणा के पुद्गलों को अवधिज्ञान से देखकर मालूम कर लेते हैं। धर्म-उपदेश देने के लिए केवली-भगवान वचनयोग का उपयोग करते हैं यथा हलन-चलन आदि क्रियाओं में वे काययोग का प्रयोग करते हैं। अस्तु।

केवली-भगवान सयोगी-अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशऊन-करोड़पूर्व तक रहते हैं। इसके वाद जिन केवलियों के आयुकर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते हैं एवं वेदनीय कर्म के स्थिति और प्रदेश आयुकर्म की अपेक्षा अधिक वच जाते हैं, उनके केवल समुद्घात होता है

एवं उसके द्वारा वेदनीय कर्म के स्थिति और प्रदेश आयुकर्म के वरावर हो जाते हैं। जिन केवलियों के वेदनीय कर्म के स्थिति एवं प्रदेश आयुकर्म के वरावर होते हैं, उनके समुद्घात नहीं होता।

(१४) **अयोगीकेवलीगुणस्थान**—जव केवली-भगवान के आयुकर्म के क्षय होने का समय आता है, तव वे योगों का निरुन्धन करके इस गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। योगरहित केवलज्ञान होने से इस अवस्था को अयोगी केवलीगुणस्थान कहते हैं।

सभी केवलज्ञानी सयोगी-अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं, जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है।

योग-निरोध का क्रम—सर्वज्ञ भगवान सर्वप्रथम वादरकाययोग से वादरमनोयोग एवं वादरवचनयोग को रोकते हैं। इसके वाद सूक्ष्मकाय-योग से वादरकाययोग को रोकते हैं और फिर उसी सूक्ष्मकाययोग से क्रमशः सूक्ष्ममनोयोग तथा सूक्ष्मवचनयोग का निरोध करते हैं। अन्त में केवली-भगवान **सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति**[1] शुक्लध्यान के वल से अपने शरीर के मुख-उदर आदि पोले भाग को पूर्ण करते हुए शरीर के तीसरे भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों का संकोच करते हैं। उस समय शरीर के दो तृतीयांश भाग में उनके आत्मप्रदेश घनरूप हो जाते हैं। फिर उसी शुक्लध्यान की सहायता में सूक्ष्मकाययोग का सर्वथा निरोध करके वे अयोगी वन जाते हैं। इसके वाद केवली-भगवान **समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती**[2] शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यमरीति से पांच ह्रस्व-अक्षरों (अ. इ. ऊ. ऋ. लृ.) के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय का **शैलेशीकरण** करते हैं (सुमेरुपर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्वसंवररूपयोगनिरोध अवस्था को **शैलेशी** कहते हैं। शैलेशी अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्र-

---

१. इसका दूसरा नाम सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती भी है।

२. इसका दूसरा नाम समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति भी है।

कर्म की गुणश्रेणी से और आयुकर्म की यथास्थित श्रेणी से निर्जरा करना शैलेशीकरण है) शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगीकेवली उसके अन्तिम समय में वेदनीयादि चार भवोपग्राही (संसार में बांधकर रखने वाले) कर्मों को खपा देते हैं। चार कर्मों का क्षय होते ही ऋजुगति[1] से एक समय में सीधे ऊपर की ओर सिद्धक्षेत्र (मुक्ति) में चले जाते हैं (धुएं की तरह हल्के होने से, तुंवे की तरह निर्लेप होने से, अरण्ड वीज की तरह वन्धनमुक्त होने से तथा ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्तजीव इधर-उधर नहीं घूमते) धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे न जाकर वहीं लोक के अग्रभाग में ठहर जाते हैं एवं सदा शाश्वत सुखों का अनुभव करते हैं।

प्रश्न १४—गुणस्थानों के विषय में विशेष जानकारी दीजिए!

उत्तर—१-४-५-६-१३—ये पांच गुणस्थान लोक में शाश्वत हैं—सदा रहते हैं, शेष नौ गुणस्थान अशाश्वत हैं। परभव में जाते समय जीव के पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान रहते हैं। ३-१२-१३—ये तीन गुणस्थान अमर हैं अर्थात् इनमें जीव नहीं मरता। १-२-३-५-११—ये पांच गुणस्थान तीर्थंकर नहीं फरसते। ४-५-६-७-८—इन पांच गुणस्थानों में ही जीव तीर्थंकरगोत्र वांधता है। १२-१३-१४—ये तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं अर्थात् आने के वाद नहीं जाते। १-४-७-८-९-१०-१२-१३-१४ इन—नौ गुणस्थानों को मोक्ष जाने से पहले जीव एक या अनेक भवों में अवश्य फरसता है।[2]

प्रश्न १५—क्या अन्य दर्शनों में भी गुणस्थानों का वर्णन है?

उत्तर—प्रतिपादनशैली के भेद से भारत के प्रायः सभी दर्शनों ने जीव

---

१. ऋजुगति-वक्रगति का वर्णन लोकप्रकाश, पुञ्ज ७, प्रश्न १९ में किया गया है।

२. कर्म. भा. २ तथा ४. प्रवचन. द्वार २२४ गा. १३०२, प्रवचन. द्वार ८९-९० गा. ६९४-७०८ तथा १४ गुणस्थान का थोकड़ा।

के विकासक्रम को माना है। वैदिक दर्शन के अन्तर्गत योगदर्शन में महर्षि **पतञ्जलि** ने मोक्षसाधन के रूप में योग का वर्णन किया है। योग का अर्थ है आध्यात्मिकविकासक्रम की भूमिकाएं। योग का जहां से प्रारम्भ होता है, वह आत्मविकास की पहली भूमिका है। योग की पूर्णता के साथ ही आत्मविकास भी पूर्ण हो जाता है। योग प्रारम्भ होने से पहले की अवस्था आध्यात्मिक-अविकास की अवस्था है।

योगभाष्यकार-महर्षि **व्यास** ने चित्त की पांच भूमियां बताई हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध। इन पांचों में पहली दो अर्थात् क्षिप्त और मूढ़ अविकास की अवस्थाएं हैं। तीसरी विक्षिप्त भूमिका अविकास और विकास का सम्मेलन है, किन्तु उसमें विकास की अपेक्षा अविकास का बल अधिक है। चौथी एकाग्र भूमिका में विकास का बल अधिक है। वह बढ़ता हुआ पांचवीं निरुद्ध भूमिका में पूरा हो जाता है। पांचवीं भूमिका के बाद मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

बौद्धदर्शन—बौद्धसाहित्य के मूल ग्रन्थ **पिटक** कहे जाते हैं। पिटकों में अनेक जगह आध्यात्मिकविकास के क्रम का व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन है। वहां व्यक्ति की छः स्थितियां की गई हैं—(१) अन्धपुथुज्जन, (२) कल्याणपुथुज्जन, (३) सोतापन्न, (४) सकदागामी, (५) औपपातिक, (६) अरह। पहली स्थिति आध्यात्मिक अविकास का काल है। दूसरी स्थिति में विकास थोड़ा और अविकास अधिक होता है। तीसरी से छठी तक आध्यात्मिकविकास बढ़ता जाता है। छठी स्थिति में वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसके बाद जीव निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

आजीवकदर्शन—इस दर्शन का स्वतन्त्र साहित्य और सम्प्रदाय नहीं है, तो भी इसके आध्यात्मिक विकासक्रम-सम्बन्धी विचार बौद्ध-ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। आजीवक दर्शन में आठ पेडियां मानी गई हैं—मन्दा, खिड्डा, पद्वीमंसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। इन आठों में पहली तीन अविकासकाल तथा पीछे की पांच विकासकाल की हैं। उसके

वाद मोक्ष हो जाता है।

जैनदर्शन—जैन आगामों में जो आध्यात्मिक-विकासक्रम के लिए चौदह गुणस्थान वताए गए हैं उनमें पहला अविकासकाल है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में विकास का किंचित् स्फुरण होता है लेकिन प्रवलता अविकास की ही रहती है। चौथे गुणस्थान में जीव विकास की ओर निश्चिन्त रूप से वढ़ता है यावत् चौदहवें गुणस्थान में विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और उसके वाद मोक्ष हो जाता है।

इसी प्राचीन विकासक्रम को **हरिभद्रसूरि** ने दूसरे प्रकार से लिखा है। अविकासकाल को उन्होंने आघदृष्टि तथा विकासकाल को सद्दृष्टि का नाम दिया है। सद्दृष्टि के मित्रा, तारा, वला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नाम वाले आठ विभाग हैं। इनमें विकास का क्रम उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। मित्रा आदि पहली चार दृष्टियों में विकास होने पर भी अज्ञान और मोह की प्रवलता होती है। स्थिरा आदि पिछली चार दृष्टियों में ज्ञान और चारित्र की अधिकता तथा मोह की कमी हो जाती है।

दूसरे प्रकार के वर्णन में हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास के क्रमों को योग के रूप में वर्णन किया है। योग के उन्होंने पांच भाग किए हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिक्षय।

ये दोनों प्रकार के विचार प्राचीन जैन गुणस्थान के विचारों का नवीन पद्धति से वर्णन मात्र हैं।

प्रश्न १६—आठवें गुणस्थान में वर्णित उपसमश्रेणी-क्षपकश्रेणी क्या हैं ?

उत्तर—दोनों श्रेणियों का विवेचन इस प्रकार है :

उपशमश्रेणी[1]—आत्मविकास की ओर अग्रगामी जीवों के मोह

---

१. कर्मग्रन्थ, दूसरा भाग; विशेषावश्यक-भाष्य; गाथा १२८४, द्रव्यलोकप्रकाश; तीसरा सर्ग, श्लोक ११९९ से १२१५; आवश्यक मलयगिरि गाथा, ११६ से १२०, अर्द्ध मागधी कोश, दूसरा भाग तथा प्रवचन सारोद्धार द्वार ९०, गा. ७००-८।

उपशम करने के क्रम को **उपशमश्रेणी** कहते हैं।

उपशमश्रेणी का आरम्भ इस प्रकार है—उपशमश्रेणी को अंगीकार करनेवाला जीव प्रशस्त अध्यवसायों में रहा हुआ पहले एक साथ अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में अनन्तानुवन्धी कषायों को उपशान्त करता है। इसके वाद अन्तर्मुहूर्त्त में एक साथ दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियों का उपशम करता है। फिर छठे और सातवें गुणस्थान में कई वार आने-जाने के वाद वह जीव आठवें गुणस्थान में आता है। आठवें गुणस्थान में पहुंचकर श्रेणी का आरम्भक यदि पुरुष हो तो अनुदीर्ण नपुंसक वेद का उपशम करता है और फिर स्त्रीवेद को दवाता है। इसके वाद हास्यादि छः[1] नोकषायों का उपशम कर पुरुष वेद का उपशम करता है। (यदि उपशमश्रेणी करनेवाली स्त्री हो तो वह क्रमशः नपुंसकवेद, पुरुषवेद, हास्यादि छः एवं स्त्रीवेद का उपशम करती है। उपशमश्रेणी करनेवाला यदि नपुंसक हो तो वह क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्यादि छः और नपुंसक वेद का उपशम करता है।) इसके वाद अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन के क्रोध, मान और माया—इन सव प्रकृतियों को उपशमाता है और अन्त में संज्वलन लोभ का उपशम शुरू करता है। उसमें सवसे पहले आत्मा संज्वलन लोभ के तीन भाग करता है। उनमें से दो भागों का एक साथ उपशम करके तीसरे भाग के पुनः संख्यात खण्ड करता है और उनका पृथक्-पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न काल में उपशम करता है। संख्यात खण्डों में से जव अन्तिम खण्ड शेष रह जाता है, तव आत्मा उसे फिर असंख्यात खण्डों में विभाजित करता है और क्रमशः एक-एक समय में एक-एक खण्ड का उपशम करता है। इस प्रकार वह आत्मा मोह की सभी प्रकृतियों का उपशम कर देता है।

अनन्तानुवन्धी कषाय और दर्शनमोह की सात प्रकृतियों का उपशम करने पर जीव अपूर्वकरण (निवृत्तिवादर) नामक आठवें गुणस्थान

---

1. १-हास्य, २-रति, ३-अरति, ४-भय, ५-शोक, ६-जुगुप्सा।

वाला होता है। आठवें गुणस्थान से जीव अनिवृत्तिवादर नामक नवें गुणस्थान में आता है। वहां रहा हुआ वह संज्वलन लोभ के तीसरे भाग के अन्तिम संख्यातवे खण्ड के सिवा मोह की शेष सभी प्रकृतियों का उपशम करता है और दसवें सूक्ष्म संपरायगुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में जीव उक्त संज्वलन के लोभ के अन्तिम संख्यातवें खण्ड के असंख्यातखण्ड कर उनको उपशान्त कर देता है और मोह की सभी प्रकृतियों का उपशम कर ग्यारहवें उपशान्तमोहगुणस्थान में पहुंच जाता है।

उक्त प्रकृतियों का उपशमकाल सर्वत्र अन्तमुहूर्त है एवं सारी श्रेणी का काल परिमाण असंख्यात लघु अन्तर्मुहूर्त-परिमाणवाला एक वड़ा अन्तर्मुहूर्त है।

उपशमश्रेणी करने वाला यदि ग्यारहवें गुणस्थान में काल कर जाता है, तो निश्चितरूप से अनुत्तरविमान-स्वर्ग में जाता है अर्थात् चौथे गुणस्थानवाला अविरतसम्यग्दृष्टि देवता वनता है। यदि उसका आयुष्य लम्वा होता है तो गुणस्थान का समय पूर्ण होने के वाद वह आरोहक्रम से नीचे गिरता है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ते समय उस जीव ने जिन-जिन गुणस्थानों को जिस क्रम से प्राप्त किया था, या जिन क्रमप्रकृतियों को जिस क्रम से उपशान्त किया था, गिरते समय वे सव प्रकृतियाँ उसी क्रम से उदय में आ जाती हैं। इस प्रकार नीचे गिरने वाला जीव कोई छठे गुणस्थान तक आता है, कोई पांचवें, कोई चौथे और कोई दूसरे में होकर पहले गुणस्थान में पहुंच जाता है अर्थात् सम्यक्त्व को खोकर मिथ्यादृष्टि वन जाता है। (कई आचार्यों के मतानुसार उपशमश्रेणी की समाप्ति करके वापस लौटा हुआ जीव अप्रमत्त या प्रमत्त गुणस्थान में रहता है।)

उपशमश्रेणी का आरम्भ कौन करता है? इस विषय में कई आचार्यों का कहना है कि अप्रमत्त संयत उपशमश्रेणी का आरम्भ करता है एवं कई आचार्यों का यह कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसाधु और

अप्रमत्तसाधु, इनमें से कोई भी इस श्रेणी को कर सकता है।

उपशमश्रेणी एक भव में उत्कृष्ट दो वार एवं अनेक भवों की अपेक्षा चार वार की जा सकती है। उपशमश्रेणी करने के वाद जीव उस भव में क्षपकश्रेणी नहीं करता[1]। उपशमश्रेणी करनेवाले जीव के उत्कृष्ट तीन भव माने गए हैं।

क्षपकश्रेणी[2]—आत्मविकास की ओर अग्रगामी जीवों के सर्वथा मोह को निर्मूल करने के क्रमविशेप को क्षपकश्रेणी कहते हैं। क्षपकश्रेणी में मोहक्षय का क्रम यह है—

सर्वप्रथम आत्मा अनन्तानुवन्धिकपाय-चतुष्ट्य का एक साथ क्षय करता है। इसके वाद अनन्तानुवन्धीकपाय के अवशिष्ट अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डालकर दोनों का एक साथ क्षय करता है। इसी तरह सम्यग् मिथ्यात्व और वाद में सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय करता है। जिस जीव ने आयु वांध रखी है, वह यदि इस श्रेणी को स्वीकार करता है तो अपना अनन्तवां भाग मिथ्यात्व में छोड़कर अनन्तानुवन्धी का क्षय करके रुक जाता है। जव कभी मिथ्यात्व का उदय होने पर यह अनन्तानुवन्धीकपाय को वांधता है, क्योंकि अभी उसके वीजरूप मिथ्यात्व का नाश नहीं हुआ है। यदि मिथ्यात्व का भी क्षय कर चुका हो तो वह अनन्तानुवन्धीकपाय को नहीं वांधता। अनन्तानुवन्धीकपाय के क्षीण होने पर शुभ परिणाम से गिरे विना ही वह जीव मर जाय तो देवलोक में जाता है। इसी प्रकार दर्शनसप्तक (अनन्तानुवन्धीकपाय-चतुष्ट्य और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियां) के क्षीण होने पर वह देवलोक में जाता है। यदि परिणाम

---

१. कर्मग्रन्थ का मत है कि एक वार जिस जीव ने उपशमश्रेणी की है, वह जीव उसी जन्म में क्षपकश्रेणी कर मुक्त हो सकता है किन्तु जिसने एक भव में दो वार उपशमश्रेणी की है, वह उसी भव में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकता।

२. विशेपावश्यक. भा. गा. १३१३, द्रव्यलोक प्रकाश, तीसरा सर्ग श्लोक १२१८ से १२३४ तक; कर्मग्रन्थ, दूसरा भाग, भूमिका; आवश्यक-मलयगिरि गाथा ११६-२३; अर्धमागधीकोश, भाग दूसरा (खवर्ग), प्रवचनसारोद्धार ८६ गा. ६९४-९९।

गिर जाय और उसके वाद वह जीव काल करे तो परिणामानुसार शुभाशुभ गति में जाता है। जिस जीव ने आयु वांध रखी है, वह जीव अनन्तानुवन्ध का क्षय कर दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का भी क्षय कर दे तो इसके वाद वह अवश्य विश्राम लेता है और जहां की आयु वांध रखी है वहां उत्पन्न होता है। जिसने आयु नहीं वांध रखी है, ऐसा जीव यदि इस श्रेणी को आरम्भ करे तो वह इसे समाप्त किए विना विश्राम नहीं लेता। दर्शन सप्तक का क्षय करने के वाद जीव नरक, तिर्यञ्च और देव आयु का क्षय करता है। इसके वाद अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठों प्रकृतियों का एक साथ क्षय करना शुरू करता है। इन आठों का पूरी तरह से क्षय करने नहीं पाता कि वह सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। सोलह प्रकृतियां ये हैं :

(१) नरकानुपूर्वी, (२) तिर्यञ्चानुपूर्वी, (३) नरकगति, (४) तिर्यञ्च गति, (५) एकेन्द्रिय जाति, (६) द्वीन्द्रिय जाति, (७) त्रीन्द्रिय जाति, (८) चतुरिन्द्रिय जाति, (९) आतप, (१०) उद्योत, (११) स्थावर, (१२) साधारण, (१३) सूक्ष्म, (१४) निद्रानिद्रा, (१५) प्रचलाप्रचला, (१६) स्त्यानगृद्धि निद्रा।

इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर जीव अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठों प्रकृतियों के अवशिष्ट अंश का क्षय करता है। फिर क्षपकश्रेणी का कर्त्ता यदि पुरुष हो तो वह क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि षट्क का क्षय करता है। इसके वाद पुरुषवेद के तीन खण्ड करता है। इन तीन खण्डों में से प्रथम दो खण्डों का एक साथ क्षय करता है और तीसरे खण्ड को संज्वलन क्रोध में डाल देता है। (नपुंसक या स्त्री यदि श्रेणी करने वाले हों तो वे अपने-अपने वेद का क्षय तो अन्त में करते हैं और शेष दो वेदों में से अधम वेद का प्रथम और दूसरे का उसके वाद क्षय करते हैं, जैसाकि उपशम श्रेणी में वताया जा चुका है।) इसके वाद वह आत्मा संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ में से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् क्षय करता है। पुरुषवेद की तरह इनके भी प्रत्येक के तीन-तीन खंड

किए जाते हैं और तीसरा खण्ड आगे वाली प्रकृतियों के खण्डों में मिलाया जाता है। जैसे—क्रोध का तीसरा खण्ड मान में, मान का तीसरा खण्ड माया में और माया का तीसरा खण्ड लोभ में मिलाया जाता है। लोभ के तीसरे खण्ड के संख्यात खण्ड करके एक-एक को श्रेणीवर्ती जीव भिन्न-भिन्न काल में क्षय करता है। इन संख्यात खण्डों में से अन्तिम खण्ड के जीव पुनः असंख्यात खण्ड करता है और प्रतिसमय एक-एक का क्षय करता है।

यहां पर सर्वत्र प्रकृतियों का क्षपणकाल अन्तमुंहूर्त्त जानना चाहिए। सारी श्रेणी का काल-परिमाण भी असंख्यात लघु अन्तमुंहूर्त्त परिमाण एक वड़ा अन्तमुंहूर्त्त जानना चाहिए।

इस श्रेणी का आरम्भ करने वाला जीव उत्तम संहनन वाला होता है तथा उसकी अवस्था आठ वर्ष से अधिक होती है। अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, गुणस्थानवर्ती जीवों में से कोई भी विशुद्ध परिमाणवाला जीव इस श्रेणी को कर सकता है। पूर्वधर, अप्रमादी और शुक्ल ध्यान से युक्त होकर इस श्रेणी को शुरू करते हैं।

दर्शनसप्तक का क्षय कर जीव आठवें गुणस्थान में आता है। इसके वाद संज्वलन लोभ के संख्यातवें खण्ड तक का क्षय जीव नवें गुणस्थान में करता है और शेष खण्ड के असंख्यात खण्डों का क्षय दसवें गुणस्थान में करता है। इस प्रकार मोहकर्म की २८ प्रकृतियों का क्षय करके ग्यारहवें गुणस्थान का अतिक्रमण (उल्लंघन) करता हुआ जीव वारहवें क्षीणमोह-गुणस्थान में पहुंचता है।

प्रश्न १७—पिछले वर्णन से यह मालूम हुआ कि क्रमशः विकास करती हुई आत्मा परमात्मा वन जाती है अतः आत्मा का स्वरूप समझाइए !

उत्तर—जो लगातार दूसरी-दूसरी स्व-पर पर्यायों को प्राप्त करती रहती है, वह आत्मा है। **अथवा** जिसमें उपयोग अर्थात् वोधरूप व्यापार

पाया जाय, वह आत्मा है। आत्मा का लक्षण-स्वरूप उपयोग है।

उपयोग की अपेक्षा यद्यपि आत्मा एक ही है किन्तु विशिष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मानकर सामान्यतया आत्मा के आठ भेद किए गए हैं[1]—

(१) **द्रव्यआत्मा**—त्रिकालदर्शी असंख्यातप्रदेशरूप-द्रव्य द्रव्यात्मा है। आत्मा के असंख्य प्रदेश विभाजित नहीं किए जा सकते। आत्मा के असंख्य प्रदेश लोकाकाश-प्रदेश के बराबर हैं। द्रव्यात्मा सभी जीवों के होती है।

(२) **कषायआत्मा**—क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय में परिणत आत्मा कषायआत्मा है। यह आत्मा की दोषयुक्त अवस्था है। दसवें गुण-स्थान तक के सभी जीवों में इसकी उपलब्धि है।

(३) **योगआत्मा**—मन-वचन-काया की प्रवृत्ति-चंचलता में परिणत आत्मा योगआत्मा है। तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों में यह आत्मा होती है क्योंकि वे योगयुक्त हैं।

(४) **उपयोगआत्मा**—ज्ञान-दर्शन रूप चेतना के व्यापार को उपयोग कहते हैं—यह आत्मा का लक्षण है। इसमें जो आत्मा का परिणमन होता है, वह उपयोगआत्मा है। यह आत्मा सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि यावत् सिद्ध भगवान में भी होती है क्योंकि उपयोग विना कोई जीव होता ही नहीं।

(५) **ज्ञानआत्मा**—विशेष अनुभव रूप सम्यग्ज्ञान में जीव का परिणमन होना ज्ञानआत्मा है। यह आत्मा केवल सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है।

(६) **दर्शनआत्मा**—दर्शन का अर्थ रुचि-श्रद्धा है। जीवादि तत्त्वों पर आत्मा की यथार्थ-अयथार्थ श्रद्धा होना दर्शनआत्मा है। यह सब संसारी-जीवों के होती है।

(७) **चारित्रआत्मा**—सर्वविरति या देशविरति रूपचारित्र में आत्मा

---

१. उत्तरा. २८।१०, भगवती. १२।१०।४६७ तथा स्था. १।१

का स्थिर होना चारित्रआत्मा है। सर्वविरतिरूप चारित्रआत्मा केवल साधुओं में होती है एवं देशविरति रूप चारित्रआत्मा श्रावकों में होती है।

(८) **वीर्यआत्मा**—आत्मा की शक्ति को वीर्य कहते हैं। वीर्य दो प्रकार का है—लब्धिवीर्य और करणवीर्य। शक्ति की लब्धि-प्राप्ति **लब्धि-वीर्य** है एवं उत्थानादि में आत्मा की प्रवृत्ति होना करणवीर्य है। वह मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप होता है। अतः उसका समावेश योगआत्मा में किया गया है। योगरूप होने से करणवीर्य केवल संसारी जीवों में उपलब्ध है, सिद्धों में नहीं।

उपयोग स्वरूप असंख्य प्रदेशात्मक आत्मा एक ही द्रव्य भाव के भेद से आत्मा दो हैं। असंख्य प्रदेशात्मकद्रव्य द्रव्यात्मा है एवं कपायआदि अवस्थाओं में वर्तमान आत्मा **भावआत्मा** है।

ऊपर जो आठ आत्माएं कहीं हैं, उनमें एक द्रव्यआत्मा है और शेप सात भावात्माएं हैं—आत्मा की अवस्था विशेष है। ये सात भेद संक्षिप्त रूप से किए गए हैं, विस्तार से इनके अनेक भेद हो सकते हैं। जैसे—कपायआत्मा के—क्रोध कषायआत्मा आदि। दर्शन-आत्मा के सम्यग्-दर्शनआत्मा; आदि चरित्रआत्मा के सामायिकचारित्रआत्मा आदि एवं वीर्यआत्मा के वालवीर्यआत्मा आदि।

किस जीव में कितनी आत्माएं ?—नारकी-देवता विकलेन्द्रिय एवं तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीवों में उपरोक्त आठ आत्माओं में से सात होती हैं, चारित्रआत्मा नहीं होती। मनुष्यों में आठों होती हैं। एकेन्द्रिय जीवों में (ज्ञान-चारित्र के सिवा) छः होती हैं। सिद्ध भगवान में चार आत्माएं होती हैं—द्रव्य, उपयोग, ज्ञान एवं दर्शन।

अपेक्षा-भेद से तीन आत्माएं भी कही हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[१]

(१) जिस जीव को सम्यग्ज्ञान के न होने से मोहवश शरीरादि—

---

१. परमात्मप्रकाश, गाथा १३-१४-१५

वाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि हो कि **यह मैं ही हूं—इनसे भिन्न नहीं हूं**, इस प्रकार आत्मा को देह के साथ जोड़नेवाला अज्ञानी **बहिरात्मा** है।

(२) जो जीव वाह्यभावों को पृथक् करके शरीर से भिन्न, शुद्धज्ञान स्वरूप आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करता है, वह आत्मज्ञानी **अन्तरात्मा** है।

(३) सकल कर्मों का नाश करके जिस आत्मा ने अपना शुद्धज्ञान-स्वरूप प्राप्त कर लिया है एवं वीतरागपद पाकर कृतकृत्य हो गया है, वह **परमात्मा** है।

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अनुयोगद्वारसूत्र तथा टीका
अन्तकृद्दशाङ्गसूत्र
अमरीका की 'रीड' पत्रिका
आचाराङ्गसूत्र तथा टीका
आतुरप्रत्याख्यान
आपका व्यक्तित्व
आराधना
आवश्यकसूत्र, टीका तथा निर्युक्ति
उत्तराध्ययनसूत्र, टीका तथा निर्युक्ति
उपदेशप्रासाद
उपदेशमाला
औपपातिकसूत्र तथा टीका
कर्त्तव्यकौमुदी
कर्मग्रन्थ, टीका तथा हिन्दी अनुवाद
कर्मप्रकृति—टीका सहित
कल्पसूत्र तथा टीका
गच्छाचार-प्रकीर्णक
चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र तथा टीका

चाणक्यनीति
चारित्रप्रकाश
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र तथा टीका
जीव-अजीव
जीवाभिगमसूत्र तथा टीका
जैनसिद्धान्तदीपिका
ज्ञाता-धर्मकथा टीका-सहित
ज्ञानप्रकाश
ज्ञानार्णव
झीणीचर्चा
टीकमडोसी की चर्चा
तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थ-राजवार्तिक
तत्त्वार्थवार्तिक
तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि
तत्त्वार्थसूत्र-सभाष्य
तत्त्वार्थसूत्रसार
तेरह द्वार
तैत्तिरीयोपनिषद्
दशवैकालिकसूत्र, टीका तथा निर्युक्ति
दशाश्रुतस्कन्ध एवं भाषान्तर
दर्शनशुद्धि
द्रव्यलोकप्रकाश—गुजराती अनुवादसहित
द्रव्यसंग्रह
द्वादशानुप्रेक्षा
ध्यानाष्टक
नवतत्त्वसंग्रह

नवतत्त्व-स्तवन
नवनीत
नवपदप्रकरण-वृहद्वृत्ति मूल तथा टीका
नव पदार्थ
नवभारत टाइम्स
निशीथसूत्र
परमात्मप्रकाश
पञ्चसंग्रह एवं टीका
पञ्चास्तिकाय-अमृतचन्द्रीय टीका
पांचइन्द्रिय ओलखावणरीढाल
पिराडनिर्युक्ति, मूल एवं टीका
प्रज्ञापनासूत्र एवं टीका
प्रवचनसारोद्धार
प्रशमरतिप्रकरण
प्रश्नव्याकरणसूत्र
प्रायश्चित्तविधि
वावन वोल
वृहत्कल्पसूत्र, निर्युक्ति, भाष्य एवं वृत्ति
वृहद्द्रव्यसंग्रह-टीका सहित
भगवतीसूत्र—टीकासहित
मनुस्मृति
मरणसमाधि—प्रकीर्णक
योगशास्त्र
योगसार
राजप्रश्नीयसूत्र एवं टीका
लोकप्रकाश
वाल्मीकिरामायण

विज्ञान के नये आविष्कार
विपाकसूत्र एवं टीका
विवेकविलास
विशेषावश्यकभाष्य—मूल एवं टीका
विश्वदर्पण
व्यवहारसूत्र
श्राद्धविधि
श्रावकधर्मप्रकाश
श्रावकप्रायश्चित्तविधि
समयसार
समवायाङ्गसूत्र तथा टीका
सम्मतितर्कप्रकरण
सूत्रकृताङ्गसूत्र तथा टीका
स्थानाङ्गसूत्र तथा टीका
हरिभद्रीयावश्यक
हरिभद्रीयाष्टक
हितोपदेश
हिन्दुस्तान